श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

(बृहद्वृत्ति-लघुन्यास सहित)

तृतीयो भाग:

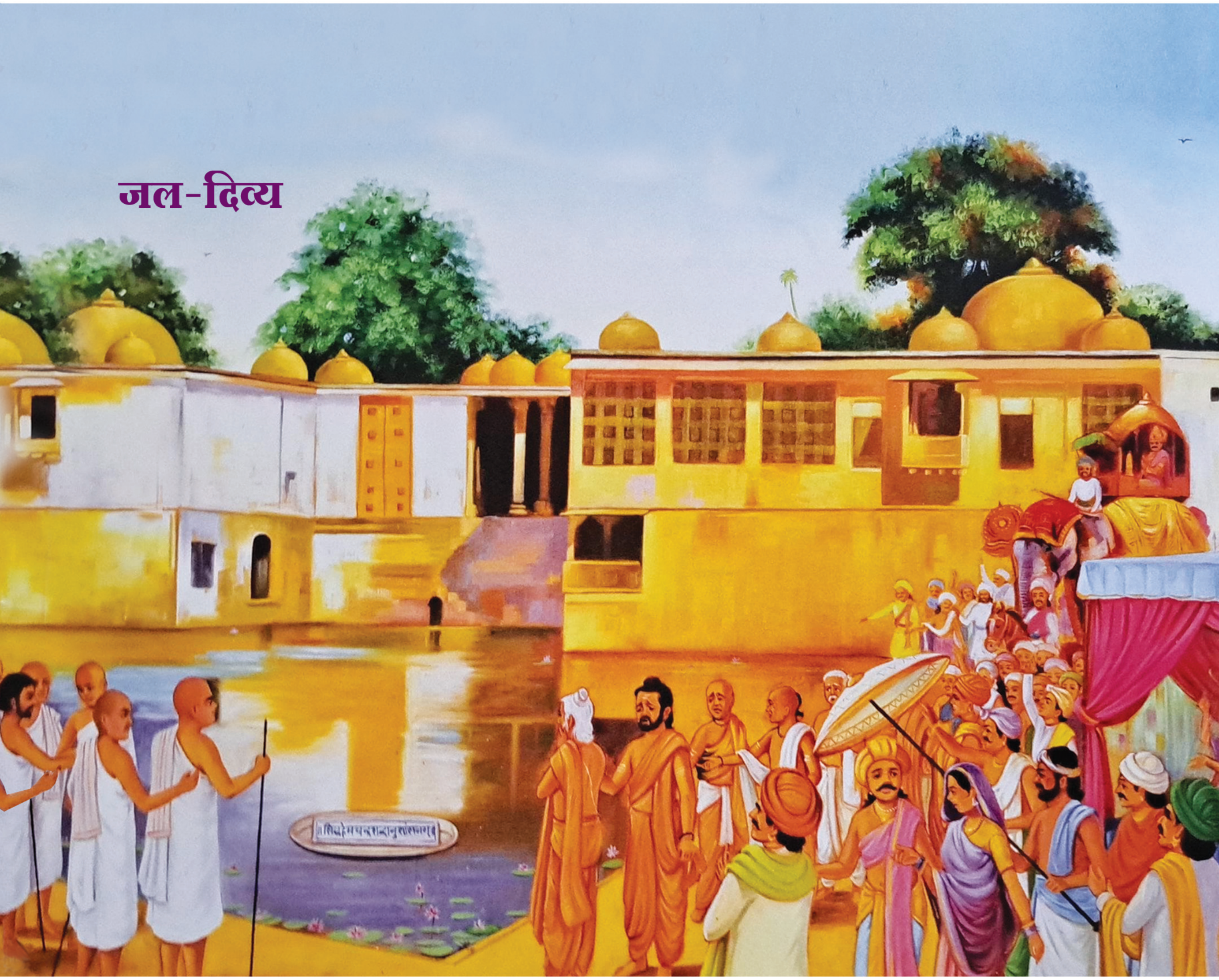

-: संपादक :-

आचार्यदेव रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि प्रणीतं

श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

[स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति एवं श्री कनकप्रभमनीषी विरचित
न्याससार-समुद्धार (लघुन्यास) सहितम्]

तृतीयो भागः

-: संपादक :-

दीक्षा युग प्रवर्तक, परमशासन प्रभावक पूज्यपाद आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के तेजस्वी शिष्यरत्न
बीसवीं सदी के महान्योगी, भावाचार्य तुल्य पूज्यपाद
पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य श्री के
चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर
पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

258

卐 प्रकाशन 卐

दिव्य सन्देश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor,
बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे,
डॉ.एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

आवृत्ति : द्वितीय • **मूल्य :** 900/- रुपये • **प्रतियाँ :** 300
विमोचन दिनांक और स्थल : दि. 20-7-2025 • उदयपुर (राजस्थान)

प्रताकार में आद्य संपादक : विद्वद्वर्य पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय **उदयसूरीश्वरजी म.सा.**

पुस्तकाकार में प्रथम आवृत्ति संपादक : विद्वद्वर्य **पू.पं. श्री वज्रसेनविजयजी म.सा.** एवं **पू.मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.**

पुस्तकाकार में द्वितीय आवृत्ति संपादक : मरुधर रत्न **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 4000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य, जैन इतिहास, जैन तत्त्वज्ञान, जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप **दिव्य संदेश प्रकाशन** मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 7 पुस्तकें दी जाएंगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तकें एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोड़कर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 4000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डिंग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Mobile : 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा,
बैंगलोर-560 004. M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से...

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने गुजरात के सम्राट् **सिद्धराज** की हार्दिक विनती का स्वीकार कर **``सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्''** नाम के संस्कृत व्याकरण की रचना की थी ।

इस व्याकरण के ऊपर हेमचन्द्रसूरिजी म. ने 6000 श्लोक प्रमाण लघुवृत्ति, 18000 श्लोक प्रमाण बृहद्‌वृत्ति तथा 84000 श्लोक प्रमाण बृहन्न्यास की रचना की थी । वर्तमान में लघुवृत्ति एवं बृहद्‌वृत्ति तो पूर्ण रुप से उपलब्ध है परन्तु बृहन्न्यास आंशिक रुप से उपलब्ध है । परंतु उसी बृहन्न्यास के आधार पर चांद्रगच्छीय देवेन्द्रसूरिजी म. के शिष्य आचार्य श्री कनकप्रभसूरिजी म. ने लघुन्यास की रचना की थी जो वर्तमान मे पूर्णरुप से विद्यमान है ।

इस बृहद्‌वृत्ति व लघुन्यास का प्रताकार रुप में प्रथम मुद्रण वि.सं. 1962 में विद्वद्वर्य पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय उदयसूरिजी म. ने करवाया था ।

उसके ठीक 80 वर्ष बाद वि.सं. 2042 में पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म. एवं **पू.मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.** ने इस ग्रंथ का संपादन किया था ।

आज उस ग्रंथ की प्रतियाँ अप्राप्त हो गई है और वे प्रतियाँ जीर्ण भी हो गई है ।

उन ग्रंथों की वर्तमान स्थिति को देख मरुधररत्न **पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** के दिल में उन ग्रंथों के पुनः संपादन की भावना जागृति हुई । प्रवचन, लेखन व संघ शासन की अनेकविध जवाबदारियों के बीच भी पूज्यश्री ने इस ग्रंथ का पुनः संपादन कर पूर्व प्रकाशन में रही भूलों का परिमार्जन किया है ।

पूर्व प्रकाशित ग्रंथों में कंपोजिंग पद्धति से Type Setting किया जाता था, अतः कई बार कई अक्षर टूट जाते थें, इस कारण भी मुद्रण में कई अशुद्धियाँ रह जाती थीं ।

इस बार कम्प्यूटर Type Setting कराया गया और टिकाऊ कागजों पर स्वच्छ मुद्रण किया गया है ।

पूर्व में तीन भागों में प्रकाशित इन ग्रंथों को इस बार चार भागों में विभक्त किया है। परम शासन प्रभावक, दीक्षा युग प्रवर्तक **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की 34वीं पुण्यतिथि** असाढ वदी-14, दि. 23-7-2025 के शुभ दिन उन चार भागों का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है।

हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर पाठक गण संस्कृत व्याकरण का सत्य बोध प्राप्त कर सकेंगें।

तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए संस्कृत भाषा का बोध खूब जरुरी है।

भाषा बोध के साधनरुप इन ग्रंथों के स्वाध्याय के बल से पूर्वाचार्य विरचित तत्त्वज्ञान के अमूल्य खजाने को प्राप्त कर सकते है।

बस, सभी आत्माएं संस्कृत भाषा में प्रवीणता प्राप्त कर उसके माध्यम से वीतराग कथित तत्त्वज्ञान का सम्यग्बोध प्राप्त कर अपने जीवन को सफल व सार्थक बनाएं, इसी मंगल कामना के साथ।

आभार-दर्शन

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी विरचित

''सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासनम्''

(स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति एवं साहित्य मनीषी कनकप्रभसूरि विरचित न्याससार समुद्धार-लघुन्यास सहितम्) के तृतीय भाग के प्रकाशन में

श्री जिरावला पार्श्वनाथ जैन संघ अरठवाड़ा-जिला सिरोही (राज.)

एवं वि.सं. 2080 में पोसालिया (राज.) में चातुर्मास विराजमान

पू.सा. श्री समर्पणलीनाश्रीजी म. की निश्रा में बहिनों के प्रतिक्रमण दरम्यान हुई ज्ञानखाते की आय में से सुंदर सहयोग प्राप्त हुआ हैं।

इसके लिए हम उनके खूब आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में ज्ञानखाते की रकम का उपयोग हुआ है, अत: कोई भी सद्गृहस्थ उसका मूल्य ज्ञानखाते में जमा कराकर उसकी मालिकी रख सकते है।

–: निवेदक :–

दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई

Introduction

संपादक का संक्षिप्त-जीवन परिचय

गृहस्थ नाम	: राजु (राजमल चोपड़ा)
माता का नाम	: चंपाबाई
पिता का नाम	: छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा
जन्मभूमि	: बाली (राज.)
जन्म तिथि	: भादो सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-1958
बचपन में धार्मिक अभ्यास	: पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि
ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार	: 18 जून 1974
व्यावहारिक अभ्यास	: 1st year B.Com. (पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.)
दीक्षा दाता	: पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य
गुरुदेव	: अध्यात्मयोगी पू. पंन्यास **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
दीक्षा दिन	: माघ शुक्ला 13, संवत् 2033 दि. 2-2-1977
समुदाय	: शासन प्रभावक पू.आ. **श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**
दीक्षा दिन विशेषता	: भारत भर में लगभग 50 ऊपर दीक्षाएँ
108 मुमुक्षु वरघोड़ा	: 9 जनवरी 1977, मुंबई
दीक्षा स्थल	: न्याति नोहरा-बाली राज.
दीक्षा समय उम्र	: 18 वर्ष
बड़ी दीक्षा	: फाल्गुन शुक्ला 12, संवत् 2033
बड़ी दीक्षा स्थल	: घाणेराव (राज.)
प्रथम चातुर्मास	: संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में ।

- **अभ्यास :** प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि ।

- **भाषा बोध :** हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि ।
- **प्रथम प्रवचन प्रारंभ :** फागुन सुदी 14, संवत् 2034 पाटण (गुजरात) ।
- **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ :** बाली संवत् 2038 ।
- **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक तामिलनाडू आदि ।
- **पादविहार :** लगभग 49,000 कि.मी. ।
- **अंजन शलाका एवं प्रतिष्ठायें :** मंड्या (कर्णाटक) वलवण, कामसेट, भायंदर (महा.) राजपुरा, भोपाल सागर, राजसमंद आदि में अंजनशलाका प्रतिष्ठा, जयपुर (राज.), बेंगलोर में 3 गृह जिनालय, पूना तथा कोयम्बत्तुर में एक-एक गृह जिनालय ।
- **(छ'री पालित संघ में मार्गदर्शन-प्रवचन) :** बरलूट से शत्रुंजय, गोदन से जैसलमेर, वल्लभीपुर से पालीताणा, लुणावा से राणकपुर पंचतीर्थी ।
- **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय होकर गिरनार, शत्रुंजय बारह गाऊ, सेवाडी से राणकपूर पंचतीर्थी, बेंगलोर से सुशीलधाम कोयम्बत्तूर से अव्वलपुंदरी ।
- **प्रथम पुस्तक आलेखन :** ''**वात्सल्य के महासागर**'' वि.सं.संवत् 2038 ।
- **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** 259 ।
- **शिष्य-प्रशिष्य : स्व. मु. श्री उदयरत्नविजयजी म.,**
  स्व. मुनि श्री केवलरत्नविजयजी म., स्व. मुनि श्री कीर्तिरत्नविजयजी म.,
  मुनि श्री प्रशांतरत्नविजयजी म., मुनि श्री शालिभद्रविजयजी म.,
  मुनि श्री स्थूलभद्रविजयजी म., स्व. मुनि श्री यशोभद्रविजयजी म.,
  मुनि श्री विमलपुण्यविजयजी म., मुनि श्री निर्वाणभद्रविजयजी म.
  मुनि श्री महापुण्यविजयजी म., मुनि श्री पुण्यबलविजयजी म.
- **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, येरवडा, आदीश्वर धाम (दो), कर्जत, विक्रोली, मोहना, पालीताणा (दो बार), सेसली, कीर्तिस्तंभ (घाणेराव), नासिक, सुशीलधाम (बेंगलोर), मैसूर, महावीर धाम (मुंबई), लोढा धाम, सुखधाम (राज.) ।
- **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, विक्रम संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना ।
- **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, विक्रम संवत् 2061,
  दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई ।
- **आचार्य पदवी :** पोष वदी-1, विक्रम संवत् 2067, दि.20-1-2011 थाणा ।

॥ अर्हम् ॥

संपादक की कलम से...

आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

अनंतज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवंतोंने ज्ञान के पाँच भेद बतलाए हैं—(1) मतिज्ञान, (2) श्रुतज्ञान, (3) अवधिज्ञान, (4) मन: पर्यवज्ञान और (5) केवलज्ञान ।

❖ इन पाँच ज्ञानों में मति और श्रुतज्ञान आत्म-परोक्ष हैं और अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष है ।

❖ छद्मस्थ आत्मा को इन पाँचों ज्ञानों में से चार ज्ञान संभव / शक्य हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति एकमात्र वीतराग आत्मा को ही होती है ।

❖ इन पाँच ज्ञानों में से प्रथम चार ज्ञान का विषय मर्यादित / सीमित है, जबकि केवलज्ञान का विषय अनंत है। केवलज्ञान के द्वारा आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों के समस्त पर्यायों को साक्षात् जान सकती है ।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में एकमात्र **'श्रुतज्ञान'** की ही अभिव्यक्ति हो सकती है, शेष चार ज्ञान मूक हैं ।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में परोपकार में समर्थ एकमात्र **'श्रुतज्ञान'** ही है शेष चार ज्ञान स्वोपकार प्रधान है ।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में से एकमात्र श्रुतज्ञान का ही आदान-प्रदान हो सकता है, शेष चार ज्ञानों का नहीं ।

जैनशासन का लोकोत्तर-व्यवहार मार्ग 'श्रुतज्ञान' के ऊपर ही अवलंबित है और इस व्यवहार का पालन तीर्थंकर परमात्मा और अन्य केवली भगवंत भी करते हैं ।

❖ तीर्थंकर परमात्मा भी समवसरण में बैठकर देशना के प्रारम्भ में **'नमो तित्थस्स'** कहकर द्वादशांगी रूप **'श्रुतज्ञान'** को नमस्कार करते हैं ।

❖ तीर्थंकर परमात्मा भी केवलज्ञान द्वारा दृष्ट जगत् के भावों का निरूपण **'द्रव्य-श्रुत'** के माध्यम से ही करते है। इसीलिए प्रभु की वाणी **'सम्यग्श्रुत'** स्वरूप है ।

❖ जैनागमों में **'नमो बंभीलिवीए'** कहकर श्रुत की जननी-स्वरूप ब्राह्मी-लिपि को भी नमस्कार किया गया है ।

❖ 'श्रुत' के सम्यग् बोध के लिए और द्वितीय महाव्रत के पालन / रक्षण व संवर्धन के लिए व्याकरण का सम्यग्बोध अत्यंत ही जरूरी है ।

'प्रश्नव्याकरण' रूप दसवें अंग में कहा गया है—

अह केरिसयं पुणाइ सच्चं भासिअव्वं ?
जं तं दव्वेहिं पज्जवेहिं य गुणेहिं कम्मेहिं बहुविहेहिं

सिप्पेहिं आगमेहिं य नामक्खायनिवायउवसग्ग-तद्धिअ-समास-संधि-पदहेतु-जोगिय-उणाइ-किरिआविहाण-धातु-सर-विभत्ति-वण्णजुत्तं तिकल्लं दसविहं सच्चं....वत्तव्वं । (सूत्र 24)

अर्थ :– हे भगवंत ! किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिये ?

(भगवान–) जो द्रव्य, पर्याय, गुण, कर्म, बहुविधशिल्प तथा आगम से युक्त हो और नाम, आख्यात, उपसर्ग, तद्धित, समास, संधि, पदहेतु, योगिक, उणादि, क्रिया-विधान, धातु-स्वर, विभक्ति और वर्ण से युक्त हो, वैसा त्रिकालविषयक दसविध सत्य बोलना चाहिये ।

इस आगम-प्रमाण से स्पष्ट है कि मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु आत्मा को श्रुत के सम्यग् बोध के लिए व्याकरण-शास्त्र का अवश्य अभ्यास करना चाहिये ।

महोपाध्याय श्रीमद् विनयविजयजी म. ने **'हैमलघुप्रक्रिया'** के मंगलाचरण में **'श्री हैमव्याकरण'** को भी नमस्कार किया है और उन्होंने युक्ति-प्रयुक्ति के द्वारा उसकी नमस्करणीयता को सिद्ध किया है ।

'श्रीहैमव्याकरण' सम्यग्दृष्टि द्वारा प्रणीत होने से श्रुतज्ञान रूप है और सकल शास्त्रों की व्युत्पत्ति बोध में हेतु रूप होने से लोक में भी महान् उपकारी है, अत: उसको नमस्कार समुचित ही है और यह व्याकरण सरस्वती रूप होने से व्याकरण को नमस्कार करने से सरस्वती को भी नमस्कार हो जाता है ।

व्याकरण की महिमा का गान करते हुए किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है–

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां, शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोध: शब्दानां, नास्ति व्याकरणं विना ।।

अर्थ :– विषयक प्रवृत्ति के रहस्य में शब्द ही कारण हैं और शब्दों का वास्तविक बोध व्याकरण के बिना संभव नहीं है ।

व्याकरण के सम्यग् बोध के अभाव में वाणी के विचित्र (उपहास्य) प्रयोगों पर कटाक्ष करते हुए किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

नाङ्गीकृतं व्याकरणौषधानां, अपाटवं वाचि सुगूढमास्ते ।
कस्मिंश्चिदुक्ते तु पदे कथंचित् स्वैरं वपु: स्विद्यति वेपते च ।।

भावार्थ :– 'जिन व्यक्तियों ने व्याकरण रूप औषध का सेवन नहीं किया है, उनकी वाणी में अत्यंत अपटुता होती है और इस कारण जब वे किसी व्याकरणविद् के मुख से कोई पद / वाक्य सुनते हैं...तो उस वाक्य के अनवबोध के कारण उनके देह में पसीना छूटने लगता है और उनकी देह काँपने लगती है ।'

अस्तु ! विद्वज्जन के आगे व्याकरण की महिमा का गान, यह तो माता के सामने, मामा के घर के वर्णन समान ही है, क्योंकि विद्वज्जन व्याकरण के माहात्म्य से सुपरिचित ही होते हैं ।

प्रस्तुत **'श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** के ग्रन्थकर्ता कलिकालसर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** के पुण्यनाम से भला कौन अपरिचित होगा ? वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी

थे । गुर्जरसम्राट् सिद्धराज और परमार्हत् कुमारपाल को प्रतिबोध कर, उन्होंने जिनशासन की अद्‌भुत प्रभावना की हैं । उनके विराट् व्यक्तित्व का परिचय वाणी से अगोचर है, फिर भी प्राचीन और अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने उनके विराट् व्यक्तित्व को आंशिक रूप से शब्द-देह देने का प्रयास किया है ।

'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्' के तृतीय भाग में मैंने ग्रंथकार का संक्षिप्त जीवन-परिचय देने का अल्प प्रयास किया है, परन्तु वह परिचय तो बालक द्वारा अपने हाथ पसार कर उदधि / सागर का माप बतलाने तुल्य ही है ।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य भगवंत के विराट् व्यक्तित्व का परिचय देने वाली तत्कालीन विद्वानों की अनेक काव्य-पंक्तियाँ इतिहास के स्वर्ण-पृष्ठों पर अंकित हैं, उनमें से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्‌धृत की जा रही है—

विराट् आत्मा का विराट् व्यक्तित्व और अद्‌भुत कृतित्व

(1) सम्यग्ज्ञाननिधेर्गुणैरनवधेः श्रीहेमचन्द्रप्रभोः ।
ग्रंथे व्याकृतिकौशलं, वसति तत् क्वास्मादृशां तादृशं ॥

अर्थ :— सम्यग्ज्ञान के निधि और गुणों से अवधि रहित श्री हेमचन्द्रप्रभु के ग्रन्थ में जो व्याकृति (व्याकरण-शब्दविज्ञान) का कौशल है, वैसा कौशल हमारे जैसे में कहाँ से हो ?

—श्री महेन्द्रसूरि कृत अनेकार्थ-कैरव कौमुदी

(2) विद्याम्भोनिधिमंथमंदरगिरिः श्रीहेमचन्द्रो गुरुः ।

— श्री देवचन्द्रसूरि कृत चन्द्रलेखा नाटक

अर्थ :— विद्या रूपी समुद्र को मथने के लिए श्री हेमचन्द्र गुरु मंदरगिरि के समान हैं ।

(3) क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं, छन्दो नवं द्व्याश्रया-
ऽलंकारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितौ श्री योगशास्त्रं नवं ।
तर्कः संजनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं,
बद्धं येन न केन केन विधिना, मोहः कृतो दूरतः ॥

अर्थ :— नवीन व्याकरण, नवीन छन्दोनुशासन, नवीन द्वयाश्रयमहाकाव्य, अलंकार शास्त्र, योग-शास्त्र, प्रमाण-शास्त्र तथा जिनेश्वर देवों के चरित्रों की रचना करके (श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने) किस-किस प्रकार से अपना मोह दूर नहीं किया है ? अर्थात् अनेक प्रकार से दूर किया है ।

— श्री सोमप्रभसूरिकृत शतार्थकाव्य-टीका श्लोक 93

(4) निःसीमप्रतिभैकजीवितधरौ, निःशेषभूमिस्पृशां,
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू, स्वांगैकरूपौ दधत् ।
यः स्याद्‌वादमसाधयन् निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे,
सद्‌बुद्‌ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये, श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ॥1॥

ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थ-सेवामिषतः श्रयन्ते ।
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां, पदं कलानामुचितं भवन्ति ।।

—श्री मल्लिषेणसूरिकृत स्याद्‌वादमंजरी

अर्थ :— समस्त पृथ्वीवासियों की पुण्यराशि को इकट्ठी करके असीम प्रतिभा से एक जीवित धारण करने वाली सरस्वती और बृहस्पति को जिन्होंने अपने शरीर में एक रूप करके धारण किया है और अपने देह के दृष्टांत से जिन्होंने स्याद्वाद को सिद्ध किया है, ऐसे चन्द्रतुल्य श्री हेमप्रभु मेरी सद्‌बुद्धिरूपी सागर के प्रबोध (विकास) के लिए चन्द्र समान हो।

जो इस ग्रन्थ के अर्थ की सेवा के बहाने से श्री हेमचन्द्रमुनि का आश्रय लेते हैं, वे गौरव प्राप्तकर उज्ज्वल कलाओं के उचित स्थान रूप बनते है।

(5) जयसिंहदेववयणाउ, निम्मियं सिद्धहेमवागरणं ।
नीसेससद्दलक्खणनिहाणमिभिणा मुणिंदेण ।।

अर्थ :— जयसिंह (सिद्धराज) राजा के वचन से इस मुनीन्द्र के द्वारा समस्त शब्द लक्षण के निधान स्वरूप सिद्धहैम व्याकरण रचा गया।

(6) किं स्तुमः शब्दपाथोधेर्हेमचन्द्रयतेर्मतिम् ।
एकेनापि हि येनेदृक् कृतं शब्दानुशासनम् ।।

अर्थ :— शब्द-समुद्र रूप हेमचन्द्रमुनि की बुद्धि की क्या स्तुति करें (कैसे स्तुति करें ?) ? क्योंकि जिन्होंने अकेले ही ऐसे (महान्) शब्दानुशासन की रचना की है।

(7) शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दो-लक्ष्म-विधायिनां ।
श्रीहेमचन्द्रपादानां, प्रसादाय नमो नमः ।।

अर्थ :— शब्द, प्रमाण, साहित्य, छंद और व्याकरण के विधायक, श्री हेमचन्द्र भगवंत के प्रसाद गुण को बारबार नमस्कार हो।

— श्री रामचन्द्रसूरि तथा श्री गुणचन्द्रसूरि कृत नाट्यदर्पण

(8) तुलीय-तवणिज्ज-कती-सयवत्त-सवत्त-नयण-रमणिज्जा ।
पल्लविय-लोयलोयण-हरिसप्पसरा सरीर-सिरी ।।1।।
आबालत्तणओ बिहु चारित्तं जणिय-जण-चमक्कारं ।
बावीस-परिसहसहण-दुद्धरं तिव्व-तव पवरं ।।2।।
मुणिय-विसमत्थसत्था-निमियवायरण-पमुह-गंथगणा ।
परवाइ पराजय-जायकित्तीमई जयपसिद्धा ।।3।।
धम्म पडिवत्तिजणणं, अतुच्छ-मिच्छत्त मुच्छिआणं पि ।
महु-खीरपमुह-महुरत्त-निम्मियं धम्मवागरणं ।।4।।
इच्चाइ गुणोहं हेमसूरिणो, पेच्छिऊण छेयजणो ।
सद्‌दवहइ अदिट्ठे वि हु तित्थंकर-गणहरप्पमुहे ।।5।।

अर्थ :– शतपत्र अर्थात् कमल समान नयन से रमणीय और लोगों के नयनों में हर्ष के प्रसार को पल्लवित करने वाली जिनकी शारीरिक संपदा तपनीय अर्थात् सुवर्ण की कांति के समान थी ।।1।।

बाल्यकाल से ही जिनका चारित्र लोगों में चमत्कार पैदा करने वाला और बावीस परीषहों को सहन करने से दुर्जय और तीव्र तप के कारण उत्तम था ।।2।।

विषमार्थ शास्त्र के बोध वाली, व्याकरणादि ग्रंथों को रचने वाली और परवादी का पराजय कर कीर्ति प्राप्त करने वाली जिनकी बुद्धि थी ।।3।।

मिथ्यात्व से मूर्च्छित बने हुओं को भी धर्मबोध देने वाला जिनका धर्मकथन अतुच्छ और मधु-क्षीर प्रमुख माधुर्य वाला था–इत्यादि गुणों वाले हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत को देखकर, चतुर-निपुणजन अदृष्ट तीर्थंकर और गणधर भगवंतों पर भी श्रद्धा करते हैं ।।4-5।।

–श्री सोमप्रभसूरि कृत प्रबंध

(9) **सप्तर्षयोऽपि सततं गगने चरन्तो, रक्षुं क्षमा न मृगीं मृगयोः सकाशात् ।**
जीयाच्चिरं कलियुगे प्रभुहेमसूरि-रेकेन येन भुवि जीववधो निषिद्धः ।।

–विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह

अर्थ :– आकाश में सतत घूमने वाले सप्तर्षि भी शिकारी के पास से हरिणी का रक्षण करने में समर्थ न बन सके, जबकि कलियुग में प्रभु हेमचन्द्राचार्यजी ने अकेले ही पृथ्वी पर जीववध का निषेध करा दिया, ऐसे हेमचन्द्र प्रभु दीर्घकाल तक जय पाए ।

(10) **गुरुर्गुर्जरराजस्य, चातुर्विद्यैकसृष्टिकृत् ।**
त्रिषष्टिनरसद्वृत्तकविर्वाचां न गोचरः ।।

–श्री मुनिरत्नसूरि कृत अममचरित्र

अर्थ :– गुर्जर सम्राट् के गुरु, चार प्रकार की विद्याओं का सर्जन करने में विशिष्ट और त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के पवित्र चरित्र को लिखने में कवि ऐसे **श्री हेमचन्द्राचार्यजी** वाणी से अगोचर हैं अर्थात् इस वाणी द्वारा उनकी स्तुति शक्य नहीं है ।

(11) **वैदुष्यं विगताश्रयं श्रितवति श्रीहेमचन्द्रे दिवम् ।**

–राजकवि सोमेश्वरदेवरचित सुरथोत्सव

अर्थ :– श्री हेमचन्द्र प्रभु के स्वर्ग-गमन पर विद्वत्ता आश्रयरहित हो गई ।

प्रचंड प्रतिभा के स्वामी कलिकाल सर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** भगवंत की दैविक-प्रतिभा के दर्शन हमें उनकी कृतियों में मिलते हैं । प्राचीन-अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने उनकी काव्य-कृतियों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है ।

संस्कृतभाषा-बोध के लिए आज तक अनेक व्याकरण-ग्रन्थ रचे गए हैं, उन ग्रन्थों में इस व्याकरण-ग्रन्थ की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं, जो अध्यापक व पाठकगण स्वयं ही समझ सकते हैं ।

'सिद्धहेम' के अध्ययन-अध्यापन में उपयोगी कतिपय प्राचीन-अर्वाचीन ग्रंथों की यहाँ सूची दी जा रही है–

1. क्रियारत्न-समुच्चय–**आ. गुणरत्नसूरि कृत** (सं. 1466)
2. स्यादि-समुच्चय-**आ. अमरचन्द्रसूरि कृत**
3. हैमविभ्रम-सटीक–**आ. गुणचन्द्रसूरि कृत**
4. हैमविभ्रम-सवृत्तिक–**आ. जिनप्रभसूरि कृत**
5. लिंगानुशासनवृत्ति–**आ. जयानंदसूरि कृत**
6. लिंगानुशासनदुर्गपदप्रबोधवृत्ति–**श्री वल्लभगणि कृत**
7. हैम-कविकल्पद्रुम–**पं. हर्षकुलगणि कृत**
8. स्यादिशब्ददीपिका–**आ. जयानंदसूरि कृत**
9. प्राकृतशब्द समुच्चय–**आ. अमरचंद्रसूरि कृत**
10. द्व्याश्रय-काव्यवृत्ति (संस्कृत)–**उपा. अभयतिलकगणि कृत**
11. द्व्याश्रयवृत्ति-प्राकृत–**पं. पूर्णकलश गणि कृत**
12. न्यायसंग्रह-न्यायार्थ मंजूषा न्यास–**हेमहंस गणि कृत**
13. अभिधान-चिंतामणि निर्णीति–**महो. भानुचन्द्र गणि कृत**
14. अभिधान-चिंतामणि-सारोद्धारवृत्ति–**श्री वल्लभ गणि कृत**
15. हैमीनाममाला–**आ. जिनदेवसूरि कृत**

सिद्धहेम पर से अवतरित व्याकरण–

1. सिद्ध सारस्वत–**आ. देवानंदसूरि कृत (सं. 1334)**
2. हैमलघुप्रक्रिया–**महो. विनयविजय गणि कृत (सं. 1712)**
3. हेमप्रक्रिया प्रकाश–**महो. विनयविजय गणि कृत**
4. चन्द्रप्रभा (हैमकौमुदी)–**महोपाध्याय मेघविजय गणि कृत (सं. 1758)**
5. हेमशब्दचन्द्रिका–**महो. मेघविजय गणि**
6. हैमप्रक्रिया–**वीरसी कृत**
7. बृहद् हेमप्रभा–**आ. विजयनेमिसूरि कृत**
8. सिद्ध प्रभा–**आ. सागरानंदसूरि कृत**
9. हेमबृहत् प्रक्रिया–**पं. गिरिजाशंकर शास्त्रीकृत**
10. हेमसंस्कृतप्रवेशिका (गुजराती)–**पं. शिवलाल कृत**

न्याय सारसमुद्धार (लघुन्यास) के कर्त्ता का संक्षिप्त परिचय–

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत विरचित **'श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** के बृहन्न्यास में से पू. आचार्य श्री कनकप्रभसूरीश्वरजी म.सा. का परिचय देना भी अत्यंत अनिवार्य है। प्राचीन इतिहास के ग्रंथों के अवलोकन के बाद भी उनके जीवन संबंधी विशेष

जानकारी तो नहीं मिल पाई है, फिर भी न्याससार समुद्धार के अन्त में प्रशस्ति काव्यों के द्वारा उनकी विद्वत्ता का हमें अवश्य बोध होता है।

प्रशस्तिकाव्य–

आसीद् वादिद्विरदपृतनापाटने पञ्चवक्त्र,
श्चान्द्रेगच्छेऽच्छतरधिषणो धर्म्मसूरिर्मुनीन्द्रः।
पट्टे तस्याजनि जनमनोऽनोकहानन्दकन्दः,
सूरि सम्यग्गुणगणनिधिः ख्यातिभाग् रत्नसिंह ॥1॥
यस्योपरागसीमाया-मुदयः परभागभाग्।
देवेन्द्रसूरिस्तत्पट्टे जज्ञे नव्य नभोमणिः ॥2॥
भूपालमौलिमाणिक्य-मालालालितशासनः।
दर्शनषट्कनिस्तन्द्रो, हेमचन्द्रो मुनीश्वरः ॥3॥
तेषामुदयचन्द्रोऽस्ति, शिष्यःसंख्यावतां वरः।
यावज्जीवमभूद्यस्य, व्याख्याज्ञानामृतप्रपा ॥4॥
तस्योपदेशाद् देवेन्द्रसूरिशिष्यलवो व्यधात्।
न्याससारसमुद्धारं, समनीषी कनकप्रभः ॥5॥

अर्थ :– चान्द्रगच्छ में वादी रूपी हाथियों की सेनाओं को फाड़ने में सिंह समान अत्यंत बुद्धि निधान आचार्य धर्मसूरि थे।

जन-मन रूपी वृक्ष के आनंद रूपी कंद वाले सम्यग् गुण गण के महासागर और अत्यंत प्रसिद्ध रत्नसिंहसूरि उनके पट्टधर थे।

''उपराग अर्थात् विपक्षाक्रमण की पराकाष्ठा में जिनका उदय गुणोत्कर्ष को भज रहा था, ऐसे नवीन सूर्य समान देवेन्द्रसूरिजी म. उनके पट्ट पर पैदा हुए। नवीनता का कारण यह है कि राहु ग्रहण की पराकाष्ठा में सूर्य तेजस्विताहीन उदित होता है, जबकि देवेन्द्रसूरिजी म. परवादियों के आक्रमण में अधिक दीप्तिमान हो रहे थे।

माणिक्य की श्रेणी से सुशोभित मुकुट वाले राजा भी जिनकी आज्ञा का स्वीकार करते थे, ऐसे षड्दर्शन के ज्ञाता श्री हेमचन्द्रसूरिजी हुए।

उनके अनेक शिष्यों में उदयचन्द्र नाम के शिष्य है, जो सदैव जीवन-पर्यन्त व्याख्या ज्ञान रूपी अमृत की प्रपा (प्याऊ) थे।

उनके उपदेश से देवेन्द्रसूरि के शिष्य मनीषी कनकप्रभ ने न्याससारसमुद्धार की रचना की।''

उपर्युक्त प्रशस्ति-काव्यों से स्पष्ट होता है कि **श्री हेमचन्द्रसूरिजी आचार्य भगवंत** के शिष्य पंडित उदयचन्द्र गणि की सत्प्रेरणा से **आचार्य देवेन्द्रसूरिजी** के शिष्य मनीषी पू. कनकप्रभमुनि ने **'न्याससारसमुद्धार'** की रचना की है।

पू. कनकप्रभमनीषी चान्द्रगच्छ के अन्तर्गत राजगच्छ में हुए हैं ।

चान्द्रगच्छ में आचार्य धर्मघोषसूरि नाम के एक महान् प्रभावक आचार्य हुए है, जिनका दूसरा नाम 'धर्मसूरि' था । वे व्याकरण के पारगामी, न्याय-शास्त्र में निष्णात, सूत्र-अर्थ के समर्थ व्याख्याता और अपूर्व बुद्धिशाली थे । वे महावादी थे । अंबिका देवी के कृपा-पात्र थे ।

नागौर के राजा आल्हण, शाकंभरी के राजा अजयराज, अर्णोराज तथा विग्रहराज को उन्होंने प्रतिबोध किया था । उनके उपदेश से प्रभावित होकर विग्रहराज ने जैनधर्म स्वीकार किया था, और उसने अपने राज्य में पर्व-दिनों में अमारि पालन करवाया था ।

पू. आचार्य धर्मघोषसूरिजी म. के पट्टधर पू.आ. रत्नसिंहसूरिजी म. थे । वे भी अत्यंत प्रभावक और प्रतिभा संपन्न थे । उन्होंने भी अपने जीवन में अनेक ग्रन्थों की रचना की है ।

पू.आ. श्री रत्नसिंहसूरिजी म. के पट्टधर पू.आ. श्री देवेन्द्रसूरि हुए और उनके शिष्य पं. कनकप्रभ महर्षि थे । वे भी प्रतिभावंत और जिनशासन के अनुरागी थे ।

`जैन धर्म के रहस्य को समझना हो तो उसके लिए संस्कृत-प्राकृत भाषा का ज्ञान खूब जरुरी है, क्योंकि सभी आगम ग्रंथ प्राकृत भाषा में है और उन आगमों के रहस्य को जानना हो तो आगमों पर विवेचित टीकाएँ एवं अन्य पूर्वाचार्य विरचित ग्रंथों का अभ्यास जरुरी है और वे सभी ग्रंथ एवं टीकाएँ संस्कृत भाषा में है ।

☙ संस्कृत भाषा को समझने के लिए व्याकरण का बोध जरुरी है ।

☙ संस्कृत भाषा के सामान्य साहित्यबोध के लिए संस्कृत की दो बुक का अभ्यास पर्याप्त हैं, परंतु शब्दों के गहन रहस्य तक पहुंचना हो तो संस्कृत व्याकरण का बोध खूब जरुरी है ।

☙ प्रांतीय भाषाओं का स्वरुप समय समय पर बदलता रहता है ।

☙ 350 वर्ष पूर्व हो चूके महोपाध्याय यशोविजयजी म. के गुजराती टबा आदि की भाषा और वर्तमान की गुजराती भाषा में बहुत बडा अंतर है ।

परंतु संस्कृत भाषा का साहित्य, चिरंजीवी है । सैकडों हजारों वर्षों के बाद भी उस भाषा में परिवर्तन को अवकाश नहीं है ।

☙ आगम एवं पूर्वाचार्य विरचित संस्कृत साहित्य को समझने के लिए व्याकरण के बोध की उतनी ही आवश्यकता है ।

प्रस्तुत संपादन

वि.सं. 2033 में मेरी भागवती दीक्षा के बाद मेरे निरंतर चार चातुर्मास पाटण (उ.गु.) में हुए थे । पूज्यपाद गुरुदेव अध्यात्मयोगी **पू. पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की आज्ञा एवं मेरे आत्महितैषी **पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म.** के मार्गदर्शनानुसार मैंने

पंडितवर्य शिवलालभाई के पास **'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** संस्कृत व्याकरण का अभ्यास किया था । वि.सं. 2035 में लघुवृत्ति के साथ बृहद्वृत्ति का भी अध्ययस चल रहा था ।

उस समय बृहद्वृत्ति के ऊपर बृहन्न्यास एवं लघुन्यास का भी निरीक्षण किया था ।

उस समय **पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म.** ने मुझे न्याससार समुद्धार-लघुन्यास के संपादन के लिए प्रेरित किया था ।

बृहद्वृत्ति व लघुन्यास की प्रतियाँ जीर्णशीर्ण अवस्था में थी ।

वि.सं. 2040 के रतलाम चातुर्मास दरम्यान मैंने उस ग्रंथ की पाण्डुलिपी–Press Copy तैयार की थी, जिसका तीन भागों में प्रकाशन वि.सं. 2042 दीपावली पर्व के शुभदिन दानसूरिज्ञान मंदिर-कालूपूर रोड अहमदाबाद में सौजन्यमूर्ति पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतनसूरीश्वरजी म.सा. की शुभ निश्रा में भव्य समारोह के साथ हुआ था ।

आज इस बात को 39 वर्ष बीत गए है । उन पुस्तकों की प्रतियाँ भी अप्राप्य हो गई है । उपलब्ध पुस्तके भी जीर्ण अवस्था में है ।

उन पुस्तकों की जीर्ण अवस्था को देखकर उनके पुनरुद्धार की भावना पैदा हुई ।

पुस्तक की मोटाइ Thickness को ध्यान में रखते हुए उन्हें चार भागों में एक साथ प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया ।

वि.सं. 2080 के पोसालिया (राज.) के चातुर्मास दरम्यान इस महाकाय ग्रंथ के पुनः संपादन का कार्य प्रारंभ किया गया ।

परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री की अदृश्य कृपा के फलस्वरुप 10 मास की अवधि में इन चारो भागों का संपादन कार्य पूर्ण हुआ ।

यद्यपि प्रुफ रीडिंग आदि में पूर्ण सावधानी बर्ती गई है, फिर भी मतिमंदता आदि के कारण कहीं भी त्रूटियां रह गई हो तो उसके लिए **त्रिविध-त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् ।**

श्री नागेश्वर पार्श्वनाथ जैन तीर्थ
भद्रंकर नगर-लुणावा (राज.)
चैत्र वदी 10, वि.सं. 2081
दि. 23-4-2025 बुधवार

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यास
प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
कृपाकांक्षी
रत्नसेनसूरि

जन्म–वि.सं. 1145
दीक्षावय–9 वर्ष
दीक्षा–वि.सं. 1154

आचार्यपद–वि.सं. 1166
आचार्यपद पर्याय–53 वर्ष
स्वर्गवास–वि.सं. 1229

कलिकाल सर्वज्ञ ग्रंथकार श्री हेमचन्द्रसूरिजी का संक्षिप्त जीवन परिचय

स्वप्न दर्शन-1

लेखक : **पू. आचार्य श्री रत्नसेनसूरिजी म.सा.**

चरम तीर्थाधिपति भगवान महावीर परमात्मा के पावनकारी जिनशासन को प्राप्त कर जीवन पर्यंत ज्ञानोपासना कर...जिनशासन की महान् प्रभावना करनेवाले, महान् प्रभावक, कलिकालसर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** के पुण्यनाम से भला कौन अपरिचित होगा ?

आज वे महापुरुष देहधारी के रूप में हमारे बीच नहीं है...परंतु उनका कीर्ति-देह तो आज भी विद्यमान है। काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और गुजरात से लेकर पश्चिम बंगाल तक विस्तृत इस भारतभूमि के पवित्रतम इतिहास में **कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** को कैसे भूल सकते है ? गुजरात के प्राचीन इतिहास में से यदि कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्यजी के जीवन-इतिहास को एक ओर कर दिया जाय...तो गुजरात का इतिहास शून्यसा प्रतीत होने लगेगा।

देश-विदेश के कोने-कोने में उनकी साहित्य–सृष्टि फैली हुई है। वे एक महान् योगी थे, प्रकांड विद्वान् व शास्त्रज्ञ थे, वे एक महान् साहित्यकार, कवि, लेखक और महान् आत्मसाधक युगमहर्षि थे।

विराट् व्यक्तित्व के स्वामी कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचंद्राचार्यजी के तेजस्वी व्यक्तित्व का परिचय देने का सामर्थ्य इस कलम में कहाँ से आए ?...फिर भी शुभकार्य में यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिए। इसी न्याय को ध्यान में रखकर उस महान् विभूति के विराट् व्यक्तित्व का यत्किंचित् परिचय प्रस्तुत करने का यह प्रयास किया जा रहा है।

इस पवित्र भारतभूमि के इतिहास में गुजरात राज्य का महान् गौरवपूर्ण स्थान रहा है। गुजरात की भूमि तीर्थ-भूमि है। वह अनेक पवित्रतम तीर्थों को अपनी गोद में लिये बैठी है। यह पवित्रतम भूमि अनेक संत-महर्षियों की जन्मदात्री रही है। **कम्मे सूरा** और **धम्मे सूरा** जैसे अनेक कर्मवीर और धर्मवीरों को इसने पैदा किया है।

भारत के विशाल भाल समान गुजरात का **'भाल-प्रदेश'** सुविख्यात है। इस भाल-प्रदेश में **'धंधुका'** नाम का प्रख्यात नगर है। इस नगर में बारहवीं शताब्दी में मौढ़ वणिकों की बस्ती अत्यधिक प्रमाण में थी।

मौढ़ परिवार में **चाचिंग** का अपना एक विशिष्ट स्थान था। एक बार चाचिंग की पत्नी **पाहिनी** रात्रि में सो रही थी...तभी उसने एक भव्य स्वप्न देखा। स्वप्न में उसे चिंतामणि रत्न की प्राप्ति हुई और उसने वह चिंतामणि रत्न गुरुदेव के चरणों में भेंट धर दिया।

पूज्य आचार्यश्री देवचन्द्रसूरिजी म. धंधुका में विराजमान थे। दूसरे दिन पाहिनी ने अपने स्वप्न की बात गुरुदेव के सामने प्रकट की। स्वप्न सुनकर क्षणभर विचारमग्न बने गुरुदेव ने कहा, ``तेरी कुक्षी में एक महान् आत्मा का अवतरण हुआ है...**तू जिनशासन के प्रभावक पुरुष की जन्मदात्री बनेगी।**''

गुरुदेव के मुख से इस भविष्यवाणी को सुनकर पाहिनी का हृदय पुलकित हो उठा। उसने अपने घर की ओर प्रस्थान किया।

धीरे–धीरे पाहिनी की देह पर गर्भ के चिह्न दिखाई देने लगे। गर्भ में एक महान् आत्मा के आगमन के फलस्वरूप पाहिनी के हृदय में विविध प्रकार के उत्तम दोहद पैदा होने लगे। जिनमंदिर में भगवान की भव्य प्रतिष्ठा, परमात्मा की भव्य अंगरचना तथा अन्य जीवों को अभयदान देने आदि के शुभ दोहद पाहिनी के मन में प्रकट हुए। उन सब दोहदों को पूर्ण करने में चाचिंग ने पूर्ण सहायता की।

पाहिनी गर्भ का सुखपूर्वक पालन करने लगी। एक दिन सोने का सूरज उगा। **कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा विक्रम संवत् 1145** के शुभ दिन उसने जिनशासन के महान् प्रभावक पुरुष को जन्म दिया।

धीरे–धीरे दिन बीतने लगे और एक शुभ दिन पिता ने पुत्र का नामकरण किया। बालक का नाम **'चांगदेव'** रखा गया। चांगदेव की भौतिक देह में भी अद्‌भुत आकर्षण था। शांत व गंभीर उसकी मुखमुद्रा थी। विशाल भाल, गौर वर्ण और तेजस्वी नेत्र सभी के आकर्षण के लिए पर्याप्त थे।

पाहिनी एक सुसंस्कारी और पवित्रात्मा स्त्री थी। जिनशासन का अनुराग उसके रोम-रोम में भरा हुआ था। बाल्यकाल से ही माँ पाहिनी ने पुत्र चांगदेव के जीवन में सुसंस्कारों का अद्‌भुत सिंचन किया था। धीरे-धीरे चांगदेव की उम्र बढ़ने लगी।

संतान–समर्पण–2

चांगदेव की उम्र मात्र 5 वर्ष की थी और उसके जीवन में एक अभूतपूर्व घटना घटी। एक दिन माँ पाहिनी अपने पुत्ररत्न चांगदेव को लेकर जिनमन्दिर दर्शनार्थ निकल पड़ी। माँ भक्तिसभर हृदय से परमात्मा के दर्शन कर रही थी...बालक चांगदेव भी साथ में था। द्रव्यपूजा समाप्ति के बाद पाहिनी परमात्मा की भावपूजा में तल्लीन थी...इसी समय बालक चांगदेव मन्दिर से बाहर निकलकर पास में रहे उपाश्रय में पहुँच गया। उपाश्रय में आचार्य भगवंत विद्यमान नहीं थे...वे बाहर स्थंडिल भूमि गए हुए थे...**चांगदेव उपाश्रय में जाकर आचार्य भगवंतश्री के आसन पर बैठ गया।** थोड़ी ही देर में आचार्य भगवंत पधारे। सुश्राविका पाहिनी भी आचार्य भगवंत को वन्दन करने के लिए उपाश्रय में आई।

आचार्य भगवंत ने उपाश्रय में प्रवेश किया और अपने आसन पर चांगदेव को बैठे देख आश्चर्यमुग्ध हो गए। आचार्य भगवंत ने बालक की तेजस्वी प्रतिभा देखी और सोचने लगे ***''यदि इस बालक को सुयोग्य संयोगों की प्राप्ति हो तो अवश्य ही जिनशासन का महान् प्रभावक बन सकता है।''***

इस प्रकार विचार कर आचार्य भगवंत ने अत्यंत सौम्य वाणी से कहा, **``हे पाहिनी ! तू अपने स्वप्न को याद कर । पुत्र के लक्षण देख...तू अपनी ममता का त्याग कर दे, जिनशासन के चरणों में यदि इस पुत्र का समर्पण करेगी तो यह पुत्र जिनशासन का एक महान् प्रभावक बन सकेगा ।''**

गुरुदेवश्री के मुख से वात्सल्यपूर्ण वाणी सुनकर पाहिनी के हृदय में रहा पुत्रमोह धीरे-धीरे कम हो गया आत्महित की आकांक्षावाली पाहिनी ने पुत्र की ममता छोड़कर अपना पुत्र गुरुचरणों में समर्पित कर दिया ।

पाहिनी एक आदर्श माता थी, जिनशासन के चरणों में अपने पुत्र की भेंट धरकर उसने महान् त्याग किया था । ऐसी महान् माताएँ ही स्वार्थ को तिलांजलि दे सकती हैं और आत्महित के मार्ग को अपना सकती हैं ।

पंचवर्षीय बालक चांगदेव को साथ में लेकर आचार्य देवचन्द्रसूरिजी म. ने धंधुका से खंभात की ओर विहार प्रारम्भ किया । कुछ ही दिनों की पदयात्रा के बाद आचार्यश्री खंभात पहुँच गए ।

पिता का हृदय-परिवर्तन–3

मात्र 5 वर्ष के अपने लाल को माँ पाहिनी ने गुरुचरणों में समर्पित कर दिया था, उनके मन में जिनशासन की खूब कीमत थी, इसलिए गुरुचरणों में अपनी इकलौती संतान अर्पण करने के बाद भी मन में किसी प्रकार का दु:ख नहीं था बल्कि इस बात की खुशी थी कि मेरा लाल जिनशासन का दीप बनकर जगत् को रोशनी से भर देगा !

इस खुशी के साथ ही माँ पाहिनी के हृदय में इस बात का भय भी था कि कहीं चाचिंग अपने पुत्रमोह के कारण पुत्र को पाने के लिए गुरुदेव से झगड़ा न कर दे ।

कुछ ही दिनों के बाद चाचिंग अपने घर लौटा तो उसे अपने घर में चांगदेव की मीठी-मधुरी ध्वनि कहीं भी सुनाई नहीं दी । उसने पाहिनी को पूछा, `चांगदेव कहाँ है ?'

पत्नी ने कहा, **`मैंने अपना लाल गुरु-चरणों में समर्पित कर दिया है परन्तु आपकी ओर से समर्पण बाकी है । जब तक आपकी ओर से समर्पण नहीं होगा, तब तक गुरुदेव भी चांगदेव को दीक्षा नहीं देंगे ।'**

अपनी पत्नी के मुख से चांगदेव के गुरु-समर्पण की बात सुनकर चाचिंग का पुत्रमोह एकदम उछल पड़ा !

`क्या पुत्रवान होकर भी मैं पुत्ररहित (वंध्य) बन जाऊंगा ?'

...तो मैं अभी खंभात जाता हूँ और पुत्र को प्राप्त कर लौट आता हूँ...कहकर चाचिंग ने अपना घोड़ा खंभात की ओर दौड़ाया !

दूसरे ही दिन चाचिंग खंभात पहुँच गया ।

देवचंद्रसूरिजी को तो पहले से ही यह कल्पना थी कि चाचिंग पुत्रविरह को सहन नहीं कर पाएगा और वह आए बिना रहेगा नहीं ।

देवचंद्रसूरिजी ने चाचिंग को समझाने की सारी जवाबदारी उदयन मंत्री के कंधों पर डाल दी थी ।

चाचिंग के आगमन के समाचार उदयन मंत्री को प्राप्त हो चुके थे, अतः वे भी उपाश्रय में हाजिर हो चुके थे । उपाश्रय में प्रवेश के साथ ही चाचिंग ने देखा कि अपने गुरुदेव के आसपास अनेक मुनि स्वाध्याय आदि की साधना में मग्न थे ।

चांगदेव भी गुरुचरणों में बैठकर स्वाध्याय में मग्न था ।

अचानक अपने पिता के आगमन को देख चांगदेव अपने आसन से खड़ा हो गया और उसने आदरपूर्वक पिता के चरणों में प्रणाम किया । उसके बाद वह पुनः स्वाध्याय में लीन हो गया !

...उसी समय वहाँ उपस्थित हुए उदयन मंत्री ने चाचिंग का चरणस्पर्श कर कहा **'यह चांगदेव तो मस्तक के मुकुट की तरह मेरे लिए शिरोधार्य है । 'मेरा सद्भाग्य है कि मुझे भी कुछ दिनों तक इसकी सेवा करने का लाभ मिला ।'**

उदयन मंत्री ने कहा, **'रथ तैयार है, आप मेरे घर पधारिए ।'**

चाचिंग तो गुस्से में था, वह किसी भी तरह अपने लाल को अपने घर ले जाना चाहता था, परंतु उदयन मंत्री के आदर-सत्कार को देख उसका गुस्सा थोड़ा शांत हो गया ।

चांगदेव को साथ लेकर चाचिंग उदयन मंत्री के घर पहुँच गया ।

राजमहल जैसे विशाल महल में प्रवेश के बाद उदयन मंत्री के सेवकों व परिवारजन ने चाचिंग का जो आदर-सत्कार व सम्मान किया, उसे देख चाचिंग की सारी थकावट दूर हो गई ।

भोजन से निवृत्त होने के बाद प्रसन्नता भरे माहौल में उदयन मंत्री ने चाचिंग को समझाते हुए कहा, **'आप कितने पुण्यशाली हो । जिनशासन के भावी रत्न समान पुत्र के पिता बनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।'**

धंधुका में इतने सारे बच्चे होने पर भी गुरुदेव की नजर आपके लाल पर स्थिर हुई है—आपके भाग्य की सीमा नहीं है ।

चाचिंग ने कहा, **'ऐसे सौभाग्य की क्या कीमत, जहाँ पुत्र होते हुए भी मैं पुत्र रहित बन जाऊँ ! मेरा एक ही तो बेटा है । मेरे जीवन का एक ही तो सहारा है ! जिनशासन ही आपको प्यारा है तो आप ही अपना लाल क्यों नहीं सौंप देते ?'**

उदयन मंत्री ने कहा, 'मेरे चार बेटे हैं और मैं अपने चारों बेटे गुरुचरणों में समर्पित करना चाहता हूँ, परंतु मेरे किसी बेटे पर गुरुदेव की वह मीठी नजर नहीं है, जो आपके बेटे पर है ।

मैं एक लाख सोना महोर के साथ इन चारों में से जो भी बेटा आपको पसंद पड़े, वह मैं आपको समर्पित करना चाहता हूँ...आप मेरी इस भेंट को स्वीकार करें । इससे आपको पुत्र-विरह का दुःख भी नहीं होगा और चांगदेव की दीक्षा भी हो सकेगी ।

आप सोच-समझकर योग्य निर्णय कर मुझे दो-तीन दिन में जवाब दें, मैं आपके योग्य जवाब की प्रतीक्षा करूंगा । मंत्रीश्वर की इन बातों को सुनकर चाचिंग विचार मग्न हो गया ।

वह सोचने लगा, **'क्या मेरे लाल चांगदेव का भविष्य इतना समुज्ज्वल है ! क्या मेरा एक**

पुत्र, उदयन मंत्री के चार पुत्रों से भी बढकर है ? क्या सैकड़ों पुत्र होने पर भी मेरा ही लाल गुरुदेव की आँखों का तारा बन गया है ?'

रात्रि में मुलायम गद्दी पर सोने पर भी चाचिंग के दिमाग में तो मंत्रीश्वर के ही शब्द गूँज रहे थे । **'मेरे चार पुत्र होने पर भी किसी पुत्र पर गुरुदेव की मीठी नजर नहीं और तुम्हारे एक पुत्र पर ही गुरुदेव की कितनी मीठी नजर !'**

आखिर चाचिंग का ह्रदय परिवर्तन हो गया और वह अपनी इकलौती संतान गुरु-चरणों में समर्पित करने के लिए तैयार हो गया ।

मंत्रीश्वर की सूचनानुसार चाचिंग ने अपनी पत्नी पाहिनी को भी खंभात बुला लिया ।

...और एक शुभ दिन शुभवेला में खंभात के विशाल जैनसंघ की उपस्थिति में चाचिंग व पाहिनी ने अपने प्राण–प्यारे लाल को जिनशासन के चरणों में अर्थात् गुरुदेव को अर्पित कर दिया ।

माँ पाहिनी और पिता चांगदेव के इस अपूर्व त्याग की सकल संघ ने भूरि–भूरि अनुमोदना की...इस अपूर्व त्याग को देख सबकी आँखें आँसुओं से भीगी–भीगी हो गई ।

दीक्षा ग्रहण–4

आचार्यश्री के मुख से चांगदेव की दीक्षा की बात उदयन मंत्री को ज्ञात हुई ।

उसने कहा, **``भगवन्त ! चांगदेव की दीक्षा के महोत्सव का लाभ मुझे दीजिए ।''**

आचार्य भगवंत ने उसकी भावना को स्वीकार किया और उदयन मंत्री ने चांगदेव की दीक्षा की भव्य तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं ।

महा सुद-14 संवत् 1154 शनिवार के शुभ दिन रोहिणी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर और सूर्य आदि सभी ग्रह उच्च स्थान में आने पर पूज्य आचार्यश्री **देवचन्द्रसूरिजी म.** ने अपने वरद हस्तों से चांगदेव को दीक्षा प्रदान की और **नूतनमुनि** का नाम **सोमचन्द्रमुनि** किया गया ।

श्वेत वस्त्रों में सुसज्जित सोमचन्द्रमुनि के मुखमण्डल पर अद्भुत तेज दिखाई दे रहा था ।

दीक्षा अङ्गीकार करने के बाद सोमचन्द्रमुनि संयम की निर्मल साधना और स्वाध्याय में लग गए । बहुत ही अल्पकाल में वे तर्क, लक्षण, साहित्य, भाषा, न्याय आदि विषयों में निपुण बन गए ।

सरस्वती साधना–5

एक बार सोमचन्द्रमुनि ने सोचा, पूर्वकाल में तो महात्माओं की बुद्धि कितनी विशाल थी... वे पदानुसारिणी बुद्धि के निधान थे और हमारे में कैसी अल्प बुद्धि है ? इस प्रकार सोचकर उन्होंने काश्मीर जाकर सरस्वती को सिद्ध करने का दृढ़ संकल्प किया । एक शुभदिन अपने गुरुदेव की आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर काश्मीर की ओर प्रयाण कर दिया । सोमचन्द्रमुनि विहार करते हुए रैवतावतार तीर्थ में आए और वहाँ उन्होंने एकाग्रतापूर्वक सरस्वती का ध्यान किया, उनके ध्यान प्रभाव से सरस्वती देवी प्रत्यक्ष उपस्थित हुई और बोली, **``हे वत्स ! मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ, तुम्हारी सब इच्छाएँ पूर्ण होगी और अब तुम्हें काश्मीर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है ।''**

इस प्रकार कहकर देवी अदृश्य हो गई। सरस्वती से वरदान प्राप्त कर **सोमचन्द्रमुनि** प्रसन्न हो गए और उन्होंने काश्मीर जाने का कार्यक्रम स्थगित कर दिया।

चमत्कार–6

एक बार आचार्य देवचन्द्रसूरिजी म. अपने शिष्य परिवार के साथ विहार करते हुए नागपुर पधारे। उस नगर में **धनद** नाम का श्रेष्ठी रहता था। दुर्भाग्य से उसकी सब सम्पत्ति नष्ट हो गई थी और वह निर्धन दशा में जीवन बीता रहा था। **सोमचन्द्रमुनि** अन्य मुनि के साथ धनद श्रेष्ठी के घर गोचरी लेने पधारे। घर की आर्थिक स्थिति और दरिद्रजन योग्य भोजन सामग्री को देखकर सोमचन्द्र मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ, ``अरे ! इस सेठ के घर में सोने का ढेर पड़ा है...फिर भी ऐसी दरिद्र अवस्था में क्यों जी रहा है ?'' सोमचन्द्र मुनि ने जब यह बात **वीरचन्द्र गणि** को कही तो उन्हें भी बड़ा आश्चर्य हुआ और कहा, ``कहाँ है वह सोने का ढेर ?''

श्रेष्ठी ने यह बात सुनी, किन्तु उसे तो वहाँ कोयले ही नजर आ रहे थे। **उसने बालमुनि को उठाकर कोयले के ढेर पर बिठा दिया। सचमुच, वह कोयले का ढेर सोने के ढेर में बदल गया।** श्रेष्ठी ने सोचा, `इस पवित्र बालमुनि के दृष्टिस्पर्श से ही वह कोयला स्वर्ण बन गया है।

श्रेष्ठी ने कहा, **``ये बाल मुनि तो प्रत्यक्ष ही स्वर्ण पुरुष हैं...वे सोमचन्द्र नहीं किन्तु हेमचन्द्र हैं।''**

``हे गुरुदेव ! आप जब भी इन्हें आचार्य पद से अलंकृत करें तब उसके महोत्सव का लाभ मुझे प्रदान करना।''

आचार्यपद अभिषेक–7

`सिद्ध-सारस्वत' सोमचन्द्रमुनि की बुद्धि प्रतिभा दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। ज्ञान-वृद्धि के साथ ही साथ उनकी वय भी बढ़ने लगी। कुमार वय को वे पूर्ण कर चुके थे। उनके मुख मण्डल पर ब्रह्मचर्य का अपूर्व तेज था...वाणी में अत्यंत मधुरता और आँखों में करुणा थी।

अनेक गुणों से अलंकृत सिद्ध सारस्वत **सोमचन्द्र मुनि** के विराट् व्यक्तित्व और अद्भुत सामर्थ्य को देखकर गुरुदेवश्री ने उन्हें जिनशासन के तृतीय आचार्यपद से अभिषिक्त करने का निर्णय लिया। चारों ओर सोमचन्द्रमुनि की आचार्य पदवी के शुभ समाचार फैल गए।

भक्त वर्ग ने भव्यातिभव्य प्रभु भक्ति महोत्सव का आयोजन किया और वैशाख शुक्ला तृतीया विक्रम संवत् 1166 के शुभ दिन मंगल मुहूर्त में सोमचन्द्रमुनि को आचार्य पद पर अभिषिक्त किया गया और उनका नूतन नाम **आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी** रखा गया जो **`हेमचन्द्राचार्यजी'** के शुभ नाम से विश्व-विख्यात बने।

आचार्य पदवी के इस प्रसंग पर धनद श्रेष्ठी ने अमाप धन संपत्ति का सद्व्यय किया था, और गुरुदेव ने अपने शिष्य का नाम सोमचंद्र के बदले हेमचंद्र (हेम अर्थात् सोना) सूरि रखा। आचार्य पदवी का शुभ-आयोजन स्तंभनपुर खंभात में ही हुआ था जो आचार्यश्री की दीक्षाभूमि थी।

इसी शुभ दिन माँ पाहिनी ने भी सांसारिक बेड़ियों को तोड़कर जिनशासन के चरणों में अपने जीवन का समर्पण कर दिया । माँ पाहिनी भी साध्वी पाहिनी बन गई । दीक्षा के दिन ही पाहिनी साध्वी को **'प्रवर्तिनी'** का पद भी प्रदान किया गया ।

हेमचन्द्रसूरिजी म. की आचार्यपदवी के एक वर्ष बाद पू. आचार्य श्री देवचन्द्रसूरिजी म. का स्वर्गवास हो गया ।

गुरुदेव के स्वर्गगमन के बाद हेमचन्द्राचार्यजी ने खंभात से पाटण की और विहार यात्रा प्रारम्भ कर दी और कुछ ही दिनों में वे पाटण की पवित्र धरती पर पधार गए ।

प्रतिभा की प्रभा–8

एक बार गुर्जर सम्राट् सिद्धराज हाथी पर बैठकर वनभ्रमण के लिए निकला हुए थे । आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी म. सामने से आ रहे थे । आचार्यश्री की तेजस्वी प्रतिभा को देखकर सिद्धराज अत्यंत ही प्रभावित हुआ और आचार्यश्री के निकट आने पर उसने कहा-``हे सूरीश्वर ! आप कुछ कहो !''

उसी समय समयज्ञ आचार्यश्री ने कहा :–

कारय प्रसरं सिद्ध हस्तिराजमशङ्कितम् ।
त्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धृता यतः ।।

अर्थ : ``हे सिद्धराज ! तू अपने हाथी को निःशंक होकर आगे बढ़ा । कदाचित् दिग्गज घबरा जाय...तो उसकी चिन्ता मत करना, क्योंकि पृथ्वी को तू ही धारण कर रहा है ।''

आचार्यश्री के मुख से इस काव्योक्ति को सुनकर सिद्धराज अत्यन्त ही प्रभावित हुआ और उसने आचार्यश्री को प्रतिदिन राजसभा में धर्मोपदेश देने के लिए आमन्त्रण दिया ।

आचार्यश्री ने सिद्धराज का आमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया और प्रतिदिन राजसभा में जाने लगे और अपनी बुद्धि प्रतिभा से धर्म के रहस्यों को इस प्रकार समझाने लगे कि जिसे सुनकर सिद्धराज अत्यंत ही प्रभावित हो गया । क्रमशः सिद्धराज की राजसभा में आचार्यश्री की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी ।

व्याकरण की रचना–9

विक्रम संवत् 1192 का समय था । अवसर देखकर सिद्धराज ने मालवा देश के अधिपति यशोवर्म राजा पर आक्रमण किया । दोनों राजाओं में परस्पर युद्ध हुआ और उस युद्ध में सिद्धराज ने विजय प्राप्त की । मालवा देश को जीतकर जब सिद्धराज ने पाटण के सिंहद्वार में प्रवेश किया तब पाटण के नगरवासियों ने सिद्धराज का भव्य स्वागत किया । अनेक कवियों ने राजसभा में जाकर सिद्धराज की स्तुति की ।

हेमचन्द्राचार्यजी ने भी सिद्धराज को आशीर्वाद देते हुए कहा :–

भूमिं कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा !
मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप त्वं पूर्णकुम्भीभव ।
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा-
न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः ।।

अर्थ : ``हे कामधेनु ! तू अपने गोमयरस से भूमि का सिंचन कर दे । हे रत्नाकर ! तुम अपने मोतियों से स्वस्तिक बनाओ ।

हे दिग्गजो ! तुम अपनी सूंड को फैलाकर कल्पवृक्ष के पत्रों को लेकर तोरणों की रचना करो, क्योंकि सिद्धराज पृथ्वी को जीतकर यहाँ आ रहा है ।''

हेमचन्द्राचार्यजी के मुख से इस स्तुति को सुनकर विद्वद्प्रिय सिद्धराज अत्यन्त ही प्रसन्न हो उठा ।

अवंति के राजभण्डार में से अनेक ग्रंथरत्न मिले थे । सिद्धराज ने नियुक्त पंडितों को पूछा, ``ये कौन से ग्रन्थ हैं ?''

एक पंडित ने कहा, **``मालवाधिपति भोजराज के द्वारा बनाया हुआ शब्दशास्त्र भोज व्याकरण है । भोजराज के द्वारा निर्मित अन्य अलंकार, तर्क तथा निमित्तशास्त्र भी हैं । इसके साथ अन्य विद्वानों के द्वारा विरचित गणित, ज्योतिष, वास्तु, सामुद्रिक, स्वप्न, वैद्यक, अर्थशास्त्र, मेघमाला, राजनीति तथा अध्यात्म आदि ग्रन्थ इस भण्डार में हैं ।''**

यह बात सुनकर सिद्धराज को बड़ा खेद हुआ । क्या इस देश का अपना साहित्य भण्डार नहीं है ? सोचकर सिद्धराज ने कहा, क्या इस गुर्जर देश में रचे गये सुन्दर शास्त्र नहीं हैं ? क्या इस देश में ऐसे सर्वशास्त्र निपुण विद्वान् नहीं हैं ?

सिद्धराज की यह बात सुनकर सभी विद्वानों की दृष्टि हेमचन्द्राचार्यजी पर स्थिर बनी । सभी को विश्वास था कि यह भगीरथ कार्य हेमचन्द्राचार्यजी को छोड़कर अन्य कोई नहीं कर सकता है ।

सिद्धराज तुरन्त ही विद्वानों के अभिप्राय को समझ गया और हेमचन्द्राचार्यजी की ओर दृष्टि डालकर बोलाः

शब्दव्युत्पत्तिकृच्छास्त्रं निर्मायास्मन्मनोरथम् ।
पूरयस्व महर्षे त्वं विना त्वामत्र कः प्रभुः ?

अर्थ : ``हे महर्षि ! शब्द की व्युत्पत्ति करने वाले शास्त्र की रचना करके हमारे मनोरथ को पूर्ण करो । आपके बिना यह कार्य करने में अन्य कौन समर्थ है ?'' अभी अपना देश कलापक-कातन्त्र व्याकरण पढ़ रहा है, किन्तु उसमें शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है । पाणिनी व्याकरण को वेदांग मानकर ब्राह्मण, विद्यार्थियों की अवगणना कर रहे हैं ।

नवीन व्याकरण निर्माण की तीव्र अभिलाषा व्यक्त करते हुए, सिद्धराज ने कहाः–

यशो मत तव ख्यातिं, पुण्यं च मुनिनायक ।
विश्वलोकोपकाराय, कुरु व्याकरणं नवम् ।। (प्रभावकचरितम्)

अर्थ : ``हे मुनीश्वर ! आप नवीन व्याकरण की रचना करो। जिससे मुझे यश मिलेगा, आपको ख्याति मिलेगी और समग्र लोक के उपकार का पुण्य होगा ।''

सिद्धराज की इस नम्र विनती को सुनकर हेमचन्द्राचार्यजी ने कहा, ``हे राजन् ! अभी वर्तमान में आठ प्रकार के व्याकरण विद्यमान हैं, उन सब व्याकरणों को आप काश्मीर से मँगाएँ ताकि एक सुन्दर व भव्य शब्दशास्त्र की रचना हो सके ।''

हेमचन्द्राचार्यजी के निर्देशानुसार सिद्धराज ने प्रधान पुरुषों को भेजकर काश्मीर से सभी व्याकरण मँगाएँ और सभी व्याकरण आचार्य भगवंत को समर्पित किये ।

हेमचन्द्राचार्यजी ने सभी व्याकरणों का सूक्ष्मता से परीक्षण किया और अपनी बुद्धि-प्रतिभा से उन सब व्याकरणों में रही क्षतियों को ध्यान में रखकर एक सुन्दर व्याकरण शास्त्र की रचना की, जो अनेकविध विशेषताओं से भरपूर है। उन्होंने इस व्याकरण का नाम **''सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्''** रखा। यह व्याकरण सर्वांग संपूर्ण है। आठ अध्याय और उनके बत्तीस पादों में यह व्याकरण विभक्त है। प्रत्येक पाद के अन्त में एक-एक श्लोक और अंत में चार श्लोकों की रचना कर (कुल 35 श्लोकों में) उन्होंने चौलुक्य वंश में हुए सभी राजाओं का संक्षेप में जीवन वृत्तांत भी प्रस्तुत किया ।

हेमचन्द्रसूरिजी म. ने संस्कृत व्याकरण के साथ लिंगानुशासन आदि सभी अंगों की भी रचना की ।

हेमचन्द्राचार्यजी विरचित व्याकरण की पूर्णता को जानकर सिद्धराज ने उस व्याकरण को पट्टहस्ती पर रखकर उसका भव्य जुलूस निकाला और तीन सौ प्रतिलिपिकारों को बैठाकर उसकी अनेक प्रतियाँ तैयार करवाई और दूर-सुदूर देशों में उसका प्रचार किया ।

पाटण में सर्वप्रथम विद्वद्वर्य काकल कायस्थ ने सिद्धहेम व्याकरण का अध्यापन प्रारम्भ किया ।

हेमचन्द्राचार्यजी ने व्याकरण के प्रत्येक सूत्र का प्रयोग सिद्ध करने के लिए **द्व्याश्रय महाकाव्य** की भी रचना की। संस्कृत व्याकरण के समस्त सूत्रों को काव्य रूप में गूँथकर कलिकालसर्वज्ञ आचार्यश्री ने अपने अद्भुत पाण्डित्य का परिचय दिया ।

द्व्याश्रय महाकाव्य में एक ओर सिद्ध हेम के सूत्रों के प्रयोग दिखलाए हैं तो दूसरी ओर मूलराज सोलंकी से लेकर कुमारपाल महाराजा पर्यंत सोलंकी वंश की कीर्तिगाथा का बहुत ही सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। संस्कृत द्व्याश्रय बीस सर्गों में विभक्त है और प्राकृत द्व्याश्रय आठ सर्गों में विभक्त है। प्राकृत द्व्याश्रय में कुमारपाल के नित्य जीवन का परिचय दिया है ।

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और एक ही अर्थ के अनेक शब्द होते हैं, इस हेतु हेमचन्द्राचार्यजी ने **अभिधान-चिन्तामणि** और **अनेकार्थ संग्रह** नामक दो शब्दकोशों की भी रचना की ।

सिद्धहैम व्याकरण की परीक्षा–10

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने एक वर्ष तक निरंतर श्रम लेकर **'सिद्धहेमशब्दानुशासनम्'** संस्कृत-प्राकृत व्याकरण की रचना की ।

सिद्धराज-जयसिंह ने उसकी भूरिभूरि अनुमोदना की परंतु कुछ तेजोद्वेषी ब्राह्मण पंडितों ने महाराजा के कान फूँकते हुए कहा, 'यह व्याकरण स्वतंत्र रचना रूप नहीं है, क्योंकि यह तो अनेक व्याकरणों के अवतरण लेकर तैयार किया गया है, अतः इसे **'संकलन'** जरूर कह सकते हैं, परंतु इसे स्वतंत्र रचना कैसे कहा जाय ?'

अनेक पंडितों ने व्याकरण की स्वतंत्र रचना को सिद्ध करने के कई प्रमाण दिए, परंतु विरोधी लोग इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हुए ।

आखिर निर्णय लिया गया कि इस ग्रंथ की स्वतंत्र रचना की सिद्धि के लिए **'जल-दिव्य'** किया जाय ।

'इस व्याकरण को पानी के कुंड में डाला जाय, यदि यह ग्रंथ जलसतह पर तैरता है तो इसकी स्वतंत्र रचना स्वतः सिद्ध हो जाएगी ।'

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी को पूर्ण आत्मविश्वास था और **'जलदिव्य'** के लिए उन्होंने अपनी सहमति दे दी ।

उन्होंने कहा, `काश्मीर में रही सरस्वतीदेवी की कृपा से इस ग्रंथ का नवसर्जन हुआ है तो क्यों न यह **'जल-दिव्य'** भी काश्मीर जाकर सरस्वती-कुंड में ही किया जाय ।

सिद्धराज ने भी अपनी सहमति दे दी-आखिर एक शुभदिन सिद्धराज के प्रधान के साथ तेजोद्वेषी ब्राह्मण उस सिद्धहेम व्याकरण को लेकर काश्मीर पहुँच गए । उनके मन में यही शंका थी कि यह व्याकरण जैसे ही जल में डाला जाएगा जलशरण हो जाएगा । इससे यह ग्रंथ तो नष्ट होगा ही, इसके साथ, कलिकालसर्वज्ञ की इज्जत पर भी कालिमा छा जाएगी ।

परंतु जैसे ही उन पंडितों ने वह ग्रंथ सरस्वती-कुंड में रखा वह ग्रंथ डूबने के बजाय पानी की सतह पर ही नाव की भाँति तैरने लगा । हेमचन्द्राचार्यजी के पुण्य प्रभाव से जब यह ग्रंथ जल सतह पर तैरने लगा, यह दृश्य देख तेजोद्वेषी ब्राह्मणों का मुँह उतर गया ।

आखिर सत्य की ही जीत होती है । जैसे ही ये समाचार पाटण में सिद्धराज और हेमचन्द्राचार्यजी को मिले उनकी खुशी का पार न रहा ।

उसके बाद `सिद्धहेम व्याकरण' का चारों ओर खूब—खूब प्रचार हुआ ।

समर्थ व्याख्याता—11

एक बार सिद्धराज की राजसभा में आमिग नामक पुरोहित ने ईर्ष्या से प्रेरित होकर हेमचन्द्राचार्यजी से प्रश्न किया—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो ये चाम्बुपत्राशना—
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्टैव मोहं गता ।
आहारं सुदृढं पुनर्बलकरं ये भुञ्जते मानवा—
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यः प्लवेत् सागरे ।।

अर्थ : ``विश्वामित्र और पराशर ऋषि आदि जल और पत्र-भोजी थे, फिर भी लावण्यपूर्ण स्त्री के मुख कमल को देखकर मोहित हो गए तो जो मनुष्य सुन्दर पुष्टिकर रसवती का भोजन करके इन्द्रिय निग्रह कर सके...तब तो विन्ध्य पर्वत सागर में तैर जाय ।''

श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी के विराट् व्यक्तित्व पर शंका कर ईर्ष्याग्रस्त होकर आमिग ने उपर्युक्त बात कही परन्तु अत्यन्त प्रतिभावन्त हेमचन्द्राचार्यजी ने भी उसकी समस्या का सुन्दर समाधान करते हुए कहा:—

``सिंहो बली हरिणशूकरमांसभोजी, स वत्सरेण रतिमेति किलैकवारम् ।
पारापतः खरशिलकणभोजिनोऽपि, कामी भवत्यनुदिनं वद कोऽत्र हेतुः ?

अर्थ : ``बलवान ऐसा सिंह हिरण, सुअर आदि का मांस खानेवाला है फिर भी वर्ष में एक ही बार विषयसेवन करता है, जबकि कबूतर, कंकड़ और धान्य खाता है फिर भी निरंतर कामी बना रहता है । कहो, इसका क्या कारण है ?'' आचार्यश्री के मुख से युक्ति-सम्पन्न जवाब सुनकर राजा अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने ईर्ष्यालु आमिग को उपालम्भ दिया ।

आचार्यश्री के मुख से इस बात को सुनकर सिद्धराज अत्यन्त ही प्रभावित हो गया ।

◆ सिद्धराज के कोई सन्तान नहीं थी...इसका उसे अत्यन्त ही दुःख था । पुत्रकामना से उसने सोमनाथ आदि तीर्थों की यात्रा करने का संकल्प किया और इस यात्रा के लिए उसने अपनी तैयारियाँ आरम्भ कर दी । सिद्धराज ने हेमचन्द्राचार्यजी को भी इस यात्रा में पधारने के लिए आमन्त्रण दिया । दीर्घद्रष्टा हेमचन्द्राचार्यजी ने तत्काल उसके आमन्त्रण को स्वीकार कर लिया ।

शुभ मुहूर्त में यात्रा का मंगल प्रारम्भ हुआ ।

हेमचन्द्राचार्यजी ने विहार (पद) यात्रा प्रारम्भ की । आचार्यश्री को पैदल चलते देखकर सिद्धराज ने उन्हें पालखी में बैठने के लिए आग्रह किया ! किन्तु करुणा के महासागर हेमचन्द्राचार्यजी ने पालखी में बैठने से इन्कार कर दिया । आचार्यजी ने उसे समझाया **``जैन मुनि कभी भी वाहन में नहीं बैठते हैं क्योंकि उससे जीवों की विराधना होती है । जीव-रक्षा के पालन के लिए वे सदैव पैदल ही चलते हैं ।''**

यह बात सुनकर सिद्धराज को बड़ा आश्चर्य हुआ और दो-चार दिन बाद जब उसने पुनः आचार्यश्री को कांजी और नीरस अन्न का भोजन करते हुए देखा...तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही और वह आचार्यश्री के पवित्र सात्त्विक और त्यागमय जीवन से अत्यन्त ही प्रभावित हुआ ।

क्रमशः विहार करते हुए यह यात्रा-संघ सिद्धगिरि की पावन धरती पर पहुँच गया । सिद्धराज ने आचार्यश्री के साथ शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा की । परमात्मा आदिनाथ के दर्शन कर सभी भावविभोर बन गए । सिद्धराज ने उदारतापूर्वक इस पावन तीर्थ पर अपनी लक्ष्मी का सद्व्यय किया ।

सिद्धगिरि की यात्रा पूर्ण कर यह यात्रासंघ गिरनार तीर्थ पर पहुँचा और आचार्यश्री के साथ सिद्धराज ने नेमिनाथ प्रभु के भावपूर्वक दर्शन किये और वहाँ से प्रयाण कर सोमनाथ आए । कुछ ईर्ष्यालु ब्राह्मणों के दिल में शंका थी कि हेमचन्द्राचार्यजी सोमनाथ की यात्रा नहीं करेंगे, परन्तु जब सिद्धराज के साथ हेमचन्द्राचार्यजी को शिवालय में जाते देखा तो उनके आश्चर्य का पार न रहा । वीतराग की स्तुति करते हुए श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी बोले–

``यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवा-नेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ।।''

अर्थ : ``जिस किसी समय में...जो कोई..जिस किसी नाम से हो...भगवन् ! यदि आप दोष और मलरहित हो तो आपको मेरा नमस्कार हो ।''

आचार्यश्री के मुख से इस स्तुति को सुनकर सिद्धराज अत्यन्त ही प्रभावित हुआ ।

सोमनाथ की यात्रा के बाद सिद्धराज ने हेमचन्द्राचार्यजी को पूछा, ``मुझे सन्तान होगी या नहीं ? मेरे बाद गुजरात का राजा कौन बनेगा ?''

आचार्यश्री ने अट्ठम तप की आराधना कर अंबिका देवी की साधना की । प्रसन्न होकर देवी ने कहा, ***``सिद्धराज को कोई सन्तान नहीं होगी और दधिस्थली निवासी त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल भावी में गुजरात का सम्राट् बनेगा ।''***

यात्रा की समाप्ति के बाद सिद्धराज अपने महल में लौट आया । ``मुझे कोई संतान नहीं होगी और भावी में कुमारपाल राजा बनेगा ।'' यह जानकर सिद्धराज के हृदय में कुमारपाल के प्रति अत्यन्त

ही द्वेष भाव उत्पन्न हो गया और कुमारपाल की हत्या के लिए उसने अनेकविध षड्यन्त्र रचे, परन्तु जिसका भाग्य बलवान होता है, उसका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता है।

सिद्धराज ने कुमारपाल की हत्या के लिए कुछ चुनिंदे सैनिकों को आदेश दिया, किन्तु कुमारपाल को इस षड्यन्त्र की गन्ध मिल जाने से उसने गुप्त वेष धारण कर अत्यन्त दूर प्रयाण कर दिया। सिद्धराज ने कुमारपाल को खत्म करने के लिए अनेक जाल रचे, किन्तु वह उसके जाल में फँसा नहीं और सिद्धराज की मृत्यु के बाद कुमारपाल गुजरात के राजा बने !

हाजिर-जवाबी–12

सिद्धराज की सभा खचाखच भरी हुई थी। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी भी अपनी तेजस्वी प्रतिभा से सभा को सुशोभित कर रहे थे।

अचानक ही ब्राह्मणों में से किसी ने जैनों व जैनाचार्य के ऊपर आक्षेप करते हुए कहा, ***'सूर्य का तो सभी सम्मान करते है, परंतु ये जैन लोग सूर्य को बिल्कुल मान-सम्मान नहीं देते हैं।'***

इस बात को सुनकर गुजरात का सम्राट् सिद्धराज भी विचारमग्न हो गया। उसने `हेमचन्द्राचार्यजी की ओर अपनी दृष्टि डाली। उसी समय हेमचन्द्राचार्यजी ने मुँहतोड़ जवाब देते हुए कहा,

`अधामधामधामानं, वयमेव सदा हृदि।
यस्यास्ते व्यसने प्राप्ते, त्यजामो भोजनोदके॥

कौन कहता है कि जैन लोग सूर्य को नहीं मानते हैं ? सूर्य को जैन लोग जितना बहुमान देते हैं, उतना कोई नहीं देता है।

किसी ने पुनः प्रश्न किया, यह कैसे ?

हेमचन्द्राचार्यजी ने कहा, **'सूर्य के आगमन की प्रतीक्षा करने के बाद कम–से–कम दो घड़ी तक जैन लोग आहार-पानी भी ग्रहण नहीं करते है और उसके अस्त होने के बाद तो संपूर्ण आहार-पानी का त्याग कर देते हैं।'**

कहो, इतना आदर-सम्मान और कौन देता है ? अरे ! सूर्योपासना का गर्व लेने वाले तो सूर्योदय के समय जलधारा कर संतोष मान लेते हैं, परंतु वे ही सूर्यास्त के बाद मजे से रात्रि में भोजन करते हैं तो उनकी सूर्योपासना कहाँ गई ?

हेमचन्द्राचार्यजी के श्रीमुख से इस प्रत्युत्तर को सुनकर सभी मौन हो गए।

अद्भुत-प्रतिभा–13

सिद्धराज के दरबार में दिगंबराचार्य कुमुदचंद्र के साथ श्वेतांबर आचार्य वादिदेवसूरिजी का स्त्री-मुक्ति के संदर्भ में वाद निश्चित हुआ था।

वाद में यह शर्त थी कि दिगंबर यदि हार जाएँ तो पाटण छोड़कर चले जाएँ और श्वेतांबर यदि हार जाएँ तो वे श्वेतांबर धर्म छोड़कर दिगंबर बन जायें।

शास्त्रार्थ के लिए वि.सं. 1181 वैशाख सुदी-15 का दिन निश्चित किया गया था।

दिगंबर आचार्य के साथ अन्य पंडित भी आए थे। श्वेतांबर आचार्य के साथ आ. हेमचन्द्रसूरिजी आदि भी उपस्थित थे।

शास्त्रार्थ में अभी कुछ समय था । अचानक ही आ. कुमुदचंद्र ने मजाक करते हुए आ. हेमचन्द्रसूरिजी को कहा, **`पीतं तक्रम् ?'**

उसी समय हेमचंद्रसूरिजी ने कहा, `आप झूठ क्यों बोलते हो ?'

तक्रं तु श्वेतं भवति न तु पीतं ! छाछ तो सफेद होती है, पीली नहीं होती है ।

थोड़ी देर बाद आ. कुमुद्रचंद्र ने कहा, `अरे ! तू तो अभी बालक है, क्या मुझे तेरे साथ वाद करना है ?'

हेमचंद्रसूरिजी ने कहा, **`बालक तो कौन कहलाता हैं, जिसे लंगोटी भी पहिनना नहीं आता है । मैं बालक कैसे ? मैंने तो पूरे कपड़े पहने हैं । अतः बालक तो आप ही हैं ।'**

हेमचंद्रसूरिजी ने अपनी प्रतिभा के बल से अपने को बालक कहनेवाले को ही बालक सिद्ध कर दिया ।

व्रत-निष्ठा–14

वि.सं. 1208 में सम्राट् कुमारपाल महाराजा ने अपने 18 देशों में जीवदया का प्रवर्तन कराया था ।

उसके बाद कुमारपाल ने गुरुमुख से मोक्षमार्ग के स्वरूप को अच्छी तरह से जाना और समझा ! कुमारपाल ने अपने गुरुदेव को अपनी योग्यता-पात्रतानुसार व्रत प्रदान करने के लिए निवेदन किया ।

कुमारपाल की योग्यता-पात्रता को देख गुरुदेव ने वि.सं. 1216 मार्गशीर्ष शुक्ला दूज के शुभ दिन प्रभुसान्निध्य में सकल संघ की साक्षी में उन्हें श्रावक व्रत के अलंकार स्वरूप बारहव्रत प्रदान किए । सकल संघ ने कुमारपाल को `परमार्हत्' अर्थात् `श्रेष्ठ श्रावक' का विरुद प्रदान किया ।

साहित्य-प्रेम–15

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी की साहित्यसर्जन की यात्रा निरंतर आगे बढ रही थी ।

हेमचन्द्राचार्यजी के नवसर्जन को लिखनेवाले लहिया-ताड़पत्रों पर उनका आलेखन करते थे ।

एक बार कुमारपाल गुरुदेव को वंदन के लिए उपस्थित हुए ।

कुमारपाल ने देखा, **`गुरुदेव के नवसर्जन का कागजों पर आलेखन हो रहा है ।'**

उसने पूछा, **`भगवंत ! ताड़पत्रों पर किया आलेखन लंबे समय तक टिक सकता है तो कागजों पर आलेखन क्यों ?'**

गुरुदेव ने कहा, मेरी तो भावना है कि ग्रंथों को चिरंजीवी बनाने के लिए कागज के बजाय ताड़पत्रों पर ही आलेखन होना चाहिए ।

`तो फिर यहाँ ताड़पत्रों पर आलेखन क्यों नहीं हो रहा है ?'

`कुमारपाल ! अभी ताड़पत्र उपलब्ध नहीं हो रहे हैं ।'

गुरुदेव के मुख से इस बात को सुनकर कुमारपाल महाराजा को खूब खेद हुआ ।

वह सोचने लगा, `अहो ! गुरुदेव यह महान् सर्जन कर रहे है और मैं सम्राट् होने पर भी ताड़पत्रों

का प्रबंध नहीं कर पा रहा हूँ। धिक्कार हो मेरी राज्यसत्ता को ! इस प्रकार विचार कर कुमारपाल ने वहीं अभिग्रह ले लिया, **'जब तक ग्रंथ–आलेखन के लिए ताड़पत्र उपलब्ध नहीं होते हैं, तब तक मैं चारों आहार का त्याग कर उपवास करूंगा ।'**

कुमारपाल ने चोविहार उपवास चालू कर दिए। कुमारपाल की इस दृढ़ता से शासनदेव जागृत हुए और तीसरे उपवास के दिन कुमारपाल को समाचार मिले कि वन-उपवन में ताड़पत्र के वृक्ष उग गए हैं।

बस, ताड़पत्रों की प्राप्ति के बाद ही कुमारपाल ने तीसरे उपवास का पारणा किया।

जीव दया प्रवर्तन–16

श्री वीरे परमेश्वरेऽपि भगवत्याख्याति धर्मं स्वयं,
प्रज्ञावत्यभयेऽपि मन्त्रिणि न यां कर्तुं क्षमः श्रेणिकः ।
अक्लेशेन कुमारपालनृपतिस्तां जीवरक्षां व्यधाद्
यस्याऽऽस्वाद्य वचःसुधां स परमः श्री हेमचन्द्रो गुरुः ।।

जिस समय मगध की पवित्र भूमि पर अहिंसा धर्म के पुजारी, अहिंसा धर्म के उद्‌घोषक भगवान महावीर परमात्मा स्वयं विद्यमान थे।

मगध के सम्राट् श्रेणिक महाराजा भी उनके परम भक्त थे और बुद्धिनिधान अभयकुमार भी प्रभुवीर को समर्पित थे।

धर्मसत्ता और राज्यसत्ता दोनों का सानुकूल संयोग होने पर भी श्रेणिक महाराजा अपने राज्य में जिस जीवदया का पालन न करा सके, ऐसी जीवदया का पालन प्रभु महावीर के शासन में हुए महाप्रभावक कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्यजी के उपदेश को प्राप्त कर कुमारपाल राजा ने करवाया था। राजस्थान के रतनपुर और किराडू क्षेत्र में आज भी वे शिलालेख विद्यमान हैं, जिससे ख्याल आता है कि कुमारपाल ने 18 देशों में जीवदया का पालन करवाया था।

कच्छ, सौराष्ट्र, गुजरात व राजस्थान में तो अपनी सत्ता के बल पर हिंसा पर पूर्ण प्रतिबंध लगाया था तो अन्य राज्यों में भी मैत्री आदि के माध्यम से जीवदया प्रवर्तन कराया था।

साहित्य-साधना–17

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ने स्व-पर कल्याण के लिए अपने जीवनकाल में साढ़े तीन करोड़ श्लोक प्रमाण साहित्य की रचना की। दुर्भाग्य से अजयपाल आदि दुष्ट शासकों ने उस अमूल्य महानिधि को अत्यधिक क्षति पहुँचाई...जिसके फलस्वरूप हम आचार्यश्री की पूर्ण साहित्य– संपदा प्राप्त न कर सके...फिर भी जो कुछ उनका साहित्य विद्यमान है...वह साहित्य जगत् में एक गौरवपूर्ण स्थान लिये हुए है। उपलब्ध साहित्य का अल्प परिचय यहाँ दिया जा रहा है–

1. 'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'–मूल संस्कृत सूत्र 3566, प्राकृत सूत्र 119, रचनाकाल संवत् 1193.

2. सिद्धहेमचन्द्र लघुवृत्ति—6000 श्लोक प्रमाण ।

3. सिद्धहेमचन्द्र बृहद्वृत्ति—(तत्त्वप्रकाशिका) 18000 श्लोक प्रमाण ।

4. सिद्धहेमचन्द्र बृहन्न्यास—84000 श्लोक प्रमाण (जो आंशिक रूप से उपलब्ध है ।)

5. लिंगानुशासन—शब्दों के लिंग संबंधी विस्तृत जानकारी का संग्रहग्रन्थ ।

6. लिंगानुशासन-वृत्ति—लिंगानुशासन के मूल 138 श्लोकों पर 3684 श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका ।

7. उणादिगण पाठवृत्ति—उणादि सूत्रों पर 3250 श्लोक प्रमाण टीका ।

8. धातुपारायण—धातु पाठ पर विस्तृत टीका—5600 श्लोक प्रमाण ।

9. प्राकृत व्याकरण टीका—शौरसेनी, मागधी, पिशाची, चुलिका तथा अपभ्रंश आदि छह भाषाओं के सूत्रों पर टीका ।

10. अभिधान चिंतामणि कोशवृत्ति—अभिधान चिंतामणि एक विस्तृत शब्द कोश है । उसके 1441 श्लोकों पर 10,000 श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका है ।

11. अनेकार्थसंग्रह—1829 श्लोक प्रमाण ।

12. निघंटु शेष—396 श्लोक प्रमाण है ।

13. देशी नाममाला—यह 3500 श्लोक प्रमाण है ।

14. काव्यानुशासन-अलंकार और विवेक—वृत्तिव्युक्त ।

15. द्वयाश्रय महाकाव्य—संस्कृत व्याकरण के सूत्रों के प्रयोग के साथ इसमें चौलुक्यवंश का विस्तृत वर्णन है ।

प्राकृतद्वयाश्रय—में प्राकृत सूत्रों के प्रयोग के साथ कुमारपाल के चरित्र का सुंदर वर्णन है ।

16. छंदानुशासन—764 श्लोक प्रमाण इस ग्रंथ में छंद संबंधी विस्तृत जानकारी है ।

17. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र—इस ग्रंथ में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव और 9 प्रतिवासुदेव के चरित्रों का विस्तृत वर्णन है । यह ग्रंथ 36000 श्लोक प्रमाण है ।

18. परिशिष्ट पर्व—इसमें भगवान महावीर से लेकर वज्रस्वामी तक के जैन इतिहास का भव्य वर्णन है । यह ग्रंथ 3500 श्लोक प्रमाण है ।

19. अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका—32 श्लोक प्रमाण इस ग्रंथ में आचार्यश्री ने जैन दर्शन की मान्यताओं का सुंदर संकलन किया है । इस ग्रंथ पर नागेन्दुगच्छीय आचार्यश्री मल्लिषेणसूरिजी म. ने 3000 श्लोक प्रमाण **स्याद्वादमंजरी** नामक टीका रची है ।

20. अयोग व्यवच्छेदद्वात्रिंशिका—32 श्लोक प्रमाण । इसमें महावीरदेव की स्तुति है ।

21. प्रमाण मीमांसा—जो अपूर्ण उपलब्ध है ।

22. वीतराग स्तोत्र—189 श्लोक प्रमाण इस ग्रन्थ में वीतराग के वास्तविक स्वरूप का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है ।

23. योग शास्त्र—इस ग्रन्थ में योग के स्वरूप का बहुत ही मार्मिक शैली से वर्णन किया गया है ।

12 प्रकाश में विभक्त इस ग्रन्थ पर आचार्यश्री ने 12570 श्लोक प्रमाण अत्यन्त ही विस्तृत टीका की रचना की है । इसका अपरनाम **अध्यात्मोपनिषद्** है ।

24. महादेव स्तोत्र–44 श्लोक प्रमाण इस ग्रन्थ में **`महादेव'** के स्वरूप का वर्णन है ।

इसके सिवाय आचार्यश्री ने **सप्तसंधान महाकाव्य, द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, अर्हन्नीति** आदि अनेक ग्रन्थों की भी रचना की है ।

सिद्धहेम व्याकरण की उपयोगिता : अपने मानसिक विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए हमें किसी न किसी `भाषा' Language का आलंबन लेना पड़ता है और उस भाषा के सही प्रयोग के लिए उस `भाषा' के व्याकरण को जानना अत्यन्त ही अनिवार्य है ।

संस्कृत यह देववाणी (भाषा) है । अधिकांशतः अन्य भाषाओं की उत्पत्ति का आधार संस्कृत भाषा ही है । संस्कृत विद्वद्भोग्य भाषा है । पूर्वकालीन महापुरुषों ने अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए इस भाषा का ठीक आलंबन लिया है । आस्तिक दर्शनकारों के अधिकांश ग्रन्थ इसी भाषा में उपलब्ध हैं । उन महापुरुषों की अमूल्य निधि के बोध के लिए भाषा का ज्ञान अत्यन्त ही अनिवार्य है ।

शास्त्र को यदि निधि की उपमा दी जाय तो व्याकरण को चाबी की उपमा देना योग्य होगा !

किसी ने ठीक ही कहा है–

`व्याकरणात् पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थ-निर्णयो भवति ।
अर्थात् तत्त्वज्ञानं, तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः ॥'

अर्थ : `व्याकरण से पद की सिद्धि होती है । पदसिद्धि से अर्थ का निर्णय होता है । अर्थ-निर्णय से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान से परमश्रेय (मोक्ष) की प्राप्ति होती है ।'

इस प्रकार इस व्याकरण के बोध का अनंतर फल पद-सिद्धि और परंपर-फल मोक्ष की प्राप्ति है । संस्कृत साहित्य के बोध के लिए संस्कृत व्याकरण का बोध अनिवार्य है । संस्कृत व्याकरण भी अनेक हैं, परन्तु हमें जो विशेषताएँ सिद्धहेमव्याकरण में देखने को मिलती हैं, वे शायद ही अन्यत्र मिल सकेंगी ।

इस व्याकरण की शुद्धता, सरलता और सांगोपांगता को देखकर ही एक तत्कालीन विद्वान् ने गाया था :–

भ्रातः ! संवृणु पाणिनि–प्रलपितं कातंत्रकन्था वृथा,
मा कार्षीः कटुशाकटायन-वचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम् ?
किं कण्ठाभरणादिभिर्बठरयस्यात्मानमन्यैरपि,
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुरा श्रीसिद्धहेमोक्तयः ॥9॥ (प्रबंध चिंतामणी)

अर्थ : `अरे भाई ! यदि श्री सिद्धहेम व्याकरण के अर्थमधुर वचन सुनाई दे रहे हैं...तो फिर पाणिनि के प्रलाप को रोक दें, कातंत्र की कंथा को व्यर्थ मान, शाकटायन के कटुवचन का उच्चार मत कर, अल्प प्रमाणवाले चान्द्र व्याकरण से भी क्या मतलब है ? और कण्ठाभरण आदि अन्य व्याकरणों से भी अपने आपको जड़ क्यों बनाते हो ?

सिद्धहेम व्याकरण की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं :–

1. सूत्र रचना अत्यन्त ही सरल है ।

2. भिन्न-भिन्न विषयों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकरण किए गए हैं, जिससे तत्सम्बन्धी विषय की जानकारी उसी प्रकरण से हो जाती है ।

3. सूत्रों को संक्षिप्त करने के लिए अनेक संज्ञाएँ की गई हैं । उन संज्ञाओं को समझ लेने के बाद आगामी विषय को समझने में देरी नहीं लगती है ।

4. पाणिनि व्याकरण की संज्ञाएँ दुर्गम और क्लिष्ट हैं, जब कि सिद्धहेम की संज्ञाएँ अत्यन्त सरल और सुवाच्य हैं ।

5. श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने व्याकरण के पाँचों अंगों की रचना स्वयं की है । सूत्रपाठ, उणादिगणसूत्र, लिंगानुशासन, हेमधातुपारायण और गणपाठ की रचना करके हेमचन्द्राचार्यजी ने व्याकरण को परिपूर्ण बना दिया है ।

6. व्याकरण के समस्त सूत्रों के Practical प्रयोग रूप `द्व्याश्रय महाकाव्य' की रचना करके हेमचन्द्राचार्यजी ने एक भगीरथ कार्य किया है ।

हाजिर जवाब–18

सिद्धराज की राजसभा में अनेक दिग्गज विद्वान् पंडित थे । सिद्धराज के दिल में हेमचन्द्राचार्यजी के प्रति विशेष आदर-बहुमान देखकर ब्राह्मण पंडित मनोमन ईर्ष्या से जलते थे ।

एक बार हेमचन्द्राचार्यजी को राजसभा में आते हुए देखकर ईर्ष्या से जल रहे एक पंडित ने कहा, **`आगतो हेम गोपालो दण्डकम्बलमुद्वहन् ।'**

अर्थ : `हाथ में दंड और कंबल लेकर यह हेम गोपाल आ गया है ।'

उसी समय हाजिर जवाब हेमचन्द्राचार्यजी ने जवाब दिया–

`षड्दर्शनपशुप्रायांश्चारयन् जैनवाटके ।'

अर्थ : जैन धर्म रूपी बाड़ी में षड् दर्शन रूपी पशुओं को चरानेवाला मैं गोपाल हूँ ।

हेमचन्द्रसूरिजी म. के मुख से इस जवाब को सुनकर वह ब्राह्मण निरुत्तर हो गया ।

एक बार हेमचन्द्राचार्यजी का पाटण में भव्य नगरप्रवेश था । उस समय हेमचन्द्राचार्यजी खादी की एक चादर (कपड़ा) पहने हुए थे । कुमारपाल ने जब यह देखा तब उसे बड़ा खेद हुआ ।

उसने कहा, `गुरुदेव ! आप इस शुभ प्रसंग पर हल्की चादर क्यों ओढ़े हुए हो ? इसमें मेरा और आपका अपमान नजर आता है ।'

आचार्यश्री ने कहा, `राजन् ! यह चादर तो मुझे अमुक गाँव के श्रावक ने भक्तिपूर्वक बहोराई है । उनकी स्थिति सामान्य है...अतः वे कीमती वस्त्र कैसे बहोरा सकेंगे ? राजन् ! तेरे शासन में साधर्मिक की ऐसी स्थिति है, इसका तुझे ख्याल रखना चाहिए ।'

कुमारपाल के लिए यह इशारा पर्याप्त था । उसी समय कुमारपाल ने साधर्मिकों के उद्धार की प्रतिज्ञा की और अपने जीवन में साधर्मिकों के उद्धार के लिए बहुत प्रयत्न किये ।

कुमारपाल द्वारा व्याकरण का अभ्यास–19

एक बार किसी कवि ने आकर कुमारपाल की स्तुति की । स्तुति सुनकर कुमारपाल प्रसन्न होकर बोले **``राजा को मेघ की उपम्या अच्छी दी है ।''**

राजा के इस वाक्य को सुनकर कपर्दी मन्त्री ने शर्म से अपना मुँह नीचे कर लिया ।

कुमारपाल ने इसका कारण पूछा । मन्त्री ने कहा, ``व्याकरण नहीं पढ़ने के कारण शब्दों के अशुद्ध प्रयोग से देशांतर में अपकीर्ति होगी...इस शर्म से मैंने सिर नीचा कर लिया ।''

इस घटना के बाद कुमारपाल ने संस्कृत व्याकरण सीखने का दृढ़ संकल्प किया और आचार्यश्री के शुभाशिष को प्राप्त कर उसने एक ही वर्ष में **'सिद्धहेम व्याकरण'** का अभ्यास कर लिया...और उसके बाद तो उन्होंने संस्कृत भाषा में परमात्मा की भाववाही स्तुतियाँ भी रचीं ।

दूसरों की निंदा करना और खुद की प्रशंसा करना खूब आसान है, परंतु स्वयं की निंदा करना और दूसरों की प्रशंसा करना खूब कठिन है ।

कुमारपाल महाराजा ने प्रभु के आगे अपने जीवन की किताब को एकदम खुली की है ।

अपने दोषों के स्वीकार में पापमल के प्रक्षालन की अपूर्व शक्ति रही हुई है ।

इन स्तुतियों में भावों की ऊर्मियाँ उछल रही हैं ।

वर्तमान काल में भी अनेक पुण्यवंत आत्माएँ इन स्तुतियों के माध्यम से अपने आत्म-दोषों का निवेदन कर अपनी आत्मा की विशुद्धि कर रही हैं ।

हेमचन्द्राचार्यजी की चिर विदाई–20

एक बार किसी योगी को पता चला कि **हेमचन्द्रसूरिजी म.** के मस्तक में मणि है । उस मणि को प्राप्त करने की दुर्भावना से वह आचार्य भगवंत के नजदीक आने लगा । सहजता से तो मणि मिलना मुश्किल था, अतः वह अन्य-अन्य उपाय सोचने लगा । आखिर उसने सोचा, **``आचार्यश्री की मृत्यु के बिना वह मणि प्राप्त करना मुश्किल है ।''** मणि के लोभ से वह आचार्य भगवंत की मृत्यु का उपाय सोचने लगा ।

एक दिन आचार्यजी के शिष्य गोचरी बहोरकर उपाश्रय में आ रहे थे, तभी उस योगी ने उस शिष्य को रोका । बात–ही–बात में शिष्य का ध्यान चुकाकर उसने आहार की झोली में हाथ डाल दिया और अपने नाखून में रहा विष एक लड्डू पर लगा दिया । शिष्य को इस बात का कोई ख्याल न रहा । वह गोचरी वहोर कर उपाश्रय में आया । भाग्ययोग से विषमिश्रित लड्डू आचार्यश्री के ही पात्र में आ गया । भवितव्यता के योग से उन्होंने वह लड्डू वापर लिया । थोड़ी ही देर बाद जहर का असर दिखाई दिया ।

आचार्यश्री ने गोचरी लानेवाले मुनि को पूछा, **``आज गोचरी में कहीं गड़बड़ हुई है क्या ?''**

मुनि ने कहा, **``ऐसे तो सब श्रावकों के घर से ही गोचरी आई है-परंतु बीच मार्ग में एक योगी मिला था, उसने आहार की झोली में जरूर हाथ डाला था ।''**

आचार्यश्री समझ गए कि यह सब माया-कपट उस योगी का लगता है ।

आचार्य भगवंत ने कहा, **``अवश्यंभावी भाव को बदलने में कोई समर्थ नहीं है, अतः अब अन्य किसी प्रकार की चिंता न करें।''** अपने अंत समय को नजदीक देखकर उन्होंने कहा, **``अब विषनिवारण के लिए कुछ भी औषध उपचार न करें। मेरे देह-त्याग के बाद मेरा अग्नि-संस्कार यहीं कर देना। मृत देह को बाहर मत ले जाना। दूध से भरा पात्र मेरे मस्तक के पास रखना। उसमें मेरे मस्तक का मणि गिरेगा।''**

उसके बाद पूज्य आचार्यश्री ने अरिहंत आदि की शरणागति स्वीकार की। अपने दुष्कृतों की निंदा की और जगत् में हो रहे सभी सुकृतों की अनुमोदना की। फिर दसवें द्वार से अपने प्राण छोड़ दिये। शोकातुर बने कुमारपाल आदि ने आचार्यश्री के देह पर चंदन का विलेपन किया। फिर उनकी अंतिम यात्रा निकली। अंतिम यात्रा में हजारों लोग जुड़े।

अग्निसंस्कार के बाद कुमारपाल ने थोड़ी सी भस्म ली। फिर सभी ने वहाँ से भस्म ली। परिणामस्वरूप वहाँ खड्डा हो गया, जिसका नाम हेमखड्डा पड़ा।

इस प्रकार 1145 कार्तिक सुदी पूनम को पैदा हुए आचार्यश्री ने 84 वर्ष की उम्र में 1229 में चिर विदाई ली।

श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी एक महान् योगी थे, साहित्यकार थे...साक्षात् सरस्वती पुत्र थे...महाकवि थे...जिनशासन के बेजोड़ प्रभावक थे...और सचमुच ही वे कलिकालसर्वज्ञ थे।

आचार्यश्री के विद्यमान ग्रन्थों का अवलोकन कर पाश्चात्य विद्वान हर्मन जेकोबी आचार्यश्री को Ocean of Knowledge **``ज्ञान के महासागर''** कहते हैं।

सिद्धराज और कुमारपाल जैसे नृपतियों को प्रतिबोध कर...लाखों नर-नारियों को जिनशासन का रसिक बनाकर...84 वर्ष के दीर्घायुष्य को पूर्ण कर सिद्धस्वरूप के ध्यान में मग्न बन कर आचार्यश्री ने वि. संवत् 1229 में अपने देह का त्याग कर दिया।

आचार्यश्री के स्वर्गगमन से कुमारपाल और प्रजाजन को अत्यन्त ही आघात लगा। कुमारपाल के लिए तो यह विरहवेदना असह्य थी।

श्रद्धांजलि–21

क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छंदो नवं द्वयाश्रया–
ऽलंकारो प्रथितौ नवौ प्रकटितौ श्रीयोगशास्त्रनवं,
तर्के संजनितां नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं,
बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः ॥ (सोमप्रभसूरि)

नवीन व्याकरण, नवीन छन्दोनुशासन, नवीन द्वयाश्रय महाकाव्य, अलंकारशास्त्र, योगशास्त्र, प्रमाणशास्त्र तथा जिनेश्वरदेवों के चरित्रों की रचना करके (श्रीमद् हेमचंद्राचार्यजी ने) किस-किस प्रकार से मोह को दूर नहीं किया है ?

पूर्वं वीरजिनेश्वरे भगवति प्रख्याति धर्मं स्वयं,
प्रज्ञावत्यभयेऽपि मंत्रिणि न यां कर्तुं क्षमः श्रेणिकः।

अक्लेशेन कुमारपालनृपतिस्तां जीवरक्षां व्यधात्,
यस्याऽऽपीयं वचस्सुधां स परमः श्रीहेमचन्द्रो गुरुः ।। (पंडित श्रीधर)

जिसको साक्षात् वीर भगवान् धर्म का कथन करते थे और प्रज्ञावान् अभयकुमार जैसा मन्त्री था, वह राजा श्रेणिक भी जो जीव रक्षा न कर सका, वह जीव रक्षा, जिनके वचनामृतों का पान कर कुमारपाल सरलता से कर सका, वे **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** वास्तव में एक परम (महान्) गुरु है ।

अद्भुत शासन प्रभावना–22

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी के शासनकाल में जैनशासन का सूर्य मध्याह्न में तप रहा था ।

वीतराग प्रभु के शासन को प्राप्तकर सम्राट् कुमारपाल ने मात्र 14 वर्ष की अल्पावधि में जैनशासन की जो अद्भुत प्रभावना की थी उसकी किसी से तुलना नहीं कर सकते हैं ।

जन्मना अजैन और 18 राज्यों की विशाल जवाबदारी होने के बावजूद भी कुमारपाल ने जो सातों क्षेत्रों की भक्ति व सिंचन किया है, वह खूब–खूब अनुमोदनीय है ।

हेमचन्द्राचार्यजी की उपदेशवाणी से कुमारपाल ने अपने जीवन में–

1. तारंगा आदि स्थल में 1400 नवीन जिनमंदिरों का निर्माण कराया ।
2. **अठारह देशों में जीवदया का पालन कराया ।**
3. 1600 जिनमंदिरों का उद्धार कराया ।
4. **प्रतिवर्ष 1 करोड़ रु. साधर्मिक की भक्ति में खर्च किया ।**
5. 21 ज्ञानभण्डार बनवाए ।
6. **अपुत्रियों के धन का त्याग किया ।**
7. संपूर्ण राज्य में से सात व्यसनों को देशनिकाला दिया ।

❖ चंद्रकांतमणि से निर्मित 21 अंगुल प्रमाण पार्श्वनाथ प्रभु की रत्नमय प्रतिमा की कुमारविहार में प्रतिष्ठा ।

❖ **700 लहियों (ताड़पत्र या कागज पर ग्रंथों का आलेखन करनेवाले) के पास आगम पंचांगी सहित 45 आगमों का सोने की स्याही से 7 बार आलेखन कराया ।**

❖ शत्रुंजय के छ'री पालक संघ का आयोजन ।

TABLE OF CONTENTS

अनुक्रमणिका

चतुर्थोऽध्यायः

1. तृतीयः पादः 753

2. चतुर्थः पादः 790

पञ्चमोऽध्यायः

3. प्रथमः पादः 836

4. द्वितीयः पादः 885

5. तृतीयः पादः 916

6. चतुर्थः पादः 955

7. परिशिष्टम् 995

चतुर्थोऽध्याय तृतीयः पादः

नामिनो गुणोऽक्ङिति ॥ 4. 3. 1. ॥

नाम्यत्तस्य धातोः कित्ङित्वर्जिते प्रत्यये परे आसन्नो गुणो भवति । चेता, नेता, स्तोता, लविता, कर्ता, तरिता, जयति, नयति, जुहोति, भवति, बिभर्ति, तरति, करोति, एता एतीत्याद्यन्तवद्भावात् ।

नामिन इति किम् ? उम्भिता, याति, ग्लायति, म्लायतीति ऐकारोपदेशबलान्न गुणः । नीभ्याम्, लुभ्यामिति गौणत्वात् । अक्ङितीति किम् ? चितः, चितवान्, अशिश्रियत्, अदुद्रुवत्, लिल्ये लुलुवे, इतः, युतः ॥1॥

न्या०स०—नामिनो गु० कर्त्तेति-निर्दिश्यमानत्वात् ऋकारस्येवादेशो न त्वनेकवर्णः सर्वस्य । *ऐकारोपदेशबलादिति*-यद्वा गुण इति सान्वयसंज्ञेयं, तेन हानिरेव, न गुण उत्कर्षरूप इति तथा नौरिवाचरति नावति, नाव इवाचरणं नावा इत्यादौ न गुणः । *गौणत्वादिति*-नामार्थसंवलितधात्वर्थाभिधायित्वेन ।

उश्नोः ॥ 4. 3. 2. ॥

धातोः परयोरुश्नु इत्येतयोः प्रत्यययोरक्ङिति प्रत्यये परे गुणो भवति । तनोति, करोति, समर्णोति, तर्णोति, घर्णोति । धातोस्तु पूर्वेणोत्तरेण च गुणः । श्नु-सुनोति, सिनोति । अक्ङितीत्येव,—कुरुतः, सुनुतः ॥2॥

पुस्पौ ॥ 4. 3. 3. ॥

नाम्यन्तस्य धातो पुसि पौ च परे गुणो भवति । अबिभयुः, अजुहवुः, अबिभरुः, ऐयरुः, अजागरुः पु-अर्पयति, रेपयति, व्लेपयति, ह्रेपयति, क्नोपयति । नाम्यन्तस्येत्येव, अनेनिजुः, क्ष्मापयति, दापयति ॥3॥

न्या०स०—पुस्पौ-नन्वत्र पुग्रहणं किमर्थं ``अर्त्तिरीव्ली'' (4-2-21) इत्यत्र पोरागमत्वमपनीय प्रत्ययत्वे कृते ``नामिनो गुणः'' (4-3-1) इत्यनेनैव गुणः सेत्स्यति, आगमत्वे तु पोर्धातुग्रहणेन

ग्रहणात् अर्पयतीत्यत्रैव गुणः सिध्यति, रेपयतीत्यादौ तु गुरूपान्त्यत्वान्न सिद्ध्यति, प्रत्ययत्वे तु पोः सर्वत्र सिध्यति ? सत्य –पोः प्रत्ययत्वे कृतेऽरीरिपत् अदीदपदित्यादावुपान्त्यत्वाभावात् ``उपान्त्यस्यासमानलोपि'' (4-2-35) इत्यनेन ह्रस्वत्वं न स्यादिति ।

लघोरुपान्त्यस्य ।। 4. 3. 4. ।।

धातोरुपान्त्यस्य नामिनो लघोरक्ङिति प्रत्यये परे गुणो भवति । भेत्ता, गोप्ता, वर्तिता, भेदनम्, गोपनम्, वर्तनम्, वेत्ति, दोग्धि, नर्नर्ति । लघोरिति किम् ? ईहते, ऊहते ।

उपान्त्यस्येति किम् ? भिनत्ति, रुणद्धि, तृणत्ति, छृणत्ति । अक्ङितीत्येव, भिन्नः, भिन्नवान्, बेभिद्यते, मरीमृज्यते ।।4।।

न्या०स०–लघो०–ननु ``नामिनो गुण'' (4-3-1) इत्यनेनान्त्यविधानसामर्थ्यादनेनोपान्त्यस्यैव भविष्यति किमुपान्त्यग्रहणेन ?, न च वाच्यं पूर्वेणाक्ङिति गुणोऽनेन तु क्ङित्यपि गुणो भवत्वेतदर्थं, ``जागुः किति'' (4-3-6) ``ऋवर्णदृश'' (4-3-7) इति सूत्रद्वयकरणात् ?

न, लघोरिति सति जागर्त्तेः कित्येव गुण इति विपरीतनियमाशङ्का स्यात्, अनामिनो वा गुणः स्यात् इति संदेहनिरासार्थमुपान्त्यग्रहणम् ।

मिदः श्ये ।। 4. 3. 5. ।।

मिदेरुपान्त्यस्य श्ये परे गुणो भवति । मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति ।।5।।

जागुः किति ।। 4. 3. 6. ।।

जागर्तेः किति प्रत्यये परे गुणो भवति । जागरितः, जागरितवान्, जागर्यते, जागर्यात् । क्वौ जागः जजागरतुः, जजागरुः । कितीति किम् ? जागृतः, जाग्रति, जाग्रत्, जागृयात्, जागृविः । इह कस्मान्न भवति जजागृवानिति ? जागर्तेः क्वसुरनभिधानाद्भाषायां नास्तीत्येके । गुणमेवेच्छन्त्येके जजागर्वान् । अपरे तु क्वसुकानयोर्गुणप्रतिषेधमेवाहुः– जजागृवान्, व्यतिजजाग्राणः । क्ङिति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । अक्ङिति तु पूर्वेणैव गुणः,–जागरिता ।।6।।

न्या०स०–जागुः किति-जजागृवानितीति-एके सर्वथापीदं न मन्यन्तेऽतः परमतेन दर्शितम् ।

ॠवर्णदृशोङि ॥ 4. 3. 7. ॥

ॠवर्णान्तानां धातूनां दृशश्चाङि प्रत्यये परे गुणो भवति । मा भवानरत्, असरत्, असरताम्, अजरत्, अजरताम्, अदर्शत्, अदर्शताम् ॥7॥

स्कृच्छृतोऽकि परोक्षायाम् ॥ 4. 3. 8. ॥

स्कृ ऋछ इत्येतयोॠकारान्तानां च धातूनां नामिनः परोक्षायां परतो गुणो भवति, अकि ककारोपलक्षितायां क्वसुकानरूपायां न भवति ।

स्कृ, संचस्करतुः, संचस्करुः, ऋछ्-आनर्छ, आनर्छतुः, आनर्छुः । ऋत्, कॄ, विचकरतुः, विचकरुः, तॄ-तेरतुः, तेरुः, शॄ-विशशरतु, विशशरुः, दॄ-विददरतुः, विददरुः । पॄ,-निपपरतुः, निपपरुः । स्कृ इति कृगः सस्सट उपादानादिह न भवति, चक्रतुः, चक्रुः । उत्तरेणैव सिद्धे स्कृग्रहणमुत्तरत्रौपदेशिकसंयोगपरिग्रहार्थम् । विचकार निजगारेत्यादौ परत्वाद्वृद्धिरेव ।

अकीति किम् ? संचस्कृवान्, संचस्क्राणः, आनृच्छवान्, विचिकीर्वान्, वितितीर्वान्, वित्ततिराणः, विशिशीर्वान्, विशशिराणः, निपुपूर्वान्, निपपुराणः । काने पूर्वं द्वित्वम् पश्चादिरादिः स्वरविधित्वात् ॥8॥

न्या०स०—स्कृच्छृतो०-परिग्रहार्थमिति-तेन संस्क्रियते, संचेस्क्रीयते, संस्क्रियात् इत्यादौ ``क्यङाशीर्ये'' (4-3-10) इति गुणो न भवति । ``संयोगादृतः'' (4-4-37) इति इट् न विकल्पेन । *विततिराण इति*-व्यतिहारे कर्मण्यात्मनेपदम् । *विशशिराण इति*-विशशरे ``ॠः शॄदृप्रः'' (4-4-20) इत्यनेन नवा ॠत्वे विशश्रे इति वा वाक्ये ``तत्र क्वसु'' (5-2-2) इति कान प्रत्ययः, एवं निपपुराण इत्यत्रापि निपप्रे निपपरे वेति वाक्यम् ।

संयोगादृदर्तेः ॥ 4. 3. 9. ॥

संयोगात्परो य ऋकारस्तदन्तस्य धातोरर्तेश्च परोक्षायां परतो गुणो भवति, अकि । सस्मरतुः, सस्मरुः, सस्वरतुः, सस्वरुः, दध्वरतुः, दध्वरुः, दध्वरतुः, दध्वरुः, ह्वृ, जह्वरतुः, जह्वरुः, अर्तिः, आरतुः आरुः ।

संयोगादिति किम् ? चक्रतुः, चक्रुः । ऋदर्तेरिति किम् ? चिक्षियतुः, चिक्षियुः । गुणप्रतिषेधविषये पुनःप्रसवार्थं वचनम्, वृद्धिस्तु भवत्येव ? सस्मार, सस्वार, ऋतः संयोगेन विशेषणादर्तिग्रहणम् । तिव्निर्देश उत्तरार्थः ॥9॥

न्या०स०—संयोगा०-आरतुरिति—``इवर्णादेः'' (1-2-21) इति रत्वेनापि सिध्यति परमन्तरङ्गत्वात् ``अवर्णस्येवर्णादिना'' (1-2-6) इति । द्वित्वाकारस्याग्रेतनऋकारेण सह रत्वबाधकोऽरादेशो माभूदित्यर्त्तिग्रहणमुत्तरार्थं च, अथ अरादेशेऽपि ``अस्यादेराः'' (4-1-68) इत्यात्वे सेत्स्यति, तदपि न, यतो द्विर्वचने पूर्वाकारस्य ``अस्यादेः'' (4-1-68) इत्यात्वमऽभाणि आरिवानित्यत्र त्वन्तरङ्गत्वानाश्रयणात् रत्वमेव ।

उत्तरार्थ इति-इह यङ्लुबन्तस्यार्तेरनेकस्वरत्वात् परोक्षायामामि सति ``वेत्तेः कित्'' (3-4-51) इति सूत्रादामि परोक्षाकार्याऽभावान्न यङ् लुब्निवृत्त्यर्थमिति वाच्यं, तत्रामभावा-दामि च सिद्ध एव गुणो यथा अरराश्चकार अरियराश्चकारेति ।

क्य–यङाऽऽशीर्ये ।। 4. 3. 10. ।।

संयोगात्परो य ऋकारस्तदन्तस्य धातोरर्तेश्च क्ये यङि आशीःसंबन्धिनि ये च प्रत्यये गुणो भवति । स्मर्यते, स्वर्यते, अर्यते, सास्मर्यते, सास्वर्यते, अरार्यते, स्मर्यात्, स्वर्यात्, अर्यात् ।

औपदेशिकसंयोगग्रहणादिह न भवति-संस्क्रियते, संचेस्क्रीयते, संस्क्रियात् । ऋत इत्येव, आस्तीर्यते, आतेस्तीर्यते, आस्तीर्यात् । आशीर्य इति किम् ? स्मृषीष्ट, समृषीष्ट । अर्तेरिति तिव्निर्देशाद्यङ्लुपि न भवति । आरियात्, अग्रियात् ।।10।।

न्या०स०—क्यङा०—संस्क्रियत इति-कस्यादिरिति व्याख्यानेऽनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वात् ``धुटो धुटि'' (1-3-48) इत्येकस्य सस्य वा लुक् । *आरियादिति* यङ्लुपि द्वित्वे ``रिरौच'' (4-1-56) इति रागमे क्याति ``रिः शक्याशीर्ये'' (4-3-110) इति धातो रिः, ``रो रे लुक्'' (1-3-41) इति र् लोपे प्राग्दीर्घ इति प्रथमप्रयोगे, द्वितीये तु ``रिरौच'' (4-1-56) इति रिः रीर्वा तस्य ``इवर्णादेः'' (1-2-21) इति यत्वे ``रिः शक्य'' (4-3-110) इति रिः, इयादेशस्तु ``पूर्वस्यास्वे स्वरे'' (4-1-37) इत्यत्र य्वोः पूर्वस्येति सामानाधिकरण्यव्याख्यानादिकारोकारमात्रस्यैव, अत्र तु अरि इति समुदायः पूर्व इति न, व्यधिकरणव्याख्याने तु अरिग्रियादिति भवत्येव ।

न वृद्धिश्चाऽविति क्ङिल्लोपे ।। 4. 3. 11. ।।

अविति प्रत्ययो यः कितो ङितश्च लोपस्तस्मिन्सति गुणो वृद्धिश्च न भवति, लोपोऽदर्शनमात्रमिह गृह्यते । यङ्लोपे देद्यः, वेव्यः, नेन्यः, लोलुवः, पोपुवः, मरीमृजः । क्ङिदिति किम् ? रागी, रागः । अत्र नलोपे प्रतिषेधो मा भूत् ।

केचित्तु दधीवाचरतीति क्विप् लोपे अप्रत्यये णिगि च दध्या दध्ययतीत्यत्रापि गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं क्ङिल्लोपे सति अविति प्रत्यये परे गुणवृद्धी न भवत इति व्याख्येयम्। विति तु, दधयति, रोरवीति, बोभवीति। केचित्तु दीधीवेव्योरिवर्णे यकारे चान्तस्य लुकमन्यत्र तु गुणवृद्धिनिषेधमारभन्ते। आदीधिता, आवेविता, आदीधीत, आवेवीत, आदीध्यते, आवेव्यते। अन्यत्र आदीध्यनम्, आवेव्यनम्, आदीध्यकः, आवेव्यकः। तदसत् छान्दसत्वादनयोः ॥11॥

*न्या०स०–न वृद्धिश्चा०–*नामिन इति वर्त्तते। *अदर्शनमात्रमिति-*न तु लुक्लुपावित्यर्थः, तद्ग्रहणे हि दध्येत्यादौ गुणप्रतिषेधो न स्यात्, अत्र हि क्विपो लुक् लुप् वा न किन्तु अप्रयोगीत्। *देद्य इति-*दा संज्ञानां दीङ् चेत्यस्य च यङि देदीयते इति वाक्ये अचि अचीति सस्वरस्यैव यङो लुप्, अन्यथा ``स्वरस्य'' (7-1-110) इति अस्य स्थानित्वे गुणप्राप्तिर्न स्यात्।

मरीमृज इति ``ऋतः स्वरे वा'' (4-3-43) इति वृद्धेरनेन निषेधे गुणप्राप्तिः, साप्यनेन निषिध्यते। दध्येति, स्वमते दधयनं, तन्मते तु दध्यनमिति वाक्ये ``शंसिप्रत्ययादः'' (5-3-105) दध्ययतीत्यत्र तु स्वमते परमतेऽपि दधयन्तं प्रयुङ्क्ते इति वाक्यमिति व्याख्येयमिति, मूलव्याख्यानेऽविति प्रत्यये निमित्ते क्ङिल्लोपे इत्युक्तमऽत्र तु क्ङिल्लोपे सति अविति प्रत्यये परे इति भेदः।

*बोभवीतीति-*इत्परावयवो भवतीति वित्प्रत्ययः। *दीधीवेव्योरिति-*दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः वेवीङ् वेतिना तुल्ये इत्यऽदादावात्मनेपदिनौ केचित् पठन्ति।

भवतेः सिज्लुपि ॥ 4. 3. 12. ॥

सिचो लुपि भवतेर्गुणो न भवति। अभूत्, अभूताम्, अभूः। सिज्लुपीति किम् व्यत्यभविष्ट। तिवनिर्देशाद्यङ्लुपि न प्रतिषेधः। अबोभोत् ॥12॥

*न्या०स०–भवते०–*ननु भवतेः सिच एव लोपोऽभ्यधायि तत् किं सिच्ग्रहणेन ? सत्यं, भवतेर्लुपीति कृते भूरिवाचरत् अभवदित्यत्रापि गुणो न स्यात्। *अबोभोदिति–*बुध्यतेरपीदं ह्यस्तन्या दिवि भवति।

सूतेः पञ्चम्याम् ॥ 4. 3. 13. ॥

सूतेः पञ्चम्यां गुणो न भवति। सुवै, सुवामहै। तिव्निर्देशाद्यङ्लुपि गुणो भवत्येव–सोषवाणि, सोषवाव ॥13॥

द्व्युक्तोपान्त्यस्य शिति स्वरे ॥ 4. 3. 14. ॥

कृतद्वित्वस्य धातोरुपान्त्यस्य नामिनः स्वरादौ शिति प्रत्यये परे गुणो न भवति । नेनिजानि, अनेनिजम्, वेविषाणि, अवेविषम्, बेभिदीति, अबेभिदम्, मोमुदीति, अमोमुदम्, नर्नृतीति, अनर्नृतम् ।

द्व्युक्तेति किम् ? वेद, वेदानि, अवेदम् । उपान्त्यस्येति किम् ? जुहवानि, बोभवीति, सोषवीति । शितीति किम् ? निनेज, विवेद, बेभेदिषीष्ट । स्वर इति किम् ? नेनेक्ति, मोमोक्ति, नर्नर्ति ॥14॥

न्या०स०—द्व्युक्तो०-संज्ञाशब्दत्वात् सूत्रत्वाद् वा क्तान्तं न पूर्वं निपतति ।

बेभेदिषीष्टेति यङ्लुपि कर्म्मण्याऽऽत्मनेपदं यङन्तात्तु गुणस्याऽप्राप्तिः, यङकारस्य ``स्वरस्य'' (7. 4. 110.) इति स्थानित्वात् ।

ह्विणोरप्विति व्यौ ॥ 4. 3. 15. ॥

हु इण् इत्येतयोर्नामिनः स्वरादावपित्यविति च शिति परे यथासंख्यं वकारयकारादेशावियुवोरपवादौ भवतः । जुह्वति, जुह्वतु, व्यतिजुह्वीरन्, व्यत्यजुह्वत, जुह्वत्, कतीह जुह्वानाः, यन्ति यन्तु, व्यतिप्रतियीरन्, मा स्म यन्, यन्, यन्तौ, यन्तः । शितीत्येव,—जुहुवतु, ईयतुः, ईयुः । स्वरादावित्येव, जुहुतः, इतः । अप्वितीति किम् ? पुस्, अजुहवुः, वित्-जुहवानि, अयानि । आयन्नित्यत्र तु ``एत्यस्तेर्वृद्धिः'' (4-4-30) इति वृद्धिरेवापवादत्वात् ॥15॥

न्या०स०—ह्विणोर०-व्यतिप्रतियीरन्निति-ज्ञानार्थत्वात् ``क्रियाव्यतिहारे'' (3-3-23) इत्यात्मनेपदम् । *ईयतुरिति*-इणो द्वित्वे ``योऽनेकस्वरस्य'' (2-1-56) इति यत्वापवाद ``इणः'' (2-1-51) इतीय् ततः `समानानाम्' 1-2-1 दीर्घः ।

इको वा ॥ 4. 3. 16. ॥

इंक् स्मरणे इत्यस्य स्वरादावविति शिति परे वा यकारो भवति । अधियन्ति, अधीयन्ति, अधियन्तु, अधीयन्तु, व्यत्यधियीरन्, व्यत्यधीयीरन्, मास्माधियन्, मास्माधीयन्, कतीहाधियानाः, कतीहाधीयानाः ॥16॥

कुटादेर्ङिद्वदञ्णित् ॥ 4. 3. 17. ॥

तुदाद्यन्तर्गणो वृत्पर्यन्तः कुटादिः, कुटादेर्गणात्परो ञित् णित्वर्जितः प्रत्ययो ङिद्वद्भवति। कुटिता, कुटितुम्, कुटितव्यम्, कुटित्वा, गुता, गुतुम्, नुविता, नुवितुम्, ध्रुविता, ध्रुवितुम्, कुङ्कूङत् शब्दे-कुता, कुतुम्, कुविता, कुवितुम्। न्यनुवीत् न्यध्रुवीदित्यत्र ङित्वात् ``सिचि परस्मै समानस्याङिति'' (4-3-44) इत्यनेन वृद्धिरपि न भवति।

अञ्णिदिति किम् उदकोटि,–उत्कोटः, उत्कोटयति, उच्चुकोट, तृणकोटः, उत्कोटकः। कुटादेरिति किम्? लेखनीयम्। केचिल्लिखिमपि कुटादौ पठन्ति। अपरे तु कडस्फरस्फलान् कुटादौ पठित्वा पाठसामर्थ्यात् ञ्णिति वृद्धिनिषेधमिच्छन्ति-कडकः, स्फरकः, स्फलकः ॥17॥

न्या०स०–कुटादे०-ङिद्वद्भवतीति-प्रत्यासत्तेर्न्यायात् यत्कार्यं कुटादेर्ङित्द्वारा प्राप्नोति तस्मिन्नेव कार्ये ङित्वं न आत्मनेपदादौ, तेन चुकुटिषतीत्यादौ सन्नन्तस्य ङित्त्वादात्मनेपदं न भवति।

विजेरिट् ॥ 4. 3. 18. ॥

विजेरिट् ङिद्वद्भवति। उद्विजिता, उद्विजितुम्, उद्विजितव्यम्, उद्विजिष्यते। इडिति किम्? उद्वेजनम्, उद्वेजयति ॥18॥

न्या०स०–विजेरि०-ओविजैप् औविजैप् उभयोर्ग्रहणं, विजृङ्की इत्यस्यापि च थवि सेट्त्वात् प्राप्तं परमऽदाद्यनदाद्योरनदादेरेव ग्रहणमिति तस्य न भवति।

उद्विजितेति-उद्वेजिता वृष्टिमिराश्रयन्त इति तु णिगन्तात् क्ते भविष्यति।

वोर्णोः ॥ 4. 3. 19. ॥

ऊर्णोतेरिड्वा ङिद्वद्भवति। प्रोर्णुविता, प्रोर्णविता, प्रोर्णुवितुम्, प्रोर्णवितुम्, ओर्णावितुम् प्रोर्णुविष्यति, प्रोर्णविष्यति। इडित्येव,-प्रोर्णवनम्, प्रोर्णवनीयम् ॥19॥

शिदवित् ॥ 4. 3. 20. ॥

धातोः परो विद्वर्जितः शित्प्रत्ययो ङिद्वद्भवति। इतः,–सुतः, जागृतः, वित्तः, अधीते, संवित्ते, दीव्यति, सुनुतः, तुदति, क्रीणाति, अधीयन् सिद्धान्तम्, अधीयानः, विदन्, संविदानः, जिनाति, विध्यति, गृह्णाति, वृश्चति, हतः, घ्नन्ति, शंशान्तः, तन्तान्तः। अविदिति किम्? एति, जुहोति, जयति, हन्ति। शिदिति किम्? चेषीष्ट, वेत्ता। कथं च्यवन्ते प्लवन्ते? अन्तरङ्गत्वाद्गुणे कृते शवो लोपात्, स्थानिवद्भावाद्वा ॥20॥

इन्ध्यसंयोगात्परोक्षा किद्वत् ॥ 4. 3. 21. ॥

इन्धेरसंयोगान्ताच्च धातोः परा अवित्परोक्षा किद्वद्भवति । समीधे, समीधाते, समीधिरे, निन्यतुः, निन्युः, बिभिदतुः, बिभिदुः, ईजतुः, ईजुः, ऊचतुः, ऊचुः, सुषुपतुः, सुषुपुः, जजागरतुः, जजागरुः । इन्ध्यसंयोगादिति किम् ? सस्रंसे, दध्वंसे । परोक्षेति किम् ? इन्धिता, नेता । अविदित्येव, निनय, निनयिथ, इयाज, इयजिथ ।

ङिद्वदिति प्रकृते किद्वद्वचनं यजादिवचिस्वपीनां य्वृदर्थम् । जागर्तेश्च गुणार्थम् । ङित्त्वे हि ते न स्याताम् । यथा, स्वपितः, स्वपन्ति, जागृतः, जाग्रति ॥21॥

न्या०स०–इन्ध्यसंयोगात्०–निन्यतुरिति-नन्वत्र ``नो व्यञ्जनस्य'' (4-2-45) इत्युपान्त्य-नकारस्य लुक् कथं न ? सत्यं, प्रकृतेः पूर्वमन्तरङ्गमिति कृत्वा न लोपे बहिरङ्गयत्वमऽ-सिद्धमिति न व्यञ्जनान्तत्वं, यद् वा यत्वे कृते संयोगान्तो धातुस्ततः कित्त्वमपि नास्ति ।

ऊचतुरिति-यजादिसाहचर्यात् नित्याऽणिजन्तस्यैव वचो ग्रहणमिति 'वचण् भाषणे' इत्यस्य ``यजादिवचेः किति'' (4-1-79) इति न य्वृत् ।

किद्वद्वचनमिति-नन्वधिकारायाते ङित्वेऽप्याश्रीयमाणे गुणादिकार्यं न भविष्यति किं किद्वद्वचनेन ? इत्याह–*यजादीति । ते इति*-तच्च स चेति वाक्ये त्यदादित्वात्तच्छेषः स्त्रीपुन्नपुंसकानामिति वचनात् सूत्रे यत्परं तद्भवति ।

स्वजेर्नवा ॥ 4. 3. 22. ॥

स्वञ्जेः परा परोक्षा वा किद्वद्भवति । परिषस्वजे, परिषस्वजे ॥22॥

जनशो न्युपान्त्ये तादिः क्त्वा ॥ 4. 3. 23. ॥

जकारान्ताद्धातोर्नशेश्च नकारे उपान्त्ये सति तकारादिः क्त्वा किद्वद्वा भवति । रक्त्वा, रङ्क्त्वा, भक्त्वा, भङ्क्त्वा, मक्त्वा, मङ्क्त्वा । ``मस्जेः सः'' (4-4-111) इति नः । नष्ट्वा, नंष्ट्वा ``नशो धुटि'' (4-4-110) इति नः । नीति किम् ? भुक्त्वा, इष्ट्वा । उपान्त्य इति किम् ? निक्त्वा । क्त्वेति किम् ? भङ्क्ता, नंष्टा । तादिरिति किम् ? विभज्य, अञ्जित्वा ॥23॥

न्या०स०–जनशो-अञ्जित्वेत्यत्र ``धूगौदितः'' (4-4-38) इतीट् ।

ऋत्तृष-मृष-कृश-वञ्च-लुञ्च-थ-फः सेट् ॥ 4. 3. 24. ॥

न्युपान्त्य इति विशेषणं थफान्तानाम् नान्येषां संभवव्यभिचाराभावात्, न्युपान्त्ये सति एभ्यो विहितः क्त्वा सेट् किद्वद्वा भवति ।

ऋत्-ऋतित्वा, अर्तित्वा, तृष्-तर्षित्वा तृषित्वा, मृषच्, मृषित्वा, मर्षित्वा, कृश्,–कृशित्वा, कर्शित्वा, वञ्च, वचित्वा, वञ्चित्वा, लुञ्चः–लुञ्चित्वा, लुचित्वा, श्रन्थ्, श्रथित्वा, श्रन्थित्वा, ग्रन्थ्, ग्रथित्वा, ग्रन्थित्वा, गुम्फ, गुफित्वा, गुम्फित्वा, ऋम्फ, ऋफित्वा, ऋम्फित्वा । न्युपान्त्य इत्येव, कुथ्, कोथित्वा, पृथ्, पोथित्वा, रिफ, रेफित्वा । क्त्वेत्येव, ग्रथितः, प्रथितवान् । सेडिति किम् ? वञ्चू, वक्त्वा, मृषू-मृष्ट्वा । ऊदित्त्वात्क्त्वायां वेटौ । विहितविशेषणादृफित्वेत्यत्र नलोपेऽपि कित्त्वाद्गुणो न भवति । क्त्वेत्यनेन कित्त्वप्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ।।24।।

न्या०स०–ऋत्तृषमृष०-संभवव्यभिचाराभावादिति-ऋत्तृषमृषकृशां न संभवः वञ्चलुञ्चोर्न व्यभिचार इति, एतत्तु समुदितानां लक्षणम् ।

लुचित्वेति-केचित्तु लुञ्चेः क्तयोरपि सेटोर्वा कित्वमिच्छन्ति, तन्मते लुचितः लुञ्चित इति ।

गुफित्वेति-नन्वत्र न लोपे उकारोपान्त्यत्वादुत्तरेण ``वौ व्यञ्जनादेः'' (4-3-25) इत्यनेन वा कित्त्वं प्राप्नोति तस्मिंश्च सति पक्षे गुणः प्राप्तः ? सत्यं, कितमाश्रित्य न लोपोऽतः संनिपातन्यायादुत्तरसूत्रकार्ये आत्मनिमित्तविहत्यै नोपतिष्ठते, तेन गुणो नोज्जह्रे ।

कोथित्वेति-व्यावृत्तिबलादुत्तरेणापि विकल्पो न, किन्तु क्त्वेत्यनेन नित्यं निषेधः ।

वौ व्यञ्जनाऽऽदेः सन्चाऽय्वः ।। 4. 3. 25. ।।

वौ उकारे इकारे चोपान्त्ये सति व्यञ्जनादेर्धातोः परः वक्त्वा सन् च सेटौ वा किद्वद्भवतः 'अय्वः' यकारान्ताद्वकारान्ताच्च न भवतः ।

द्युतित्वा, द्योतित्वा, दिद्युतिषते, दिद्योतिषते, मुदित्वा, मोदित्वा, मुमुदिषते, मुमोदिषते, लिखित्वा, लेखित्वा, लिलिखिषति, लिलेखिषति, श्विदित्वा, श्वेदित्वा, शिश्विदिषते, शिश्वेदिषते । वाविति किम् ? वर्तित्वा, विवर्तिषते । व्यञ्जनादेरिति किम् ? ओषित्वा, ओषिषिषति । सेडित्येव, भुक्त्वा, बुभुक्षते । अय्व इति किम् ? देवित्वा, दिदेविषति ।।25।।

न्या०स०–वौ व्यञ्जनादेः–विश्च य् च विय् वियिवाचरति क्विप् लुक् वेयनं पूर्वं क्त्वायां वेयित्वेति, अय्व इति व्यावृत्तो यान्तत्वे प्रयोगः कार्यः ।

उति शवर्हाऽद्भ्यः क्तौ भावाऽऽरम्भे ।। 4. 3. 26. ।।

उकारे उपान्त्ये सति शवर्हेभ्योऽदादिभ्यश्च धातुभ्यो भावे आरम्भे चादिकर्मणि विहितौ क्तौ क्तक्तवतू सेटौ वा किद्वद्भवतः ।

कुचितमनेन, कोचितमनेन, प्रकुचितः, प्रकोचितः, प्रकुचितवान्, प्रकोचितवान्, द्युतितमनेन, द्योतितमनेन, प्रद्युतितः, प्रद्योतितः, मुदितमनेन, मोदितमनेन, प्रमुदितः, प्रमोदितः, अद्भ्यः, रुदितमनेन, रोदितमनेन, प्ररुदितः, प्ररोदितः, प्ररुदितवान्, प्ररोदितवान् । उतीति किम् ? श्वितितमनेन, प्रश्वितितः । शवर्हाद्भ्य इति किम् ? गुधितमनेन, प्रगुधितः । भावारम्भ इति किम् ? रुचिता कन्या । क्ताविति किम् ? प्रद्योतिषीष्ट, सेटावित्येव, रूढमनेन, प्ररूढः, प्ररूढवान् ।।26 ।।

न्या०स०–उति शवर्हा०–भावारम्भे इति सूत्रत्वात् समाहारः, यद्वा कर्मधारयः । *कुचितमनेनेति*-कुच्यते स्म भावे क्तः ।

न डीङ्-शीङ्-पूङ्-धृषि-क्ष्विदि-स्विदि-मिदः ।। 4. 3. 27. ।।

भावारम्भ इति न स्मर्यते । एभ्यः परौ सेटौ क्तक्तवतू न किद्वद्भवतः ।

डयतेः, डयितः, डयितवान्, शीङ्, शयितः, शयितवान्, पूङ्, पवितः, पवितवान्, धृष्, प्रधर्षितः, प्रधर्षितवान्, क्ष्विद्-प्रक्ष्वेदितः, प्रक्ष्वेदितवान्, स्विद् प्रस्वेदितः, प्रस्वेदितवान्, मिद्, प्रमेदितः, प्रमेदितवान् । डीङ्शीपूङामनुबन्धनिर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । डेडियितः, डेडियितवान्, शेश्यितः, शेश्यितवान्, पोपुवितः, पोपुवितवान् । सेटावित्येव, डीयतेर्डीनः, डीनवान्, पूतः, पूतवान्, धृष्ट, धृष्टवान्, क्ष्विण्णः, क्ष्विण्णवान्, स्विन्नः, स्विन्नवान्, मिन्नः, मिन्नवान् ।।27।।

न्या०स०–न डीङ्शीङ्०–*न स्मर्यते इति*-तेन भावारम्भादन्यत्रापि सामान्येन विधिः । *पवित इति*-``उवर्णात्'' (4-4-58) इति न प्रतिषेधः, ``पूङ् क्लिशि'' (4-4-45) इति वेट् । *प्रधर्षित इति* ``आदितः'' (4-4-71) इति नित्यं निषेधे प्राप्ते धर्षितुमारब्धः प्रधृष्यते स्मेति वा वाक्ये क्ते ``नवा भावारम्भ'' (4-4-72) इतीट् । *प्रधर्षितवान् इति* धर्षितुमारब्धवान् आरम्भे क्तवत्, ``नवा भावारम्भे'' (4-4-72) इट्, एवमग्रेतनेष्वपि । पोपुवित इति–पोपूयते स्म कर्म्मणि क्तः, अनेकस्वरत्वादिट् ``उवर्णात्'' (4-4-58) इति न प्रतिषेधः ``पूङक्लिशि'' (4-4-45) इति विकल्पोऽपि न ❊ तिवा शवा ❊ इति न्यायात् ।

डीन इत्यत्र–``डीयश्वी'' (4-4-61) इति नेट् । *पूत* इत्यत्र ``पूङक्लिशि'' (4-4-45)

इति वेट् । *धृष्ट*-इत्यत्र ``धृषशस'' (4-4-66) इति नेट् । *क्ष्विण्णः, स्विन्न, भिन्नः* इत्यादिषु ``आदितः'' (4-4-71) इति नेट् ।

मृषः क्षान्तौ ॥ 4. 3. 28. ॥

क्षान्तौ वर्तमानान्मृषः परौ सेटौ क्तक्तवतू किद्वन्न भवतः । मर्षितः, मर्षितवान् । क्षान्ताविति किम् ? अपमृषितं वाक्यमाह-सासूयमित्यर्थः । सेटावित्येव, मृषू सहने च-मृष्टः, मृष्टवान् ॥28॥

क्त्वा ॥ 4. 3. 29. ॥

धातोः परः क्त्वा सेट् किद्वन्न भवति । देवित्वा, सेवित्वा, वर्तित्वा, भ्रंशित्वा, ध्वंसित्वा, व्रश्चित्वा । कथं कुटत् कुटित्वा ? ``कुटादेर्ङिद्वदञ्णित्'' (4-3-17) इति ङिद्वद्भावात् । सेडित्येव, कृत्वा, इष्ट्वा, शान्त्वा ॥29॥

स्कन्द–स्यन्दः ॥ 4. 3. 30. ॥

स्कन्दिस्यन्दिभ्यां परः क्त्वा किद्वन्न भवति । स्कन्त्वा, स्यन्त्वा, प्रस्कन्द्य, प्रस्यन्द्य । केचित् प्रस्कद्य प्रस्यद्येति यपः कित्त्वमिच्छन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं क्त्वेति द्वितकारो निर्देशः । तकारादिः क्त्वेत्यर्थः । अनिडर्थः वचनम् । सेटि तु पूर्वसूत्रेण स्यन्दित्वेत्येव भवति ॥30॥

क्षुध-क्लिश-कुष-गुध-मृड-मृद-वद-वसः ॥ 4. 3. 31. ॥

नेति निवृत्तम्, एभ्यः परः क्त्वा सेट् किद्वद्भवति । क्षुधित्वा, क्लिशित्वा, कुषित्वा, गुधित्वा, मृडित्वा, मृदित्वा, उदित्वा, उषित्वा, । क्षुधेर्नेच्छन्त्यन्ये । ``क्त्वा'' (4-3-29) इति प्रतिषेधे ``वौ व्यञ्जनादेः सन्चाय्वः'' (4-3-25) इति विकल्पे च प्राप्ते वचनम् ॥31॥

न्या०स०–क्षुधक्लिश०–नेति निवृत्तमिति-मृडादीनामुपादानात्, तेभ्यो हि ``क्त्वा'' (4-3-29) इत्यनेन प्रतिषेधः सिद्ध इति तदुपादानमनर्थकं स्यात्, न वाच्यं क्षुधादीनामप्युपादानादिति, यतस्तेषां ``वौ व्यञ्जनादेः'' (4-3-25) इति विकल्पे प्राप्तेऽनेन प्रतिषेधे चरितार्थमुपादानम् ।

रुद-विद-मुष-ग्रह-स्वप-प्रच्छः सन् च ॥ 4. 3. 32. ॥

सेडिति निवृत्तम्, एभ्यः परः सन् क्त्वा च किद्वद्भवतः ।

रुदित्वा, रुरुदिषति, विदित्वा विविदिषति, मुषित्वा, मुमुषिषति, गृहीत्वा, जिघृक्षति, सुप्त्वा, सुषुप्सति, पृष्ट्वा, पिपृच्छिषति, रुदविदमुषो ``वौ व्यञ्जनादेः सन् चाऽस्तः'' (4-3-25) इति विकल्पे ग्रहेस्तु ``क्त्वा'' (4-3-29) इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । स्वपिप्रच्छ्योः सन्नर्थमेव, क्त्वा हि किदेव ।।32।।

न्या०स०—रुदविद०-विदेति 'विदक् ज्ञाने' इत्यस्य ग्रहणं नान्येषां, तेषां हि निषेधाभावात् किद्वदेव क्त्वा, न वाच्यं ``वौ व्यञ्जनादेः'' (4-3-35) इति विकल्पः, तत्र सेटीति विशेषणात् । *निवृत्तमिति*-स्वपप्रच्छोरिटोऽसंभवात् ।

नामिनोऽनिट् ।। 4. 3. 33. ।।

नाम्यन्ताद्धातोरनिट् सन् किद्वद्भवति । चिचीषति, तुष्टूषति, लुलुषति, चिकीर्षति, तितीर्षति । नामिन इति किम् ? पिपासति, तिष्ठासति । अनिडिति किम् ? शिशयिषते । सनित्येव ? चेता, नेता ।।33।।

उपान्त्ये ।। 4. 3. 34. ।।

नामिन्युपान्त्ये सति धातोरनिट् सन् किद्वद्भवति । बिभित्सते, बुभुत्सते, विवृत्सति, धिप्सति । अनिडित्येव—विवर्तिषते, विवर्धिषते । नामिन इत्येव,-यियक्षति, विवत्सति । सनित्येव, भेत्ता ।।34।।

सिजाशिषावात्मने ।। 4. 3. 35. ।।

नामिन्युपान्त्ये सति धातोः परे आत्मनेपदविषये अनिटौ सिजाशिषौ किद्वद्भवतः ।

अभित्त, अबुद्ध, असृष्ट, भित्सीष्ट, भुत्सीष्ट, सृक्षीष्ट । सिजाशिषाविति किम् ? भेत्स्यते, भोत्स्यते । आत्मने इति किम् ? अस्राक्षीत्, अद्राक्षीत् । नामिन इत्येव,—अयष्ट, यक्षीष्ट । उपान्त्य इत्येव, अचेष्ट, चेषीष्ट । अनिडित्येव, अवर्धिष्ट वर्धिषीष्ट ।।35।।

न्या०स०—सिजाशिषा०-अचेष्ट इति-सिचो लुकः परत्वेऽपि नित्यत्वात् प्रागेव गुणः, एतच्च ``धुट् ह्रस्व'' (4-3-70) इत्यत्र कथयिष्यति ।

ऋवर्णात् ।। 4. 3. 36. ।।

ऋवर्णान्ताद्धातोः परे अनिटावात्मनेपदविषये सिजाशिषौ किद्वद्भवतः । अकृत, अहृत, कृषीष्ट, हृषीष्ट, अतीर्ष्ट, अपूर्ष्ट, तीर्षीष्ट, पूर्षीष्ट । अनिटावित्येव,–अवरिष्ट, वरिषीष्ट, अतरिष्ट, तरिषीष्ट ॥36॥

न्या०स०–ॠवर्णात्-अतीर्ष्ट इति-अस्मात् कर्मकर्त्तरि ``एकधातौ'' (3-4-86) इत्यात्मनेपदतप्रत्यये ``स्वरदुहो वा'' (3-4-90) इति विकल्पेन ञिच्, कर्मणि तु नित्यं ञिच् स्यात्, एवमऽपूर्ष्टेत्यत्रापि ।

गमो वा ॥ 4. 3. 37. ॥

गमेः परे आत्मनेपदविषये सिजाशिषौ किद्वद्वा भवतः । समगत, समगंस्त चैत्रः, अगसाताम् अगंसाताम् ग्रामो चैत्रेण, संगसीष्ट, संगंसीष्ट चैत्रः, गसीष्ट, गंसीष्ट चैत्रेण ॥37॥

हनः सिच् ॥ 4. 3. 38. ॥

हन्तेः पर आत्मनेपदविषयः सिच् किद्वद्भवति । आहत,–आहसाताम्,–आहसत ॥38॥

यमः सूचने ॥ 4. 3. 39. ॥

सूचनं परदोषाविष्करणम् तत्र वर्तमानाद्यमेः पर आत्मनेपदविषयः सिच् किद्वद्भवति । उदायत, उदायसाताम्, उदायसत । ``आङो यमहनः स्वेऽङ्गे च'' (3-3-86) इत्यात्मनेपदम् । सूचन इति किम् ? आयंस्त कूपाद्रज्जुम्, उद्धृतवानित्यर्थः । सकर्मकात् ``समुदाङो यमेरग्रन्थे'' (3-3-38) इत्यात्मनेपदम् ॥39॥

वा स्वीकृतौ ॥ 4. 3. 40. ॥

स्वीकृतौ वर्तमानाद्यमेः पर आत्मनेपदविषयः सिच् किद्वद्वा भवति । उपायत, उपायंस्त महास्त्राणि, उपायत उपायंस्त कन्याम्, मोपयध्वं भयं सीतां नोपायंस्त दशाननः । ``यमः स्वीकारे'' (3-3-59) इत्यात्मनेपदम् । स्वीकृताविति किम् । आयंस्त पाणिम् । सिजित्येव, उपयंसीष्ट कन्याम् । उद्वाह एवेच्छन्त्यन्ये ॥40॥

इश्च स्थादः ॥ 4. 3. 41. ॥

तिष्ठतेर्दासंज्ञाच्च धातोः पर आत्मनेपदविषयः सिच् किद्वद्भवति, तत्संनियोगे च

स्थादोरन्तस्येकारादेशो भवति । उपास्थित, उपास्थिषाताम्, उपास्थिषत, दाम्, व्यत्यदित, व्यत्यदिषाताम् वस्त्रे, देङ्-अदित पुत्रम्, डुदांग्क्-अदित धनम्, दोंच्, व्यत्यदित दण्डौ, ट्धें, व्यत्यधित स्तनौ, डुधांग्क्, अधित भारम् ।

स्थाद इति किम् ? दांव्कृदैवोर्व्यत्यदास्त व्यत्यदासाताम्, व्यत्यदासत । आत्मनेपद इत्येव, अधासीत् ।।41।।

न्या०स०—इश्च स्थादः-किद्वद्भवतीति-नन्विकारविधानादेव गुणो न भविष्यति किं सिचः किद्विधानेन ? सत्यं, विधानस्य ह्रस्वद्वारा ``धुट्ह्रस्व'' (4-3-70) इति सिच्लोपे चरितार्थत्वात् गुणः स्यात् ।

मृजोऽस्य वृद्धिः ।। 4. 3. 42. ।।

मृजेर्गुणे सत्यकारस्य वृद्धिर्भवति । मार्ष्टि, मार्ष्टा, मार्टुम्, मार्ष्टव्यम्, मार्जिता, मार्जकः, संमार्जनम्, संमार्गः । अत इति किम् ? मृज्यते, मर्ष्टुमृज्यते, मृष्टः, मृष्टवान्, कथं म्रष्टा म्रष्टुम्, द्रमिला जानन्ति ये मृजेरपि रत्त्वमिच्छन्ति ।।42।।

न्या०स०—मृजो०-मृजेरपीति-न केवलं मृजादीनामित्यर्थः । *रत्वमिच्छन्तीति*सस्वरं रत्वमकारागमे रत्वं वा ।

ऋतः स्वरे वा ।। 4. 3. 43. ।।

मृजेर्ऋकारस्य स्वरादौ प्रत्यये परे वा वृद्धिर्भवति । परिमार्जन्ति, परिमृजन्ति, परिमार्जन्तु, परिमृजन्तु, पर्यमार्जन्, पर्यमृजन्, परिममार्जतुः परिममृजतुः, परिमार्जन्, परिमृजन् । ऋत इति किम् ? प्रमाज, मार्जयति । स्वर इति किम् ? मृष्टः, मृष्ठः, मृज्वः, मृज्मः ।।43।।

न्या०स०—ऋतः स्वरे वा-ममार्जेति-गुणे कृते ``मृजोऽस्य वृद्धिः'' (4-3-42) इत्यनेन नित्यं वृद्धिः, न त्वनेन विकल्पः । ननु गुणात् प्रागेव परत्वाद् वृद्धिः कथं न ? सत्यं, विकल्पबलात्, ``ऋतः स्वरे वा'' (4-3-43) इत्यस्य विकल्पपक्षे इदमुदाहरणमन्यथा हि परत्त्वात् वृद्धिः स्यात् किं व्यावृत्त्या, किं बहुना गुणे कृते वृद्धिविकल्पो माभूदित्येवमर्थभूत इति व्यावृतिस्तेन ममर्ज मर्जयतीति न भवति ।

स्वर इति किमिति ? धातोः कार्यं विधीयमानं धात्वधिकारविहित एव प्रत्यये विज्ञायते इति कंसपरिमृज इत्यत्र क्विबन्तस्य धातुत्वेऽपि नामाधिकारविहिते स्यादिप्रत्यये वृद्ध्यभावः ।

सिचि परस्मै समानस्याङिति ॥ 4. 3. 44. ॥

समानान्तस्य धातोः परस्मैपदविषये सिच्यङिति परे आसन्ना वृद्धिर्भवति । अचैषीत् अनैषीत्, अयावीत्, अलावीत्, अकार्षीत्, अतारीत्, अचेचायीत्, अनेनायीत् ।

परस्मै इति किम् ? अच्योष्ट, अप्लोष्ट । समानस्येति किम् ? गौरिवाचारीत् अगवीत्, अचिकीर्षीदित्यत्र परत्वात् ``अतः'' (4-3-82) इति अकारस्य लुक् । अङितीति किम् ? णू-न्यनुवीत्, ध्रु–न्यधुवीत्, ऊर्णुः-प्रोर्णोनुवीत्, गु-न्यगुषीत्, धु-न्यधुषीत् । येषां तु गु दीर्घान्तो ध्रुस्तु सेट् तेषां न्यगुवीत् न्यध्रुवीत् इत्यपि भवति ॥44॥

न्या०स०–सिचिपरस्मै०-अच्योष्टेति नित्यत्वादन्तरङ्गत्वाच्च गुणः । *अकारस्य लुगिति-* अत एव मूलोदाहरणेषु अकारस्य वृद्धिर्न दर्शिता । *गु दीर्घान्त इति-*ऊदन्त इत्यर्थः, ऊदन्ताश्च तन्मते सेट एव, एतच्च ``एकस्वरादनुस्वरातः'' (4-4-56) इत्यत्र सूत्रान्ते संग्रहश्लोके वक्ष्यते ।

व्यञ्जनानामनिटि ॥ 4. 3. 45. ॥

व्यञ्जनान्तस्य धातोः परस्मैपदविषयेऽनिटि सिचि परे समानस्य वृद्धिर्भवति । अपाक्षीत्, अभेत्सीत्, अरौत्सीत्, अतार्सीत् । बहुवचनं जात्यर्थम् । तेनानेकव्यञ्जनव्यवधानेऽपि भवति । रन्ज्-अराङ्क्षीत्, सञ्ज्–असाङ्क्षीत्, भञ्ज्–अभाङ्क्षीत्, तक्षौ–अताक्षीत्, त्वक्षौ-अत्वाक्षीत्, औदित्त्वाद्वेटो । समानस्येत्येव, उदवोढाम् । अनिटीति किम् ? अतक्षीत्, अत्वक्षीत्, अदेवीत्, अकोषीत्, अनर्तीत् ॥45॥

*न्या०स०–व्यञ्जना०-अताक्षीदिति-*तक्षौ अद्यतनीदि सिच् ईत् ``संयोगस्यादौ'' (2-1-88) इति कलुकि ``षढोः कस्सि'' (2-1-62) इति षस्य कत्वे सिचः षत्वेऽटि च रूपम् ।

*उदवोढामिति-*पूर्ववृद्धौ एकदेशेति न्यायाद् वहेरोत्वं, ततो भूतपूर्वगत्या ढस्य परेऽसत्त्वाद् वा व्यञ्जनान्तत्वे पुनरप्योकारस्य वृद्धिः प्राप्नोति ।

वोर्णगः सेटि ॥ 4. 3. 46. ॥

ऊर्णोतेः सेटि सिचि परस्मैपदविषये परे वृद्धिर्वा भवति । प्रोर्णावीत्, पक्षे प्रौर्णुवीत्, प्रौर्णवीत् । परस्मै इत्येव, प्रौर्णविष्ट । सानुबन्धोपादानं यङ्लुप्निवृत्त्यर्थम् । प्रौर्णोनावीत् ।

अङित्त्वपक्षे पूर्वेण नित्यं वृद्धिः । ङित्त्वे तु प्रौर्णोनुवीत् । ``वोर्णोः'' (4-3-19) इत्यत्र हि अनुबन्धाभावाद्यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणम्, एवं च प्रकृतेस्त्रैरूप्यं यङ्लुबन्तस्य च द्वैरूप्यं सिद्धं भवति । सेटीत्युत्तरार्थम् ।।46।।

न्या०स०—वोणुग०ः— प्रकृतेस्त्रैरूप्यमिति शुद्धधातो रूपत्रयमित्यर्थः ।

व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्यातः ।। 4. 3. 47. ।।

व्यञ्जनादेर्धातोरुपान्त्यस्यातः सेटि सिचि परस्मैपदविषये परे वृद्धिर्वा भवति । अकाणीत्, अकणीत्, अक्वाणीत्, अक्वणीत्, अश्वासीत्, अश्वसीत्, गौरिवाचारीत् अगावीत्, अगवीत् ।

व्यञ्जनादेरिति किम् ? मा भवानटीत्, मा भवानशीत् । उपान्त्यस्येति किम् ? अरक्षीत्, अपिपठिषीत्, अवधीत् । अत इति किम् ? अदेवीत् । सेटीत्येव, अधाक्षीत् ।।47।।

वदव्रजलृः ।। 4. 3. 48. ।।

वदव्रजोर्लकारान्तानां रेफान्तानां च धातूनामुपान्त्यस्याकारस्य परस्मैपदविषये सेटि सिचि परे वृद्धिर्भवति । अवादीत्, अव्राजीत्, अज्वालीत्, अचालीत्, अक्षारीत्, त्सर्-अत्सारीत् । उपान्त्यस्येत्येव, अश्वल्लीत्, अबभ्रीत् । अत इत्येव,—न्यमीलीत्, न्यखोरीत् । पूर्वस्यापवादोऽयम् ।।48।।

न श्वि-जागृ-शस्-क्षण-हृम्येदितः ।। 4. 3. 49. ।।

श्विजागृशस्क्षणां हकारमकारयकारान्तानामेदितां च धातूनां परस्मैपदविषये सेटि सिचि परे वृद्धिर्न भवति । श्वि-अश्वयीत्, जागृ—अजागरीत्, शस्—अशसीत् । शसः स्थाने श्वसं पठन्त्यन्ये-अश्वसीत्, क्षण्—अक्षणीत्, हान्त-अग्रहीत् अचहीत् । मान्त—अवमीत्, अस्यमीत्, यान्त-अव्ययीत्, अहयीत्, एदित्-अकगीत्, अरगीत्, अकखीत् । शव्यादीनां यङ्लुबन्तानामपि प्रतिषेधः । अशेश्वयीत्, अजजागरीत् । केचिज्जागर्तेरपि यङ्मिच्छन्ति । अशाशसीत्, अचक्षणीत् । अचाचहीत्, अजर्गहीत्, असंस्यमीत्, अवाव्ययीत् । एदितां तु यङ्लुपि न प्रतिषेधः । अजाहासीत्, अजाहसीत् । अत एव श्व्यादयो नैदितः क्रियन्ते, अन्यथा ह्येदितः कृत्वा इह श्व्यादिग्रहणं न क्रियेत ।

सेटीत्येव,—अधाक्षीत् । वकारान्तस्यापि प्रतिषेधमिच्छत्यन्यः । अमवीत् । श्विजागोः ``सिचि परस्मै समानस्याङिति'' (3-3-44) इति वृद्धावन्येषां च ``व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्यात.'' (4-3-47) इति विकल्पे प्राप्ते वचनम् ।।49।।

न्या०स०—न श्वि जागृ०-अचाचहीदिति-अजर्गहींदिति-अजर्गहिंदिति भग्नं तत्र ख्वृति गुणे उपान्त्यस्याऽकाराऽसंभवात् ।

असंस्यमीदिति-परमताभिप्रायेणेदं स्वमते तु `वेः स्यमः' इति ख्वृत्यऽसेसेमीदिति भवति ।

ञ्णिति ।। 4. 3. 50. ।।

ञिति णिति च प्रत्यये परे धातोरुपान्त्यस्यातो वृद्धिर्भवति । अपाचि, पाकः, पाचकः, पपाच, पाचयति । अत इत्येव,—भोगः, भोजयति । उपान्त्यस्येत्येव, भङ्गः, भञ्जकः, चकासयति । ञ्णितीति किम् ? पचति ।।50।।

नामिनोऽकलिहलेः ।। 4. 3. 51. ।।

नाम्यन्तस्य धातोर्नाम्नो वा कलिहलिवर्जितस्य ञ्णिति प्रत्यये परे वृद्धिर्भवति ।

अचायि, अनायि, अयावि, अलावि, अकारि, अतारि, कारः, हारः, चिकाय, कारकः । कलिहलिवर्जनान्नाम्नोऽपि । तेन पटुमाख्यातवान् अपीपटत्, अलीलघत् इत्यत्र वृद्धावन्त्यस्वरादिलोपे चासमानलोपित्वात् सन्वद्भावः सिद्धो भवति । कलिहलिवर्जनं किम् ? कलिं, हलिं वाग्रहीत्, अचकलत्, अजहलत् । अन्ये तु नाम्नो वृद्धिमनिच्छन्तोऽन्त्यस्वरस्यो-कारस्यैव णिचि लोपमिच्छन्तः समानलोपित्वात्सन्वद्भावप्रतिषेधऽपपटत् अललघदित्येवाहुः।।51।।

न्या०स०—नामिनोऽक-अपीपटदित्यादिसिध्यर्थं सूत्रं सूत्रितं, अन्यथा ``नामिनः'' (4-3-51) इति गुणे अयवादेशे च कृते ``ञ्णिति'' (4-3-50) इति वृद्धौ सर्वाण्यपि सिध्यन्ति, ननु ``नामिनो गुणः'' (4-3-1) इत्यत्र कलिहलिवर्जनं क्रियतां तद्वर्जनाच्च नाम्नोऽपि गुणेऽपीपटदित्यादीन्यपि सेत्स्यन्ति किमनेन ? सत्यं, कलिहलिवर्जनान्नाम्नोऽपि स्यात्ततश्च सख्येत्यादावपि गुणप्रसङ्गः ।

जागुर्ञिणवि ।। 4. 3. 52. ।।

जागर्तेञौ णव्येव ञ्णिपि प्रत्यये परे वृद्धिर्भवति । अजागारि, जागारिष्यते, जजागार । ञिणवीति किम् ? जागरयति, जागरकः, साधुजागरी जागरंजागरम्, जागरो वर्तते । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थो योगः ।।52।।

न्या०स०—जागुर्ञ्णि०-नियमार्थो योग इति-विपरीतनियमस्तु न भवति, अन्त्यणवो वाणित्वनिषेधात्, ``न जनबधः'' (4-3-54) इत्यादौ ञित्प्रत्यये वृद्धिनिषेधाच्च ।

आत ऐः कृ ञ्णौ ॥ 4. 3. 53. ॥

आकारान्तस्य धातोञ्णिति कृति प्रत्यये ञ्णौ च परे ऐकारो भवति ।

दायः, धाय, दायकः, धायकः, शतं दायी, गोदायो व्रजति, अदायि, अधायि, दायिष्यते । धायिष्यते । कृद्ग्रहणं किम् ? ददौ, दापयति ॥53॥

न जनबधः ॥ 4. 3. 54. ॥

जनबध्योः कृति ञिणिति ञ्णौ परे वृद्धिर्न भवति । प्रजनः, प्रजन्यः, जनकः, अजनि, बधः, बध्यः, बधकः, अबधि । बधिरत्र बध बन्धने इत्ययं गृह्यते यस्य बीभत्सत इति वैरूप्य एव सनिष्यते, अन्यत्र वधते । भक्षकश्चेन्नास्ति बधकोऽपि न विद्यते । हन्यादेशस्य तु वधेरदन्तत्वाद्वृद्धेरप्रसङ्ग एव, अन्ये त्वगणपठितं बधिं हिंसार्थ 'यत्र शालमतीकाशः कर्णोऽवध्यत संयुगे' इत्यादिदर्शनान्मन्यन्ते । प्रत्युदाहरन्ति च ववाध ॥54॥

न्या०स०—न जनवधः—वधिं हिंसार्थमिति-एषामर्थान्तरेऽपि त्यादयो नाभिधीयन्त इति अङ्गीकुर्वाणाः परस्मैपदिनश्च एतस्यानियमस्त्यादीन्प्रति । *ववाधेति*-अत्र ञ्णित्कृदऽभावाद्वृद्धेर्भावः ।

मोऽकमि-यमि-रमि-नमि-गमि-वमाचमः ॥ 4. 3. 55. ॥

मान्तस्य धातोः कम्यादिवर्जितस्य ञ्णिति कृत्प्रत्यये ञ्णौ च परे वृद्धिर्न भवति ।

शमः, तमः, दमः, शमकः, तमकः, दमकः, शमी, तमी, दमी, अशमि, अतमि, अदमि । म इति किम् ? पाठः, पाठकः, अपाठि । कम्यादिवर्जनं किम् ? कामः, कामुकः, अकामि, यामः, यामकः, अयामि, रामः, रामकः, अरामि, नामः, नामकः, अनामि, आगामुकः, आगामि, वामः वामकः, अवामि, आचामः, आचामकः, आचामि ।

आचम इति किम् ? चमः, विचमः, चमकः, विचमकः, अचमि, व्यचमि । अन्ये तु सामान्येन निषेधमिच्छन्ति—चामः, विचामः इत्यादि । कथमामः आमकः आमि ? 'अमण् रोगे' इत्यस्य भविष्यति । भौवादिकस्य त्वमेः—अमः अमकः । कृञ्ञावित्येव, शशाम, तमाम, निशामयते ॥55॥

न्या०स०—मोऽकमि०—रामक इति-बाहुलकात् ``रम्यादिभ्यः'' (5-3-126) इत्यनट् न ।

विश्रमेर्वा ॥ 4. 3. 56. ॥

र्वस्य श्रमेर्ञ्णिति कृत्प्रत्यये ञौ च परे वा वृद्धिर्न भवति । विश्रामः, विश्रमः, सूर्यविश्रामभूमिः, अविश्रमं यावदिदं शरीरम्, विश्रामकः, विश्रमकः व्यश्रामि, व्यश्रमि ।

वीति किम् ? श्रमः श्रमकः, अश्रमि । कृञ्ञावित्येव,—विशश्राम, अन्ये तु विश्रमेर्वृद्धिं नेच्छन्त्येव, अपरे तु नित्यमेव वृद्धिमुपयन्ति । एके तु घञ्येव विकल्पमातिष्ठन्ते ॥56॥

उद्यमोपरमौ ॥ 4. 3. 57. ॥

उदुपपूर्वयोर्यमिरम्योर्घञि वृद्ध्यभावो निपात्यते । उद्यमः, उपरमः । अन्यत्र पूर्वेण वृद्धिरेव-यामः, संयामः, सुयामः, रामः, विरामः ॥57॥

णिद्वान्त्यो णव् ॥ 4. 3. 58. ॥

परोक्षातृतीयत्रिकैकवचनमन्त्यो णव् वा णिन्न भवति, णित्त्वाश्रयं कार्यं पक्षे प्रतिषिध्यते । सुप्तोऽहं किल विललप, विललाप, विवय, विवाय, निनय, निनाय, लुलव, लुलाव, जजागर, जजागार, चुकुट, चुकोट । वा णित्त्वप्रतिबन्धात्कुटादीनां गुणविभाषा । अन्त्य इति किम् ? स पपाच । णित्त्वाश्रयस्य विकल्पनात् णवाश्रयं नित्यमेव-अहं पपौ ॥58॥

न्या०स०—णिद्वान्त्यो०-णवाश्रयं नित्यमेवेति—ननु तर्हि णवाश्रयत्वात् ``जागुर्ञिणवि'' (4-3-52) इति अनेन जजागारेत्यत्र नित्यवृद्धिः प्राप्नोति ? सत्यं, नानेन सूत्रेणात्र वृद्धिः, तत्र च णित्त्वमाश्रीयते ।

उत और्विति व्यञ्जनेऽद्वेः ॥ 4. 3. 59. ॥

अद्विरुक्तस्योकारान्तस्य धातोर्व्यञ्जनादौ विति वकारानुबन्धे प्रत्यये परे और्भवति । यौति, यौषि, यौमि, रौति, रौषि, रौमि, यौतु, रौतु, अयौत्, अरौत्, अयौः, अरौः । उत इति किम् ? एति ।

धातोरित्येव, सुनोमि, तनोमि । वितीति किम् ? युतः, रुतः । व्यञ्जन इति किम् ? यवानि, स्तवानि । अद्वेरिति किम् ? जुहोति, योयोति, तुष्टोथ । तोः स्थाने तातङो

ङित्त्वात्स्थानिवत्त्वं बाध्यते तेन युतात् रुतादित्यादौ नौकारः,—केचित्तु यङ्लुबन्तस्यापीच्छन्ति। नोनौति, योयौति, रोरौति ॥59॥

वोर्णोः ॥ 4. 3. 60. ॥

उर्णोतेरद्विरुक्तस्य व्यञ्जनादौ विति प्रत्यये और्वा भवति। प्रोर्णौति, प्रोर्णोति। व्यञ्जनादावित्येव प्रोर्णवानि। वितीत्येव ? प्रोर्णुतः। अद्वेरित्येव,—प्रोर्णोनोति। पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः। यङ्लुबन्तस्यापीच्छन्त्यन्ये—प्रोर्णोनौति ॥60॥

न दिस्योः ॥ 4. 3. 61. ॥

ऊर्णोतेर्दिस्योः परयोरौर्न भवति। पृथग्योगात् पूर्वेणापि प्राप्तः प्रतिषिध्यते। प्रौर्णोत्, प्रौर्णोः। दिस्योरिति किम् ? प्रोर्णौति, प्रोर्णौषि। दिसाहचर्याद् ह्यस्तन्या एव सिः ॥61॥

न्या० स०-न दिस्योः-पृथग्योगादिति—अन्यथा वोर्णोरदिस्योरिति सूत्रं क्रियेत। *पूर्वेणापीति*-''उत औः'' (4-3-59) इत्यनेनेत्यर्थः। *दिसाहर्यादित*—प्राप्तिपूर्वको हि प्रतिषेधः प्राप्तिश्च ''वोर्णोः'' (4-3-60) इत्यनेन।

विति प्रत्यये इति—दिस्तावत् ह्यस्तन्या एव तत्साहचर्यात् सिरपि ह्यस्तन्या एव न तु वर्त्तमानायाः।

तृहः श्नादीत् ॥ 4. 3. 62. ॥

तृहः श्नात्परो व्यञ्जनादौ विति प्रत्यये परे ईत् ईकारो भवति।

तृणेढि, तृणेक्षि, तृणेह्मि, तृणेढु। अतृणेडित्यत्र व्यञ्जनादौ प्रत्ययेऽस्य विधानात् प्रत्ययाश्रयत्वमेव न वर्णाश्रयत्वम् वर्णस्य प्रत्ययविशेषणत्वादिति प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं भवत्येव आद्यन्तवद्भावाच्च व्यञ्जनादित्वम्। व्यञ्जनादावित्येव,—तृणहानि, अतृणहम्। *वितीत्येव, —तृण्ढः, दीर्घनिर्देश उत्तरार्थः* ॥62॥

ब्रूतः परादिः ॥ 4. 3. 63. ॥

ब्रूव ऊत् ब्रूत् ब्रूतेरूकारात्परो व्यञ्जनादौ विति प्रत्यये परे ईद्भवति, स च परादिः परावयवः। ब्रवीति, ब्रवीषि, ब्रवीमि, अब्रवीत्।

ऊत इति किम् ? आत्थ। व्यञ्जनादावित्येव, ब्रवाणि, अब्रवम्। वितीत्येव, —ब्रूतः ॥63॥

न्या०स०—ब्रूत०:—ब्रवीतीति-अत्र वचादेशो न ईतः परावयवत्वे शित्त्वात्, न तु तर्हि ब्रूतः शिदिति क्रियतां किं गुरुणा सूत्रेण ? नैवं, एवं कृते ब्रवीतीत्यत्र गुणो न स्यात् । तर्हि श्विदिति क्रियताम् ? न, एवमपि कृते जंगमीति-जाज्ञेति इत्यादौ ``गमिषद्यमश्छः'' (4-2-106) ``जा ज्ञाजनोऽत्यादौ'' (4-2-104) इत्याभ्यां छः जादेशश्च स्यात्, अत्यादेः सद्भावात् परादित्वे तु परभक्तत्वेन त्यादेरानन्तर्यान्न भवति ।

यङ्तुरुस्तोर्बहुलम् ।। 4. 3. 64. ।।

यङ्लुबन्तात् तु रु स्तु इत्येतेभ्यश्च धातुभ्यः परो व्यञ्जनादौ विति प्रत्यये परे ईद्भवति, 'बहुलम्' शिष्टप्रयोगानुसारेण स च परादिः, क्वचिद्विकल्पः ।

बोभवीति, बोभोति, नर्नृतीति, नर्नर्ति, लालपीति, लालप्ति । क्वचिन्न भवति—वर्वर्ति, चर्कर्मि । अन्ये तु वावदीति लालपीति रोरवीतीति नित्यं, बोभोति, बोभवीति, सोषोति, सोषवीति, चर्कर्ति, चर्करीति इति विकल्पः, नर्नर्ति, वर्वर्त्ति वर्वर्ष्टि इत्यत्र न भवतीत्याहुः । तुंक्—तेवीति, तौति, उत्तवीति, उत्तौति, रुक्—रवीति, रौति, उपरवीति, उपरौति, ष्टुंगक्, स्तवीति स्तौति उपस्तवीति, उपस्तौति । तुरुस्तुभ्य ईतं छान्दसमाहुरेके ।

व्यञ्जनादावित्येव, बोभवानि, अबोभवम्, लालपानि, तवानि, रवाणि स्तवानि । वितीत्येव, बोभूतः, लालप्तः, तुतः, रुतः, स्तुतः । अद्वेरित्यनुवृत्तेः तुतोथ तुष्टोथेत्यत्र न भवति, यङिति सामान्याभिधानेऽपि यङ्लुबन्तस्य ग्रहणम्, यङन्तस्यात्मनेपदित्वाद्वितो व्यञ्जनादेरसंभवात् ।।64।।

सः सिजस्तेर्दिस्योः ।। 4. 3. 65. ।।

सिच्प्रत्ययान्ताद्धातोरस्तेश्च सः सकारान्तात्परः परादिरीत् भवति, दिस्योः परयोः । अकार्षीत्, अकार्षीः, अलावीत्, अलावीः, आसीत्, आसीः । स इति किम् ? अदात्, अभूत् । दिस्योरिति किम् ? अस्ति, असि ।।65।।

न्या०स०—सः सिजस्ते०-आसीदिति—ह्यस्तनी दिव् सिव् विधानसामर्थ्याच्च ``व्यञ्जनाद्देः'' (4-3-78) इति ईत् देर्न लुप् ।

आसीरिति—आदेशादागम इति न्यायेन सकारलोपात्प्रागेव ईकारागमप्राप्तिः, ``अस्तेः सि हस्त्वेति'' (4-3-73) इति तु सूत्रमवित्प्रत्यये व्यतिसे इत्यादौ चरितार्थं तेनाऽत्र दिव्साहचर्यात् सिव् ह्यस्तन्या पवेति ।

पिबैति–दा–भू–स्थः सिचो लुप्परस्मै न चेट् ।। 4. 3. 66. ।।

एभ्यः परस्य सिचः परस्मैपदे परे लुब्भवति 'न चेट्' लुप्संनियोगे चैतेभ्य इट् न भवति । पिब, अपात्, एतीति इणिकोर्ग्रहणम् । अगात् अध्यगात्, दासंज्ञ–अदात्, अधात् । भू इति भवतेरस्त्यादेशस्य च ग्रहणम्-अभूत्, स्था-अस्थात्, सिज्लोपः परत्वादीतं बाधते । पिबेति किम् ? पातिपायत्योः अपासीत् वनं वा वस्त्रम् वा ।

दासंज्ञ इति किम् ? अदासीत् केदारम् भोजनं वा । परस्मै इति किम् ? अपासत पयांसि चैत्रेण । व्यत्यभविष्ट, उपास्थिषत । लुकमकृत्वा लुब्विधानं स्थानिवद्भावाभावार्थम्, तेनाबोभोदित्यत्र न वृद्धिः ।।66।।

न्या०स०–पिबैति०-न चेडिति नन्विटा सहितस्य सिचो लोपे पेचुष इत्यादौ उषादेशवत् सिध्यति किमिट्वर्जनेन, न वाच्यमिटः प्रागेव लोपविधेर्बलीयस्त्वात् सिच्लोपो भविष्यति आदेशादागम इति न्यायात् ? सत्यं, यावत्संभव इति न्यायात् पश्चादपीट् स्यात्, न च पेचुष इत्यादावपि तथा स्यादिति वाच्यं, यतस्तत्रोषादेशे कृते व्यञ्जनादित्वाभावः । अथ ``घसेकस्वरः'' (4-4-8) इत्यत्र क्वसोरित्युक्तं न व्यञ्जनादेरिति चेत् ? न, ``स्क्रसृभृवृ'' (4-4-81) इत्यनेन सिद्धे तस्य नियमार्थत्वात्, अथ स्थानित्वे व्यञ्जनादित्वं, न, वर्णविधित्वात् । व्यञ्जनं हि वर्ण इति । यङ्लुप्यपि अपापात्, अदादात्, अबोभोत्, अतास्थात्सर्वेषु इट्प्रतिषेधः ।

इणिकोर्ग्रहणमिति–इङस्तु आत्मनेपदित्वान्निरासः, इंदुं इत्यस्य त्वऽयतीति रूपम् ।

ट्धेघ्राशाछासो वा ।। 4. 3. 67. ।।

एभ्यः परस्य सिचः परस्मैपदे वा लुप् भवति, लुप्संनियोगे चैतेभ्य इट् न भवति ।

ट्धें-अधात्, अधासीत्, घ्रां-अघ्रात् अघ्रासीत्, शों–अशात्, अशासीत्, छों–अच्छात्, अच्छासीत्, सों सैं वा-आसात्, असासीत् । परस्मै इत्येव, अधिषातां स्तनौ वत्सेन, ट्धः पूर्वेण नित्यं प्राप्ते शेषेभ्योऽप्राप्ते विकल्पः ।।67।।

*न्या०स०–ट्धेघ्राशा०*सों सैंवेति छाशोः सोर्मध्ये पाठाभावान्न साहचर्यं, तेन न दैवादिकस्यैव ।

तन्भ्यो वा तथासि ण्गोश्च ।। 4. 3. 68. ।।

तनादेर्गणात्परस्य सिचस्ते थासि च प्रत्यये परे लुब्वा भवति, तत्संनियोगे च नकारस्य णकारस्य च लुब् भवति न चेट् ।

अतत, अतनिष्ट, अतथाः, अतनिष्ठाः, असत, असनिष्ट, असथाः, असनिष्ठाः, अक्षत, अक्षणिष्ट, अक्षथाः, अक्षणिष्ठाः, आर्त, आर्णिष्ट, आर्थाः, आर्णिष्ठाः, अतृत, अतर्णिष्ट, अतृथाः, अतर्णिष्ठाः, अघृत, अघर्णिष्ट, अघृथाः, अघर्णिष्ठाः, अवत अवनिष्ट, अवथाः, अवनिष्ठाः, अमत, अमनिष्ट, अमथाः, अमनिष्ठाः । इह परस्मै इति निवृत्तम् थास्ग्रहणात्, थास्साहचर्यात्तप्रत्यययोऽप्यात्मनेपदसंबन्ध्येव गृह्यते तेनेह न भवति । अतनिष्ट यूयम् ॥68॥

न्या०स०–तन्भ्यो वा०-ण्णोश्चेति–केचित् क्षणूगादीन् णोपदेशान्मन्यन्ते, तन्मतसंग्रहार्थं णकारकरणं स्वमते तु लाक्षणिकत्वात् णकारस्य नग्रहणेनापि सिद्धम् । *अतृतेति*–``न वृद्धिश्चाविति'' (4-3-11) इति निषेधान्न गुणः, यद् वा सिच्प्रत्ययेनाद्यतन्युपलक्षणात् ``सिज्लोपे ऋवर्णात्'' (4-3-36) इति अद्यतन्याः कित्त्वं, ``लुप्यय्वृल्लेनत्'' (7-4-112) इत्यत्र नञ् निर्दिष्टस्यानित्यत्वाद् वा सिचः स्थानित्वे तस्यैव कित्त्वं सिजाशिषाविति ।

सनस्तत्रा वा ॥ 4. 3. 69. ॥

सनोतेस्तत्र लुपि सत्यामन्तस्य वा आकारो भवति । असात, असत, असाथाः, असथाः । तत्रेति किम् ? असनिष्ट, असनिष्ठाः, केचिदात्वं न मन्यन्ते, नित्यमेवान्ये ॥69॥

धुड्ह्रस्वाल्लुगनिटस्तथोः ॥ 4. 3. 70. ॥

धुडन्ताद्ह्रस्वान्ताच्च धातोः परस्यानिटस्सिचस्तकारादौ थकारादौ च प्रत्यये लुग् भवति । अभैत्ताम्, अभैत्तम्, अभैत्त, अभित्त, अभित्थाः, वस्-अवात्ताम्, अवात्तम्, अवात्त, ह्रस्व-अकृत, अकृथाः, समस्थित, समस्थिथाः, आहत, आहथाः ।

धुड्ह्रस्वादिति किम् ? अमंस्त, अमंस्थाः, अच्योष्ट, अच्योष्ठाः, लुकः परत्वेऽपि नित्यत्वात्प्रागेव गुणः । तथोरिति किम् ? अभित्साताम्, अभित्सत, अकृषाताम्, अकृषत । अनिट इति किम् ? व्यद्योतिष्ट, व्यद्योतिष्ठाः । ह्रस्वान्ताद्धातोरिति किम् ? प्रास्नाविष्ट गौः स्वयमेव अलाविष्टाम्, अलविष्ट । ञेरिटश्च परस्य लोपो माभूत्, लुबधिकारे लुग्ग्रहणं सिज्लुक्यपि स्थानित्वेन तत्कार्यप्रतिपत्त्यर्थम्, तेनावात्तामित्यादिषु सिचि विधीयमाना वृद्धिस्तदभावेऽपि

सिद्धा भवति । तथासीत्यनुवर्त्तमाने तथग्रहणं व्याप्तिप्रतिपत्त्यर्थम् तेन साहचर्यं नास्ति । तथोरिति द्विवचनं यथासंख्यपरिहारार्थम् ॥70॥

न्या०स०–धुड्ह्रस्वा०-अकृतेति यदि तनादौ पाठः स्यात्तदा वा लुक् स्यात् । *अलाविष्टामिति*-नन्वनिट इत्यंशेन द्व्यङ्गविकलता ? नैवं, अलावि इति ह्रस्वान्तरूपाश्रयणेन ततः परस्यानिटः सिचो विद्यमानत्वात् ।

इट ईति ॥ 4. 3. 71. ॥

इटः परस्य सिच ईति परे लुग् भवति । अलावीत्, सिचो लुक्यपि स्थानिवद्भावाद्वृद्धिः । अग्रहीत् । इट इति किम् ? अकार्षीत्, अरौत्सीत् । इति किम् ? अलाविष्टम्, अभणिषम् ॥71॥

सो धि वा ॥ 4. 3. 72. ॥

धातोर्धकारादौ प्रत्यये परे सकारस्य लुग् वा भवति । चकाधि, चकाद्धि, आशाध्वम्, आशाद्ध्वम्, अलविड्ढ्वम्, अलविढ्वम् । सिच्यनुवर्तमाने सग्रहणं सामान्यसकारपरिग्रहार्थम्, तेन प्रकृतिसकारस्यापि लुग् भवति । विकल्पं नेच्छन्त्येके, अन्ये तु सिच एव नित्यं लोपमिच्छन्ति ॥72॥

न्या०स०–सो धिवा-अलविड्ढ्वमिति-लू धातुस्ततो ध्वम्, सिच् इडागमे च सिचः षत्वे च ''तवर्गस्य'' (1-3-60) इति धस्य ढत्वे ''तृतीयस्तृतीय'' (1-3-49) इति षस्य डत्वे च सिद्धम् ।

अस्तेः सि हस्त्वेति ॥ 4. 3. 73. ॥

अस्तेः सकारस्य सकारादौ प्रत्यये परे लुग् भवति, एकारे तु प्रत्यये सकारस्य हकारः । असि, व्यतिसे । अकारसकारयोर्लोपे प्रत्ययमात्रं पदम् । हस्त्वेति, व्यतिहे, भावयामाहे, कारयामाहे चैत्रेण, परोक्षाया एकारे नेच्छन्त्यन्ये-भावयामासे, कारयामासे ॥73॥

दुह-दिह-लिह-गुहो दन्त्यात्मने वा सकः ॥ 4. 3. 74. ॥

एभ्यः परस्य सक्प्रत्ययस्य दन्त्यादावात्मनेपदे परे लुग् वा भवति ।

दुह,–अदुग्ध, अधुक्षत, अदुग्धाः,–अधुक्षथाः, अधुग्ध्वम्, अधुक्षध्वम्, अदुह्वहि, अधुक्षावहि, दिह–अदिग्ध, अधिक्षत, अदिग्धाः, अधिक्षथाः, अधिग्ध्वम्, अधिक्षध्वम्,

अदिह्वहि, अधिक्षावहि, लिह-अलीढ, अलिक्षत, अलीढाः, अलिक्षथाः, अलीढ्वम्, अलिक्षध्वम्, अलिह्वहि, अलिक्षावहि, गुह्–न्यगूढ, न्यघुक्षत, न्यगूढाः, न्यघुक्षथाः, न्यघूड्ढ्वम्, न्यघुक्षध्वम्, न्यगुह्वहि, न्यघुक्षावहि । आत्मन इति किम् ? अधुक्षत्, अधिक्षत् । दन्त्येति किम् ? अधुक्षामहि, अधिक्षामहि ।।74।।

स्वरेऽतः ।। 4. 3. 75. ।।

सकोऽकारस्य स्वरादौ प्रत्यये परे लुग् भवति । अधुक्षाताम्, अधुक्षाथाम्, अधुक्षि, अधिक्षाताम्, अधिक्षाथाम्, अधिक्षि । स्वर इति किम् ? अधुक्षत, अधिक्षत । अधुक्षन्तेत्यकारलोपेऽपि स्थानिवद्भावादन्तोऽदादेशो न भवति ।।75।।

न्या०स०–स्वरेऽतः-अधुक्षातामिति-सकोऽकारलोपात् ``आतामाते'' (4-2-121) इति इत्वं, ``अवर्णस्य'' (1-2-6) इत्येत्वं च न भवति । *स्थानिवद्भावादिति*-प्राचः पूर्वास्माद्विधिरित्याश्रीयते इति ``स्वरस्य पर'' (7-4-110) इति स्थानिवद्भावः ।

दरिद्रोऽद्यतन्यां वा ।। 4. 3. 76. ।।

दरिद्रातेरद्यतन्यां विषयेऽन्तस्य वा लुग् भवति । अदरिद्रीत्, अदरिद्रासीत्, अदरिद्रि, अदरिद्रायि ।।76।।

न्या०स०–दरिद्रोऽद्यतन्यां वा-अद्यतन्यां विषयेति-विषयव्याख्यानादादेशादागम इति न्यायात् प्रथमं ``यमिरमिनम्यातः'' (4-4-86) इति इट् सोन्तश्च न, भावकर्मणोस्तु ञिट्ञिचि ``आत ऐः कृञ्ञौ'' (4-3-53) इति ऐकारो न ।

अशित्यस्सन्णकज्णकानटि ।। 4. 3. 77. ।।

सकारादिसन्णकच्णकानड्वर्जितेऽशिति प्रत्यये विषयभूते दरिद्रातेरन्तस्य लुग् भवति । दरिद्रयति, दरिद्रिता, दरिद्रितुम्, दरिद्रणीयम्, साधुदरिद्री । णिन्-दरिद्र्यते, दरिद्र्यात्, दरिद्रांचकृवान्, विषयसप्तमीविज्ञानात्पूर्वमेवाकारलोपे दरिद्रातीति दरिद्रः । अजेव भवति नत्वाकारान्तलक्षणो णः । तथा दुर्दरिद्रमित्याकारान्तलक्षणोऽनो न भवति । दरिद्राणम्, दरिद्र इति च घञि `आत' इति ऐर्न भवति ।

अशितीति किम् ? दरिद्राति, दरिद्रामि, अदरिद्राम् । सन्नादिवर्जनं किम् ? सनि,-दिदरिद्रासति । क्रियायां क्रियार्थायां णकचि दरिद्रायको व्रजति । ``पर्यायार्हर्ण'' (5-3-20) इत्यादिना णके दरिद्रायिका वर्तते । ``णकतृचौ'' (5-1-48) इति च णके दरिद्रायकः । अनटि, द्ररिद्राणम् । सनः सादिविशेषणं किम् ? दिदरिद्रिषति । अक-इत्येव वक्तव्ये णकच्णकयोरुपादानं किम् ? आशिष्यकनि मा भूत्-दरिद्रकः । केचिद्दरिद्रातेरनिटि क्वसावालोपं नेच्छन्ति, तन्मते इट् आम् चाभिधानान्न भवतः–दिदरिद्रावान् ।।77।।

न्या०स०– अशित्यस्सन्०–दरिद्रयतीति-दरिद्रतं प्रयुङ्क्ते णिगि विषयविज्ञानात् पोऽन्तो न । *दरिद्रातीति दरिद्रः इति*-विशेषविहितापि लुक् लोपात्स्वरादेश इति ``आत ऐः कृञ्ञौ'' (4-3-53) इत्यैकारेण प्रत्यये बाध्यते ।

दरिद्रांचकृवानिति-आमादेशस्यानित्यत्वे ददरिद्रवानित्यपि, षष्ठ्यां तु ददरिद्रुष इति भवति ।

दिदरिद्रिषतीति-नन्वत्र ``इडेत् पुसि च'' (4-3-94) इत्यनेन आल्लुकि दिदरिद्रिषतीत्येव भविष्यति किं सनः सादिविशेषनेन ? सत्यं, सादिं विना ``इडेत्'' (4-3-94) इति असन्णकचिति विशेषनिषेधो बध्नीयात् ।

व्यञ्जनाद्देः सश्च दः ।। 4. 3. 78. ।।

धातोर्व्यञ्जनान्तात्परस्य देर्लुक् यथासंभवं धातुसकारस्य च दकारो भवति । अचकाद्भवान् अन्वशात्, अजागः, अबिभः, शकेः अशाशक्, वस्केः–अवावक् । व्यञ्जनादिति किम् ? अयात् । धातोरित्येव,–अभैत्सीत्, ईतः परादित्वात्सेतोऽपि प्राप्नोति ।।78।।

न्या०स०–व्यञ्जनाद्देः–अब्रवीदित्यादौ ईतः परत्वेऽपि सन्निपातन्यायाद्देर्न लुक् । अजागरित्यादिषु तु नानिष्टार्थेति न्यायात् सन्निपातन्यायो न प्रवृत्तः । *अवावगिति*–``संयोगस्यादौ'' (2-1-88) इति सलुकोऽसत्त्वेऽपि देरनन्तरस्य विज्ञानात् पाश्चात्यसस्य दो न भवति, अत्र व्यञ्जनादिति भणनाद्दिर्ह्यस्तन्या एव संभवति ।

सेः स्द्धां च रुर्वा ।। 4. 3. 79. ।।

धातोर्व्यञ्जनान्तात्परस्य सेर्लुक् सकारदकारधकाराणां च यथासंभवं वा रुर्भवति । अचकास्त्वम्, अचकात्त्वम्, अन्वशास्त्वम्, अन्वशात्त्वम् । सकारस्य रुत्वे सिद्धे पक्षे रुत्वबाधनार्थं वचनम्, ततश्च पक्षे ``धुटस्तृतीयः'' (2-1-76) इति सकारस्य दकारो भवति ।

अभिनस्त्वम्, अभिनत्त्वम्, अच्छिनस्त्वम्, अच्छिनत्त्वम्, अरुणस्त्वम्, अरुणत्त्वम्, अजर्घास्त्वम्, अजर्घत्त्वम्, अबिभस्त्वम्, अजागस्त्वम् । रोरुदित्करणं किम् ? उत्त्वादिकार्यं यथा स्यात्-अभिनोऽत्र, अरुणोऽत्र । दिप्रत्यासत्तेः सिरपि ह्यस्तन्या एव । तेनेह न भवति, भिनत्सि ।।79।।

न्या०स०—सेः स्द्वां० उत्वादिकार्यमिति-आदिशब्दात् ``रोर्यः'' (1-3-36) इत्यादि ।

योऽशिति ।। 4. 3. 80. ।।

व्यञ्जनान्ताद्धातोः परस्य यकारस्याशिति प्रत्यये परे लुग्भवति । जंगमिता, बेभिदिता, बेभिदांचक्रे, बेभिदिषीष्ट । क्ये,—बेभिद्यते, सोसूचिता, सोसूत्रिता, मोमूत्रिता, शाशयिता, कुषुभिता, मगधकः । सूच्यादीनां णिज्लोपे शयादेशेऽस्य लोपे च व्यञ्जनान्तता, अन्ये तु लाक्षणिकव्यञ्जनान्तेभ्यो यलोपं नेच्छन्ति, तेन सोसूच्यिता, शाशय्यिता, कुषुभ्यिता, तन्मतसंग्रहार्थं व्यञ्जनान्ताद्धातोर्विहितस्येति विहितविशेषणं कार्यम् ।

धातोरित्येव,—ईर्ष्यिता, मव्यिता, पुत्रकाम्यिता । व्यञ्जनादित्येव,—लोलूयिता, —कण्डूयिता । अशितीति किम् ? बेभिद्यते, चेच्छिद्यते ।।80।।

न्या०स०—योऽशिति-जंगमितेति यद्यत्र सस्वरस्य यस्य लुक् स्यात्तदा जंगमित इत्यादौ ``गमहन'' (4-2-44) इत्युपान्त्यलोपः स्यात्, स्थितेत्वस्य स्थानित्वाद् व्यवधायकत्वम् ।

क्यो वा ।। 4. 3. 81. ।।

धातोर्व्यञ्जनात्परस्य क्यस्याशिति प्रत्यये परे वा लुग्भवति, सामान्यनिर्देशात् क्यन्क्यङोर्ग्रहणम् । क्यङ्षस्तु व्यञ्जनान्तात्प्राप्तिरेव नास्ति । समिधमिच्छति, समिधिष्यति, समिध्यिष्यति, समिध्यात्, समिध्यात्, दृषदिवाचरति दृषदिष्यते, दृषद्यिष्यते, दृषदिषीष्ट, दृषद्यिषीष्ट । व्यञ्जनादित्येव, पटीयिता, पटायिता । अशितीत्येव, —समिध्यति, दृषद्यते, पठ्यते । केचित्तु यकोऽपि लुग्विकल्पमिच्छन्ति । भिषजिता, भिषज्यिता । तन्मतसंग्रहार्थं ककारेणोपलक्षितो य् क्य् इति व्याख्येयम् ।

अन्यस्त्वाह शिष्य इवाचरिता शिषिता शिष्यितेति । यद्यस्ति प्रयोगस्तदा कृत्क्यपोऽपि ग्रहणम् । क्य इति व्यञ्जनात्षष्ठी अतो लुकि कृते लुगर्था । अन्यथा हि अतो लुगपवादः क्यलुग्विज्ञायेत एवं पूर्वत्रापि ।।81।।

न्या०स०—क्योवा-क्यलुक् विज्ञायेतेति—फलं च स्थानिवद्भावेस्य अदृषदि, अपापचि इत्यादौ न वृद्धिः, सस्वरयकारलोपे तु स्थानित्वं न स्यात् समुदायलोपात्, नापि ``न वृद्धिश्च'' (4-3-11) इति वृद्धिनिषेधः, तत्र नामिन इत्यधिकारात् । तथा अवध्वंसते विच्, अवध्वंसमिच्छति क्यन्, ततः क्तप्रत्यये अवध्वंसित इत्यस्य अकारस्य स्थानित्वात् ``नो व्यञ्जन'' (4-3-45) इति नस्य न लुक्, सस्वरस्य तु क्यनो लोपे स्वरव्यञ्जनविधित्वात् ``स्वरस्य परे'' (7-4-110) इति स्थानित्वाभावान्नस्य लुक् स्यादेव, तथा ``अतः'' (4-3-82) इत्यकारलोपे स्थानिवद्भावे समिधिष्यतीत्यादिष्वपि गुणाद्यभावः सिद्धः, सस्वरक्यलोपे तु न सिध्येत् ।

अतः ॥ 4. 3. 82. ॥

अकारान्ताद्धातोर्विहितेऽशिति प्रत्यये तस्यैव धातोर्लुगन्तादेशो भवति । कथयति, कुषुभ्यति, मगध्यति, चैकीर्षितः, प्रचिकीर्ष्य, समिध्यिष्यति, दृषद्यिष्यते । अत इति विहितविशेषणादिह न भवति—गतः, गतवान्, ततः, ततवान् । अत इति किम् ? याता, वाता । अशितीत्येव,—चिकीर्षेत, लोलूयेत । चिकीर्ष्यते चिकीर्ष्यादित्यादौ लोपविधेर्बलीयस्त्वात् ``दीर्घश्च्वि''—(4-3-108) इत्यादिना दीर्घो न भवति,—विषयविज्ञानाद्वा प्रागेव लोपः ॥82॥

न्या०स०—अतः चैकीर्षित इति-क्ते चिकीर्षितं प्रज्ञाद्यणि चैकीर्षितः । *विषयविज्ञानाद्वेति*-लोपात् स्वरादेश इत्याशङ्क्याह ।

णेरनिटि ॥ 4. 3. 83. ॥

अनिट्यशिति प्रत्यये णेर्लुग् भवति । अततक्षत्, अररक्षत्, आटिटत्, आशिशत्, कारणा, हारणा, कारकः, हारकः, कार्यते, हार्यते, प्रकार्य । इय्गुणवृद्धिदीर्घतागमानां बाधकोऽयम्, अनिटीति विषयसप्तम्यपि तेन चेतन इत्यत्र प्रागेव णेर्लोपे ``इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात्'' (5-2-44) इति अनः सिद्धः । अनिटीति किम् ? कारयिता, हारयिता । अशितीत्येव, कारयति हारयति ॥83॥

न्या०स०—णेरनिटि-अनःसिद्ध इति-अन्यथाऽनेकस्वरत्वात् 'निन्दहिंस' 5-2-68 इति णक एव स्यात् ।

सेट्क्तयोः ॥ 4. 3. 84. ॥

सेट्कयोः क्तयोः परतोणेर्लु ग् भवति कारितः, कारितवान्, हारितः, हारितवान्, गणितः. संज्ञपितः पशुः । सेडिति किमर्थम् ? इटि कृते लोपो यथा स्यात् । शाकितः, शाकितवान् । अन्यथेह इट् न स्यात् ।।84।।

न्या०स०—सेट्क्तयोः इट् न स्यादिति-एकस्वरत्वात् ``एकस्वरादनुस्वार'' (4-4-56) इति इण्निषेधात्, न च वाच्यमेकस्वराद् विहिताभावादेवेहेट्निषेधो न भविष्यति किमर्थमिदमुक्तमिति, यतो विषय एव णिलोपापेक्षयेदं द्रष्टव्यम् ।

आमन्ताल्वाय्येत्नावय् ।। 4. 3. 85. ।।

आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नुप्रत्ययेषु परेषु णेरयादेशो भवति । लुकोऽपवादः । कारयांचकार, गणयांचकार, गण्डयन्तः, मण्डयन्तः, स्पृहयालुः, गृहयालुः, स्पृहयाय्यः, महयाय्यः, स्तनयित्नुः, गदयित्नुः, अन्ताय्येत्नव औणादिकाः ।।85।।

लघोर्यपि ।। 4. 3. 86. ।।

लघोः परस्य णेर्यपि परेऽयादेशो भवति । प्रशमय्य, प्रवेभिदय्य । लघोरिति किम् ? प्रतिपाद्य गतः । वचनसामर्थ्यादेकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयते न तु भूतपूर्वन्यायः अत इत्यकरणात् ।।86।।

न्या०स०—लघोर्यपि-प्रबेभिदय्येति-प्रबेभिद्यमानं प्रयुङ्क्ते यङन्ताण्णिग् न यङ्लुबन्तात् । ``अतः'' (4-3-82) इत्यलोपे ``योऽशिति'' (4-3-80) यलुप् अस्य स्थानित्वाद्गुणाभावः, प्रबेभिदनं पूर्वं, यङ् लुबन्ताद्धि णिगि गुणः स्यात्, ``न वृद्धिश्च'' (4-3-11) इति न यङः पूर्वं लोपाद् भूतपूर्वन्याय इति । ननु वचनादेकवर्णव्यवधानं तदाश्रीयते यदा व्यवहितो न संभवति, अत्र तु चुराद्यदन्तेषु प्रबेभिदय्येत्यत्र यङोऽकारलोपे च भूतपूर्वगत्याऽव्यवहितोऽपि संभवतीत्याह-*अत इत्यकरणादिति* ।

वाप्नोः ।। 4. 3. 87. ।।

आप्नोतेः परस्य णेर्यपि परेऽयादेशो वा भवति । प्रापय्य गतः, प्राप्य गतः । श्नुनिर्देशादिङादेशस्य न भवति, अध्याप्य गतः, `आप्लृंण् लम्भने' इत्यस्यापीच्छन्त्यन्ये ।।87।।

मेङो वा मित् ॥ 4. 3. 88. ॥

मेङो यपि परे मिदादेशो वा भवति । अपमित्य, अपमाय ॥88॥

न्या०स०—मेङो-अत्र मिदादेशेऽपि ``ह्रस्वस्य तः'' (4-4-113) तान्तः सिध्यति लाघवार्थं तु मिदादेशः ।

क्षेः क्षी ॥ 4. 3. 89. ॥

क्षेर्यपि परे क्षी आदेशो भवति । प्रक्षीय, उपक्षीय । निरनुबन्धनिर्देशात् क्षिंषश् हिंसायामित्येतस्य न भवति । प्रक्षित्य, अस्यापि ग्रहणमित्यन्ये ॥89॥

न्या०स०—क्षेः क्षी-निरनुबन्धनिर्द्देशादिति-अत्र पूर्वाचार्यप्रसिद्धानुबन्धग्रहात् क्षिंत् निवासे इत्यस्याऽपि ग्रहः ।

क्षय्यजय्यौ शक्तौ ॥ 4. 3. 90. ॥

क्षि जि इत्येतयोः शक्तौ गम्यमानायां यप्रत्ययेऽयन्तादेशो निपात्यते । शक्यः क्षेतुं, क्षय्यो व्याधिः, शक्यं क्षेतुं क्षय्यं बटुना, शक्यः जेतुम्, जय्यः शत्रुः, शक्यं जेतुं जय्यं राज्ञा । शक्ताविति किम् ? अर्हे क्षेयम्, जेयम् ॥90॥

क्रय्यः क्रयार्थे ॥ 4. 3. 91. ॥

क्रीणातेर्यप्रत्ययेऽयन्तादेशो निपात्यते `क्रयार्थे' क्रयाय चेत्प्रसारितोऽभिधेयो भवति । क्रय्यो गौः, क्रय्यः कम्बलः । क्रयार्थ इति किम् ? क्रेयं नो धान्यम् न चास्ति प्रसारितम् ॥91॥

सस्तः सि ॥ 4. 3. 92. ॥

अशितीत्यनुवर्तते, धातोः सकारान्तस्याशिति सकारादौ प्रत्यये विषयभूते तकारोऽन्तादेशो भवति । वस् वत्स्यति, अवत्स्यत्, अवात्सीत्, वत्सीष्ट चैत्रेण, व्यतिवत्सीष्ट, विवत्सति, अद्-जिघत्सति, घस्-घत्स्यति, व्यतिघत्सीष्ट । स इति किम् ? यक्षीष्ट, यक्ष्यति । सीति किम् ? वसिषीष्ट, वसिष्यते । अशितीत्येव, आस्से, वस्से । विषयसप्तमीविज्ञानात् अवात्ताम् अवात्तेत्यत्र प्रागेव सस्य तकारः ॥92॥

न्या०स०–सस्तः सि-अवात्तामिति-न च सिचो लुपः स्थानित्वाद् भविष्यति इति वाच्यं, यतः सकारे त उक्तः सस्य वर्णविधित्वात् ।

दीय् दीङः क्ङिति स्वरे ॥ 4. 3. 93. ॥

दीङः क्ङित्यशिति स्वरे परे दीयादेशो भवति । उपदिदीये, उपदिदीयाते, उपदिदीयिरे, उपदिदीयिध्वे, उपदिदीयिढ्वे, उपदिदीयानः । दीङो ङित्करणं यङ्लुप्निवृत्यर्थम्–उपदेद्यितः । क्ङितीति किम् ? उपदानम् । स्वर इति किम् ? उपदेदीयते । परोक्षायामिति सिद्धे क्ङिति स्वरे इत्युत्तरार्थम् ॥93॥

इडेत्पुसि चातो लुक् ॥ 4. 3. 94. ॥

क्ङित्यशिति स्वरे इटि एकारे पुसि च परे आकारान्तस्य धातोरन्तस्य लुग् भवति । पपतुः, पपुः, ङित्-अदधत् आह्वत्, संस्था, प्रपा । इट् पपिथ तस्थिथ, यङ्लुपि,–दादितुम्, दादितव्यम्, एत् व्यतिरे, व्यतिले पुस् उदगुः, अदुः । अयुः, अरुः, अलुः । क्ङितीत्येव, दानम्, ददौ । अशितीत्येव, यान्ति, वान्ति, व्यत्यरे व्यत्यले । स्वर इत्येव,–ग्लायते । अक्ङिदर्थं शिदर्थं चेडादिग्रहणम् ॥94॥

न्या०स०–इडेत् पुसि०–प्रपेति-प्रपीयत इति ``उपसर्गादातः'' (5-3-110) इत्यङ्, यदा तु प्रपिबन्त्यस्यामिति वाक्ये स्थादिभ्यः कस्तदा किद्द्वारमेव ।

संयोगादेर्वाशिष्येः ॥ 4. 3. 95. ॥

धातोः संयोगादेराकारान्तस्य क्ङित्याशिषि परेऽन्तस्यैकारादेशो वा भवति । ग्लेयात्, ग्लायात्, म्लेयात्, म्लायात् । अपच्छायादित्यत्र तु छकारस्य द्वित्वे सति संयोगादित्वस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति । संयोगादेरिति किम् ? यायात् । धातोरित्येव, निर्यायात् । क्ङितीत्येव, ग्लासीष्ट । आशिषीति किम् ? ग्लानः, म्लानः ॥95॥

गा-पा-स्था-सा-दा-मा-हाकः ॥ 4. 3. 96. ॥

एषामन्तस्य क्ङित्याशिष्येकारो भवति । गै-गेयात्, गास्थोर्मध्ये पाठाद् भौवादिकयोः `पै पा' इत्येतयोः पाशब्देन ग्रहणम्-पेयात्, पै इत्यस्य नेच्छन्त्यन्ये । आदादिकस्य पायात् । स्था-स्थेयात्, सों सैं वा-अवसेयात्, सैं क्षये इत्यस्य नेच्छन्त्यन्ये । दासंज्ञ,–देयात्, धेयात्, मांक्

मेयात्, हांक्-हेयात्, हाकः ककारो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । जहायात् । शेषाणां यङ्लुप्यपि भवति-जागेयात्, पापेयात्, तास्थेयात्, अवसासेयात्, दादेयात्, दाधेयात्, मामेयात् । एषामिति किम्? यायात् । क्ङितीत्येव, गासीष्ट, पासीष्ट ।।96।।

न्या०स०—गापास्था०-गाङ् मेङ्माङां यङ्लुबन्तानां ग्रह, अन्यथामीषामात्मनेपदित्वात् किदाशीर्न संभवति । *नेच्छन्त्यन्ये इति*-लाक्षणिकत्वादिति शेषः ।

ईर्व्यञ्जनेऽयपि ।। 4. 3. 97. ।।

गादीनामन्तस्य यप्वर्जिते क्ङित्यशिति व्यञ्जनादौ प्रत्यये परे ईर्भवति । गैं गाङ्, वा-गीयते, जेगीयते, गीतः, गीतवान्, गीत्वा, गाङो नेच्छन्त्यन्ये । पा-पीयते, पेपीयते, पीतः, पीतवान्, पीत्वा, स्था-स्थीयते तेष्ठीयते, सो-सीयते, सेषीयते, सैं-सीयते, सेसीयते, अषोपदेशत्वान्न षत्वम्, दासंज्ञ-दीयते, देदीयते, धीयते, देधीयते, धीतः, धीतवान्, धीत्वा स्तनम्, मा इति मामाङ्मेङां त्रयाणां ग्रहणम् मीयते, मेमीयते, मातेर्नेच्छन्त्यन्ये । मायते, मामायते । एवं पूर्वसूत्रेऽपि मायात्, हांक्-हीयते, जेहीयते हीनः, हीनवान्, हाङो न भवति-हायते, जाहायते । व्यञ्जन इति किम् ? तस्थतुः, तस्थुः ।

अशितीत्येव,—माहि । क्ङितीत्येव, गाता, दाता । अयपीति किम् ? प्रगाय, प्रपाय, प्रस्थाय, प्रदाय, प्रधाय, प्रमाय, प्रहाय । कथमापीय ? पीङो भविष्यति, स्वरादावन्तलोपविधाना-द्व्यञ्जनादौ लब्धे व्यञ्जनग्रहणं साक्षाद्व्यञ्जनप्रतिपत्त्यर्थम्, तेन क्विब्लुकि स्थानिवद्भावेनापि न भवति, शंस्थाः पुमान् ।।97।।

न्या०स०—ईर्व्यञ्जने०-हाङो न भवतीति-``हाकः'' (4-2-100) इति भणनात् । *शंस्था इति*-शं सुखं तत्र तिष्ठति ``शमो नाम्न्यः'' (5-1-134) इति अप्रत्ययापवादे ``स्थापास्ना'' (5-1-142) इति के प्राप्तेऽसरूपत्वात् क्विप्, शंस्थाशब्दादन्यत्र लुप्तव्यञ्जनेऽपीच्छन्त्येके, तथा च जयकुमारः `पां पाने' इत्यस्य क्विपि पीरित्याह ।

घ्राध्मोर्यङि ।। 4. 3. 98. ।।

घ्राध्मोर्यङि परे ईकारोऽन्तादेशो भवति । जेघ्रीयते, देध्मीयते । यङीति किम् ? घ्रायते, ध्मायते, यङ्लुपि,—जाघ्रीतः, दाध्मीतः । अन्ये तु यङ्लुप्यपीच्छन्ति-जेघ्रीतः, देध्मीतः ।।68।।

हनो घ्नीर्वधे ।। 4. 3. 99. ।।

हन्तेर्वधे हिंसायां वर्तमानस्य यङि घ्नी इत्यादेशो भवति । जेघ्नीयते, द्विषो जेघ्नीयिषीष्ट वः । वधे इति किम् ? गतौ जंघन्यते, केचिदिमं विकल्पेनाहुः, त्वं तु राजन् चटकमपि न जंघन्यसे । दीर्घनिर्देशात् यङ्लुप्यपि-जेघ्नीतः, नेच्छन्त्यन्ये जंघत इति भवति ।।99।।

न्या०स०—हनो०-यङ्लुप्यपीति-यदि पूर्वसूत्रवत् यङ्येव स्यात्तदा घ्निरित्येव कुर्याद् दीर्घसिद्धा-वित्यर्थः ।

ञ्णिति घात् ।। 4. 3. 100. ।।

ञ्णिति प्रत्यये परे हन्तोर्घात् इत्ययमादेशो भवति । घातः, घातयति, घातकः, साधुघाती, घातंघातम् । ञ्णितीति किम् ? हतः ।।100।।

ञिणवि घन् ।। 4. 3. 101. ।।

ञौ णवि च प्रत्यये परे हन्तेर्घन् इत्ययमादेशो भवति । अघानि, जघान, अहं जघन, अहं जघान ।।101।।

न्या०स०—ञिणवि०-``अङे हिहनः'' (4-1-34) इति सिद्धौ णव्ग्रहणं घात्बाधनार्थम् ।

नशेर्नेश् वाङि ।। 4. 3. 102. ।।

नशेरङि परे नेश् इत्ययमादेशो वा भवति । अनेशत्, अनशत्, अनेशताम्, अनशताम्, अनेशन्, अनशन्, अनेशम्, अनशम् । अङीति किम् ? नश्यति ।।102।।

श्वयत्यसूवचपतः श्वास्थवोचपप्तम् ।। 4. 3. 103. ।।

श्वयति असू वच् पत् इत्येतेषामङि परे श्व अस्थ वोच पप्त इत्येते आदेशा भवन्ति । अश्वत्, अश्वताम्, अश्वन्, अश्वः । असू, आस्थत्, आस्थताम्, आस्थन्, अपास्थत, अपास्थेताम्, अपास्थन्त, वच् ब्रूग् वा—अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन्, अवोचत । पत्, अपप्तत्, अपप्तताम्, अपप्तन् । श्वयतेस्तिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । अशेश्वियत्, अशोशुवत् ।।103।।

न्या०स०–श्वयत्यसू०–यङ्लुप्निवृत्त्यर्थ इति-अन्येषां तु यङ्लुपि मूलप्रयोगा एव ।

शीङ एः शिति ।। 4. 3. 104. ।।

शीङः शिति परे एकारोऽन्तादेशो भवति । शेते, शयाते, शेरते, शेताम्, शयीत्, अशेत, शयानः, अतिशयानः । शितीति किम् ? शिश्ये, संशीतिः, ङिन्निर्देशाद्यङ्लुपि न भवति । शेशीतः, शेश्यति ।।104।।

क्ङिति यि शय् ।। 4. 3. 105. ।।

शीङः क्ङिति यकारादौ प्रत्यये शयादेशो भवति । शय्यते, शाशय्यते, संशय्य, शय्या । यीति किम् ? शिश्यानः । क्ङितीति किम् ? शेयम् । यङ्लुपि न भवति–संशेशीय ।।105।।

उपसर्गादूहो ह्रस्वः ।। 4. 3. 106. ।।

उपसर्गात्परस्योहतेरूकारस्य क्ङिति यकारादौ प्रत्यये परे ह्रस्वो भवति । समुह्यते, समुह्यात्, समुह्य, पर्युह्यते, पर्युह्यात्, पर्युह्य, अभ्युह्यते, अभ्युह्यात्, अभ्युह्य । उपसर्गादिति किम् ? ऊह्यते, यीत्येव, समूहितम् । क्ङन्तीत्येव,–अभ्यूह्योऽयमर्थः । ऊ ऊह इति ऊकार प्रश्लेषात् आ ऊह्यते ओह्यते समोह्यते समौह्यतेत्यत्र न भवति ।।106।।

न्या०स०–उपसर्गादूह०-प्रश्लेषादिति–ऊकारात् षष्ठ्याः सूत्रत्वाल्लुप् ऊहश्च षष्ठी एवं प्रश्लेषः, एवमुत्तरसूत्रेऽपि इण इत्यत्र ।

आशिषीणः ।। 4. 3. 107. ।।

उपसर्गात्परस्येण ईकारस्य क्ङिति यकारादावाशिषि परतो ह्रस्वो भवति । उदियात्, समियात्, अन्वियात् । उत्तरेण दीर्घत्वेऽनेन ह्रस्वः । आशिषीति किम् ? उदीयते । उपसर्गादित्येव,–ईयात् । ई इण इति ईकारप्रश्लेषात् आ ईयात् एयात् समेयादित्यत्र न भवति ।

ननु प्रतीयादित्यत्र समानलक्षणे दीर्घे सति कथं न ह्रस्वः ? न, दीर्घ सति उपसर्गात्परस्य इणोऽभावात् । केचित् अत्रापीच्छन्ति । प्रतियात् । इकोऽपि समानदीर्घत्वे इच्छन्त्येके-अधियात् ।।107।।

न्या०स०—आशिषीणः—इणोभावादिति-धात्वभावादित्यर्थः । *अत्रापीच्छन्ति*-ते ह्युभयोः स्थाने इति धातुव्यपदेशमेकदेशेऽपि समुदाय इति प्रत्युपसर्गं च कुर्वते ।

दीर्घश्च्वि–यङ्–यक्–क्येषु च ॥ 4. 3. 108. ॥

च्वौ यङि–यकि–क्येषु यकारादावाशिषि च परतोऽन्त्यस्वरस्य दीर्घो भवति । च्वि–शुचीकरोति, शुचीभवति, शुचीस्यात्, पटूकरोति, पटूभवति, पटूस्यात् । यङ्-चेचीयते, तोष्टूयते, यक्-मन्तूयति । वल्गूयति । बहुवचनात् क्यशब्देन क्यन्क्यङ्क्यङ्ष्क्यानामविशेषेण ग्रहणम्, अन्यथैकानुबन्धस्यैव क्यस्य ग्रहणं स्यात् । क्यन् निधीयति, दधीयति, क्यङ्, श्येनायते, भृशायते, क्यङ्ष्, लोहितायते, लोहितायति, क्य, चीयते, श्रूयते, आशिषि यि, चीयात्, स्तूयात्, इयात् । आशिषि यीत्येव, चेषीष्ट । च्विक्यानां ग्रहणादधातोरप्ययं विधिः ॥108॥

न्या०स०—दीर्घश्च्वि०-च्व्यन्तत्वात् सेः ``अव्ययस्य'' (3-2-7) इति लुप् ।

ऋतो री ॥ 4. 3. 109. ॥

धातोरधातोर्वा ऋदन्तस्य श्रुतत्वादृतः स्थाने रीरित्ययमादेशो भवति । च्वियङ्यक्क्येषु । पित्रीकरोति, पित्रीभवति, पित्रीस्यात्, चेक्रीयते, जेह्रीयते, पित्रीयति, मात्रीयति, पित्रीयते, मात्रीयते । ऋत इति किम् ? चेकीर्यते, निजेगिल्यते ॥109॥

रिः शक्याशीर्ये ॥ 4. 3. 110. ॥

ऋकारान्तस्य धातोर्ऋतः स्थाने शे क्ये आशीर्ये च परे रिरादेशो भवति । शे व्याप्रियते, आद्रियते, क्रिया, क्रियते, ह्रियते, क्रियात्, ह्रियात् । ह्रस्वविधानात्पूर्वेण दीर्घत्वं न भवति । आशीर्य इति किम् ? कृषीष्ट, हृषीष्ट ॥110॥

न्या०स०—रिः शक्य०-दीर्घत्वं न भवतीति-अन्यथा पूर्वेणापि साध्येत ।

ईश्च्वाववर्णस्यानव्ययस्य ॥ 4. 3. 111. ॥

अव्ययवर्जितस्यावर्णान्तस्य च्वौ प्रत्यये ईकारोऽन्तादेशो भवति । शुक्लीकरोति, शुक्लीभवति, शुक्लीस्यात्, मालीकरोति, मालीभवति, मालीस्यात् । अनव्ययस्येति किम् ?

दिवाभूता रात्रिः, दोषाभूतमहः। दीर्घत्वापवादो योगः ॥111॥

क्यनि ॥ 4. 3. 112. ॥

क्यनि परेऽवर्णान्तस्येकारोऽन्तादेशो भवति, दीर्घत्वापवादः। पुत्रीयति, मालीयति, योगविभाग उत्तरार्थः ॥112॥

*न्या०स०—क्यनि-*अव्ययात् क्यनोऽभावादनव्ययस्येति न विवृत्तम्।

क्षुत्–तृड्–गर्धेऽशनायोदन्य–धनायम् ॥ 4. 3. 113. ॥

क्षुदादिष्वर्थेषु यथासंख्यमशनायादयः क्यन्नन्ता निपात्यन्ते, क्षुधि गम्यमानायामशनशब्दस्यात्वम् तृषि गम्यमानायामुदकशब्दस्योदन्नित्ययमादेशो, गर्धे गम्यमाने धनशब्दस्यात्वम् क्यनि परे निपात्यते। अशनायति, उदन्यति, धनायति। क्षुत्तृड्गर्ध इति किम्। अशनीयति, उदकीयति, धनीयति दानाय ॥113॥

वृषाश्वान्मैथुने स्सोऽन्तः ॥ 4. 3. 114. ॥

वृषशब्दादश्वशब्दाच्च मैथुने वर्तमानात् क्यनि परे स्सकारो भवति, स चान्तोऽवयवः। वृषस्यति गौः। अश्वस्यति वडवा। वृषाश्वशब्दावत्र मैथुने वर्तते, मनुष्यादावपि हि प्रयुज्येते। मैथुनेच्छापर्यायौ वृषस्याश्वस्येति।

'सा क्षीरकण्ठकं वत्सं वृषस्यन्ती न लज्जिता।'

शुनी गौश्च स्वमश्वस्यत्ति। लक्ष्मणं सा वृषस्यन्ती महोक्षं गौरिवागमत्।

मैथुन इति किम् ? वृषीयति, अश्वीयति ब्राह्मणी। स्स इति द्विसकारनिर्देश षत्वनिषेधार्थः। तेनोत्तरत्र दधिस्यति मधुस्यतीत्यत्र षत्वं न भवति ॥114॥

*न्या०स०—वृषाश्वान्०-*मैथुनेच्छायां वर्त्तमानौ क्व दृष्टावित्याह-*सा क्षीरकण्ठकं वत्समित्यादि-* अन्तशब्दाभावे सर्प्पिष्यतीत्यत्रोत्तरेण सागमे तस्य च प्रत्ययत्वात् ''नाम सित्'' (1-1-21) इत्यनेन सर्पिस्शब्दस्य पदत्वे सो रुत्वं स्यात्तस्य ''शषसे शषसं वा'' (1-3-6) इति वा रस्य सत्वे सर्प्पिः स्यति सर्प्पिस्स्यतीति रूपद्वयं स्यात्, अन्तसद्भावे त्ववयवत्वेनाविभक्त्यन्तात् सकारस्योत्पादे पदमध्यत्वात्प्रकृतिसस्य ''नाम्यन्त'' (2-3-15) इति षत्वे ''सस्यशषौ'' (1-3-61)

इति प्रत्ययसस्य षत्वे सर्प्पिष्ष्यतीति स्यात् । *षत्वं न भवतीति*-दधिस्यतीत्यादिप्रयोगदृष्टेः प्रसिद्धस्यैव ``नाम्यन्तस्था'' (2-3-15) इति षत्वस्य निषेधस्तेन सर्प्पिष्स्यतीत्यादावागमसकारस्य `सस्य शषौ' 1-3-61 इत्यनेन षत्वं सिद्धम् ।

अस् च लौल्ये ।। 4. 3. 115. ।।

भोक्तुमभिलाषातिरेको लौल्यम्, तत्र गम्यमाने क्यनि परे नाम्नः स्सोऽस् चान्तो भवति । दधि भक्षितुमिच्छति दधिस्यति, दध्यस्यति, मधुस्यति मध्वस्यति, एवं क्षीरस्यति, लवणस्यति ।

अस्विधानमनकारान्तार्थम् । अकारान्तेषु हि ``लुगस्यादेत्यपदे'' (2-1-112) इति लुकि सति विशेषो नास्ति, अन्यस्तु लुकममृष्यमाणः क्षीरास्यति लवणास्यति इत्युदाहरतितच्च न बहुसंमतम् । लौल्य इति किम् ? क्षीरीयति दानाय ।।115।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानत्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृतौ चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

कर्णं च सिन्धुराजं च निर्जित्य युधि दुर्जयम् ।
श्रीभीमेनाधुना चक्रे महाभारतमन्यथा ।।1।।

न्या०स०—अस्च०-दधि भक्षितुमिच्छतीति-केचिल्लक्षीस्थाने भक्षीति पठन्ति तन्मतेनेदं, चुरादीनां णिचोऽनित्यत्वाद् वा । *दधिस्यतीति*-द्विसकारपाठात् ``नाम्यन्तस्था'' (2-3-15) इति न षत्वम् । पय इच्छति क्यनियमेन पदसंज्ञाकार्याणां व्यावर्त्तितत्वात् । पयसस्यति चर्मणस्यति, स्से तु सति पयस्स्यति चर्मस्यति ।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्र० श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानास्वोपज्ञशब्दानुशासनबृहद्वृत्तौ न्यासस्य चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

अथ चतुर्थः पादः

अस्तिब्रु वोर्भूवचावशिति ।। 4. 4. 1. ।।

अस्तिब्रुवोर्यथासंख्यं भू वच् इत्येतावादेशौ भवतः अशिति प्रत्यये विषयभूते । अभूत्, बभूव, भविता, भूयात्, अभविष्यत्, भविष्यति, बोभूयते, बुभूषति, भवितव्यम्, भवितुम्, ब्रू-अवोचत्, अवोचत, उच्यते, उवाच, ऊचे, वक्ता, उच्यात्, वक्षीष्ट, अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत, वक्ष्यति, वक्ष्यते, वावच्यते, विवक्षति, विवक्ष्यते, वक्तव्यम्, वक्तुम् । ब्रूंग्कोऽनुस्वरित्त्वाद्वच इडभावः ।

कथं लावण्य, उत्पाद्य, इवास, यत्नः ? असतेरयं प्रयोगः । ईक्षामासेत्यादौ णवन्तानुप्रयोगप्रतिरूपकनिपातस्य वा । अशितीति किम् ? अस्ति, स्यात्, अस्तु, आसीत्, सन्-ब्रवीति, ब्रूते, ब्रूयात्, ब्रवीतु, अब्रवीत्, ब्रूवन्, ब्रुवाणः । विषयसप्तमीनिर्देशः किम् ? भव्यम्, वाच्यम् । प्रागेवादेशे यध्यणौ सिद्धौ । चकासामासेत्यादौ तु अनुप्रयोगे कृभ्वस्तीनां पृथग् निर्देशात् न भवति, अस्तीति निर्देशादस्यतेरसतेश्च न भवति । धात्वन्तरेणैव सिद्धेऽस्तिब्रुवोरशिति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् ब्रूगादेशस्य फलवत्यात्मनेपदार्थं च ।।1।।

न्या०स०—अर्ह-अस्तिब्रुवो० निर्देशान्न भवतीति-अन्यथा कृग्भ्वोरेव द्वयोरुपादानं कुर्यात् ।

अघञ्क्यबलच्यजेर्वी ।। 4. 4. 2. ।।

घञ्क्यअल्अच्वर्जितेऽशिति प्रत्यये विषयभूतेऽजेर्वी इत्यादेशो भवति । अनुस्वारेदिडभावार्थः । विवाय, वीयात्, प्रवेता, प्रवेयम्, प्रवयणीयम्, प्रवायकः, प्रवीय, प्रवीतः, प्रवीतिः ।

अघञ्क्यबलचीति किम् ? समाजः, उदाजः, समज्या, समजः पशूनाम्, उदजः पशूनाम्, अजतीत्यजः अजा ।।2।।

न्या०स०—अघञ्० -विषयभूते इति-विषयविज्ञानाद्यङि वेवीयते प्रवेयमित्यत्र च प्रागेवादेश सति यङ् यप्रत्ययः ।

त्रने वा ।। 4. 4. 3. ।।

तृ अन इत्येतयोः प्रत्यययोर्विषयभूतयोरजेर्वी इत्यादेशो भवति वा । प्रवेता, प्राजिता, प्रवयणो दण्डः, प्राजनो दण्डः, अन्य त्वने प्रत्यये यकाररहिते व्यञ्जनादौ चाविशेषेण विकल्पमिच्छन्ति । प्रवेता, प्राजिता प्रवेष्यति, प्राजिष्यति, प्रविवीषति, प्राजिजिषति, प्रवेतव्यम्, प्राजितव्यम्, प्रवेतुम्, प्राजितुम् ।।3।।

चक्षो वाचि क्शांग् ख्यांग् ।। 4. 4. 4. ।।

चक्षिको वाचि वर्तमानस्याशिति प्रत्यये विषयभूते क्शांग् ख्यांग् इत्यादेशौ भवतः, अनुस्वारेदिडभावार्थः । आक्शाता आख्शाता । *''शिट्याद्यस्य द्वितीयो वा''* (2-3-59) इति ककारस्य खकारः । आख्याता, आक्शास्यति, आख्शास्यति, आख्यास्यति, आक्शास्यते, आख्शास्यते, आख्यास्यते, आक्शेयात्, आक्शायात्, आख्शेयात्, आख्शायात्, आख्येयात्, आख्यायात्, एवमाचाक्शायते, आचाख्यायत, आक्शातव्यम्, आख्यातव्यम् । विषयसप्तमीविज्ञानात् आक्शेयम्, आख्येयम् ।

वाचीति किम् ? बोधे, विचक्षणः, चक्षुः,—वर्जने, संचक्ष्यते, अवसंचक्ष्याः परिसंचक्ष्या दुर्जनाः, संचक्ष्य गतः. हिंसायाम्-नृचक्षा राक्षसः । अशितीत्येव, आचष्टे, गकारः-फलवद्विवक्षाया-मात्मनेपदार्थस्तेन स्थानिवद्भावेन नित्यमात्मनेपदं न भवति ।।4।।

नवा परोक्षायाम् ।। 4. 4. 5. ।।

चक्षिको वाचि क्शांग्ख्यांगौ परोक्षायां वा भवतः । आचक्शौ, आाचख्शौ, आचख्यौ, आचक्शे, आचख्शे, आचख्ये, पक्षे-आचचक्षे ।।5।।

भृज्जो भर्ज् ।। 4. 4. 6. ।।

भृज्जतेरशिति प्रत्यये भज् इत्ययमादेशो वा भवति । बभर्ज, बभर्जतुः, बभर्जुः, बभ्रज्ज, बभ्रज्जतुः, बभ्रज्जुः, भर्क्षीष्ट, भ्रक्षीष्ट, भ्रर्ष्टा, भ्रष्टा, अभार्क्षीत्, अभ्राक्षीत्, बिभर्क्षति बिभ्रक्षति, बिभर्जिषति, बिभ्रज्जिषति, भर्ष्टुम्, भ्रष्टुम्, भर्ग्यम्, भ्रद्ग्यम्, भर्गः, भ्रद्गः भर्जनम्, भ्रज्जनम् ।

अशितीत्येव,—भृज्जति, भूज्जते । कथं भृज्यात्, भृज्यते, भृष्टः, भृष्टवान्, बरीभृज्यते ? परत्वाद् भर्जादेशेऽपि स्थानिवद्भावेन पूर्वेण स्वरेण सह ख्वृति भविष्यति, लुप्ततिव्निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः । बर्भज्यते, अत्र द्वित्वे सपूर्वस्य माभूत् ।।6।।

न्या०स०—भृज्जो भ०-भ्रदृग्यमिति-भृज्ज्यते ``ऋवर्ण'' (5-1-17) इति दः घ्यणि ``क्तेऽनिटः'' (4-1-111) इति गे निमित्ताऽभावे इति दन्त्यः सः तस्य ``तृतीयस्तृतीय०'' (1-3-49) इति । *कथं भृज्ज्यादिति*-भर्जादेशः कथमत्र न भवतीत्याशङ्कार्थः । *सपूर्वस्य माभूदिति*-प्रकृतिग्रहणेति न्यायात्प्राप्तिः ।

प्राद्दागस्त्त आरम्भे क्ते ।। 4. 4. 7. ।।

आरम्भे आदिकर्मणि वर्तमानस्य प्रशब्दादुत्तरस्य दागः स्थाने क्ते प्रत्यये परे त्तादेशो वा भवति । प्रत्तः, प्रदत्तः, दातुं प्रारब्धवानित्यर्थः । प्रादिति किम् ? परीत्तम्, उत्तरेण नित्यं त्तादेशः ।

दाग इति किम् ? दोंच्-प्रत्तम् । आरम्भ इति किम् ? अन्यत्र नित्यमेव । प्रकर्षेण दीयते स्म प्रत्तम् । क्त इति किम् ? प्रत्तवान्, दातुं प्रवृत्त इत्यर्थः । द्विस्तकार आदेशः सर्वादेशार्थः, अकार उच्चारणार्थः ।।7।।

न्या०स०—प्राद्दा०-त्तादेशो वा भवतीति-द्वितकारग्रहणं प्रक्रियालाघवार्थमन्यथाऽन्तस्य तादेशे ``अघोषे प्रथमोऽशिटः'' (1-3-50) इति सिध्यति । प्रत्त इति दातुमारब्धवानिति वाक्यं, न तु प्रारब्धवानिति, प्रशब्दार्थस्यारम्भस्यारब्धवानित्यनेनैवोक्तत्वात् प्रशब्दप्रयोगे पौनरुक्त्यं भवति । *सर्वादेशार्थ इति*-अन्यथा षष्ठ्याऽन्त्यस्येति प्रवर्त्तते ।

निविस्वन्ववात् ।। 4. 4. 8. ।।

एभ्यः परस्य दागः क्ते परे त्तादेशो वा भवति । नित्तम्, निदत्तम्, वीत्तम्, विदत्तम्, सूत्तम्, सुदत्तम्, अनूत्तम्, अनुदत्तम्, अवत्तम्, अवदत्तम्, सुदत्तमेवेत्यन्ये, उत्तरेण नित्यं त्तादेशे प्राप्ते विभाषेयम्, केचिदत्राप्यारम्भ एव विकल्पमिच्छन्ति । यदाहुः—

'अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तं चादिकर्मणि ।'

सुदत्तमनुदत्तं च निदत्तमिति चेष्यते इति । तन्मतसंग्रहार्थमारम्भ इत्यनुवर्तनीयम् ।।8।।

स्वरादुपसर्गाद्दस्ति कित्यधः ।। 4. 4. 9. ।।

पूर्वयोगारम्भाद्वेति निवृत्तम् । स्वरान्तादुपसर्गात्परस्य धावर्जितस्य दासंज्ञकस्य तकारादौ किति प्रत्यये परे त्तादेशो भवति । प्रत्तः, प्रत्तवान्, परीत्तः, परीत्तवान्, परीत्त्रिमम्, प्रणीत्त्रिमम्, त्रिमक् । द्यतेरपीत्वं बाधित्वा विशेषविहितत्वात् त्तत्वमेव भवति, अवत्तवान् । अवत्तिः ।

उपसर्गादिति किम् ? दधि दत्तम्, लता दिता । स्वरादिति किम् ? निर्दत्तम्, दुर्दत्तम्, निर्दित्तम्, दुर्दित्तम् । द इति किम् ? प्रदाता व्रीहयः, निदातानि भाजनानि । कितीति किम् ? प्रदाता । तीति किम् ? प्रदाय । अध इति किम् ? धांग्,–निहितः, ट्धें,- निधीतः ॥9॥

न्या०स०–स्वराद्‌उ०-त्तत्वमेव भवतीति-उपसर्गात् इति विशेषविधानात्, उत्तरत्र तु सामान्यम् । *अवत्तिरिति*-अवदानम् । ``उपसर्गादातः'' (5-3-110) इति बाधकः श्र्वादिभ्यः क्तिः ।

दत् ॥ 4. 4. 10. ॥

धावर्जितस्य दासंज्ञकस्य तादौ किति परे दत इत्ययमादेशो भवति । दत्तः, दत्तवान्, दत्तिः, दत्त्वा । द्यतेः परत्वादित्वम् । दितः, दितवान् । द इत्येव ? वातं बर्हिः, अवदातम् मुखम् । अध इत्येव ? धीतः, धीतवान्, धीत्वा, धीतिः ॥10॥

दोसोमास्थ इः ॥ 4. 4. 11. ॥

एषां तादौ किति प्रत्यये इरन्तादेशो भवति । द्यतेर्दद्भावस्य शेषाणामीत्वस्यापवादः । दो–निर्दितः, निर्दितवान्, दित्वा, दितिः, सो–अवसितः, अवसितवान्, सित्वा, सितिः, मा–मितः, मितवान्, मित्वा, मितिः ।

गामादाग्रहणेष्वविशेष इति माङ्मामेङां ग्रहणम्, अन्यस्तु माङ्मेङोरेवेच्छति । मातेस्तु मातः मातवान् प्रस्थः स्थाल्याम् । स्था–स्थितः । स्थितवान् । स्थित्वा । स्थितिः । दोसो इत्योकारनिर्देशो दैवादिकयोरेव परिग्रहार्थः । तीत्येव ? यङ्लुपि इट् दादितः, दादितवान् । ``इडेत्पुसि चातो लुक्'' (4-3-94) इति आतो लुक् । कितीत्येव ? अवदाता, अवसाता ॥11॥

न्या०स०–दोसो०-गामादाग्रहणेष्विति–``ईर्व्यञ्जनेऽयपि'' (4-3-97) इति ईत्वस्यापवाद इति भणनात् ।

छाशोर्वा ॥ 4. 4. 12. ॥

छोशो इत्येतयोस्तादौ किति प्रत्यये परे इरन्तादेशो वा भवति । अवच्छितः, अवच्छितवान्, अवच्छातः, अवच्छातवान्, निशितः, निशितवान्, निशातः, निशातवान् । श्यतिशिनोत्योरपि रूपद्वयसिद्धौ श्यतेर्विकल्पवचनं ``क्तं नञादिभिन्नै'' (3-1-105) इति समासार्थम् । शाताशितम् ॥12॥

न्या०स०—छाशोर्वा-समासार्थमिति-अन्यथा धातुभेदात् प्रकृतिभेदे स न स्यात् ।

शो व्रते ।। 4. 4. 13. ।।

श्यतेः क्तप्रत्यये व्रतविषये प्रयोगे नित्यमित्वं भवति । संशितं व्रतम्, असिधारातीक्ष्णमित्यर्थः । संशितव्रतः साधुः, संशितः साधुः, व्रते यत्नवानित्यर्थः । संशितशब्दः अन्यत्राप्यस्तीति व्रतमिति विशेषणं न दुष्यति, नित्यार्थं वचनम्, तेन व्रतविषये संशात इति न भवति । व्रत इति किम् ? निशातः ।।13।।

न्या०स०—शो व्रते-विशेषणं न दुष्यतीति-ननु व्रते इत्वं प्रत्यपादि इत्युक्तार्थत्वात् व्रतस्याऽप्रयोगः प्राप्नोतीत्याह-*अन्यत्राप्यस्तीति*-अन्यस्मिन्नर्थे इत्यर्थः ।

हाको हिः क्त्वि ।। 4. 4. 14. ।।

ओहांक् इत्येतस्य तादौ किति क्त्वाप्रत्यये परे हिरादेशो भवति । हित्वा । ककारो हांङ्निवृत्त्यर्थ, हात्वा । क्त्वीति किम् ? हीनः । तीत्येव ? प्रहाय । यङ्लुपि जहित्वा, द्वित्वे पूर्वदीर्घत्वमपीच्छन्त्येके । जाहित्वा । उभयत्रेटि आतो लुक् ।।14।।

न्या०स०—हाको हिः क्त्वि-इ इत्येव सिद्धे हिकरणमुत्तरार्थं, इकरणे ह्युत्तरत्र धित इति स्यात् ।

धागः ।। 4. 4. 15. ।।

दधातेस्तादौ किति प्रत्यये हिरादेशो भवति, क्त्वीति न संबध्यते पृथग्योगात् । विहितः,—विहितवान्, हित्वा, हितिः । गकारः ट्धेंनिवृत्त्यर्थः, धीतः, धीतवान्, धीत्वा, धीतिः । तीत्येव ? प्रधाय । यङ्लुपि इट्-दाधितः दाधितवान्, दाधित्वा ।

केचित्तु दोसोहाक्धागां यङ्लुप्यागमशासनमनित्यमिति न्यायादिटं नेच्छन्ति इत्वहित्वविधिं च निषेधन्ति,—तन्मते दत्तः, दत्तवान् । परमात्रस्यैव दद्भाव इति मते निर्दादत्तः, निर्दादत्तवान्, अवसासीतः, अवसासीतवान्, जाहातः, जाहातवान्, दाधीतः, दाधीतवान्, इत्येव भवति ।।15।।

न्या०स०—धागः—जाहात इति-``हाकः'' (4-2-100) इति अनुबन्धनिर्देशादऽत्र ईत्वं न ।

यपि चादो जग्ध् ॥ 4. 4. 16. ॥

तादौ कितिप्रत्यये यपि चादेर्जग्ध् इत्ययमादेशो भवति । जग्धः, जग्धवान्, जग्ध्वा, जग्धिः, प्रजग्ध्य, विजग्ध्य । यपि चेति किम् ? अदनम् । तीत्येव ? अद्यात् । कितीत्येव ? अत्तव्यम्, कथमन्नम् ? अनितेरौणादिको नः,–``अदोऽनन्नात्'' (5-1-150) इति ज्ञापकाद्वाद्यते तदित्यन्नम्, एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वाद्यवादेशात्प्रागेव जग्धादेशे सिद्धे यप्ग्रहणमन्तरङ्गानपि विधीन् यबादेशो बाधते इति ज्ञापनार्थम्, तेन प्रशम्य, प्रपृच्छ्य प्रदीव्य, प्रखन्य, प्रस्थाय, प्रपाय, प्रदाय, प्रधाय, प्रपठ्येत्यादौ दीर्घत्वं शत्वमूत्वमात्वमित्वमीत्वं हित्वमिट्त्वं यपा बाध्यते ॥16॥

न्या०स०–यपि चा-न्यायानां क्वचिदप्रवृत्तेः प्रपद्येति दर्शितं अन्यथा आगमा यद्गुणीभूता इति न्यायादिटा सहैवादेशः स्यात् ।

घस्लृ सनद्यतनी–घञचलि ॥ 4. 4. 17. ॥

एषु प्रत्ययेष्वदेर्घस्लृ इत्ययमादेशो भवति । सन्, जिघत्सति, अद्यतनी, अघसत्, घञ्, घासः, अच्, प्रात्तीति प्रघसः, अल्, प्रादनं प्रघसः, घस्लृं अदने इत्यनेनैव सिद्धेऽदेः सन्नादिषु रूपान्तरनिवृत्त्यर्थं वचनम्, लुदङर्थः ॥17॥

न्या०स०–घस्लृ स-प्रघस इति-अजन्तस्य अदेः प्रपूर्वस्यैव घसादेशं वदन्ति वृद्धास्तेन माघमध्ये अदद इति प्रयोगः सिद्धः, अदन्तीत्यदाः, अच्, अदान् भक्षकान् द्यति ``आतो डः'' (5. 1. 76.) इति डे अददो विष्णुः ।

परोक्षायां नवा ॥ 4. 4. 18. ॥

परोक्षायां परतोऽदेर्घस्लादेशो वा भवति । जघास, जक्षतुः, जक्षुः आद, आदतुः, आदुः । घस्यदिभ्यामेव सिद्धे विकल्पवचनं घसेरसर्वविषयत्वज्ञापनार्थम्, तेन घस्ता घस्मर इत्यादावेव घसेः प्रयोगो भवति ॥18॥

वेर्वय् ॥ 4. 4. 19. ॥

वेगो धातोः परोक्षायां वयित्ययमादेशो वा भवति । उवाय, ऊयतुः, ऊयु, ववौ, ववतुः, ववुः ॥19॥

न्या०स०—वेर्वय्-ऊयुरिति—``न वयो य्'' (4-1-73) इत्यनेन यस्य न य्वृत् । *ववाविति* ``वेरयः'' (4-1-74) इति न । *ववुरिति*—``अविति वा'' (4-1-75) इति न । य्वृत्विकल्पात् ।

ॠः शॄदॄप्रः ॥ 4. 4. 20. ॥

शॄदॄप्रः इत्येतेषां धातूनां परोक्षायां परत ॠकारोऽन्तादेशो वा भवति । विशश्रार, विशश्रतुः, विदद्रतुः निपप्रतुः । क्वसौ-विशश्रृवान्, विददृवान्, निपपृवान् । पक्षे-विशशार, विशशरतुः विददरतुः, निपपरतुः, विशिशीर्वान्, विदिदीर्वान्, निपुपूर्वान् ॥20॥

न्या०स०—ॠः शॄ-विशश्रारेति—ॠकारेकृतेऽपि णवीदृशमेव रूपं भवतीति निर्णयार्थं णवि दर्शितम् ।

हनो वध आशिष्यञौ ॥ 4. 4. 21. ॥

परोक्षानिवृत्तौ वेति निवृत्तम्, आशीर्विषये हन्तेर्वध इत्यकारान्तादेशो भवति 'अञौ' ञिविषये तु न भवति ।

वध्यात्, वध्यास्ताम्, वध्यासुः, आवधिषीष्ट, आवधिषीयास्ताम्, आवधिषीरन् । स्थानिवद्भावेनानुस्वारेत्त्वेऽपि अनेकस्वरत्वादिट्प्रतिषेधो न भवति । अञाविति किम् ? घानिषीष्ट ॥21॥

न्या०स०—हनो व०-आशीर्विषये इति-अत्र विषयविज्ञानात् पूर्वमेवादेशे वध्यादित्यादौ ``अतः'' (4. 3. 82.) इत्यकारलोपः सिद्धः, अन्यथा तत्रापि विहितव्याख्यानात् स न स्यात् । आवधिषीष्टेत्यादौ चेट् सिद्धः, अन्यथा ``एकस्वरादनुस्वारेतः'' (4-4-56) इत्यत्र विहितव्याख्यानात् तेन निषेधः स्यात् ।

अद्यतन्यां वा त्वात्मने ॥ 4. 4. 22. ॥

अद्यतन्यां विषये हनो वध इत्ययमादेशो भवति आत्मनेपदे त्वस्या वा भवति । अवधीत्, अवधिष्टाम्, अवधिषुः । अलोपस्य स्थानिवद्भावेन ``व्यञ्जनादेर्वोपान्त्यस्यातः'' (4-3-47) इति वृद्धिर्न भवति । *'वा त्वात्मने'* आवधिष्ट, आवधिषाताम्, आवधिषत, अवधि, आहत, आहसाताम्, आहसत, अघानि । अद्यतन्यामिति किम् ? आजघ्ने ॥22॥

न्या०स०—अद्यतन्यां-अवधीदिति-विषयविज्ञानात् प्रत्ययव्यवधानेऽपि भवति, यथाऽडागमः ।

किंच विषयव्याख्यां विनाऽवधीदित्यत्र ``एकस्वरादनुस्वारेतः'' (4-4-56) इत्यनेन विहितव्याख्यानादिट् न स्यात् ।

इणिकोर्गाः ।। 4. 4. 23. ।।

अद्यतन्यां विषये इण इकश्च धातोर्गा इत्ययमादेशो भवति । अगात्, अगाताम्, अगुः, अगायि भवता, अध्यगात्, अध्यगाताम्, अध्यगुः, अध्यगायि भवता ।।23।।

न्या०स०—इणिको-अत्र विषयव्याख्यां विनाऽगादित्यादिषु सिचो लुपि स्यात् न त्वऽगायीत्यत्र ञिचा व्यवधानात् ।

णावज्ञाने गमुः ।। 4. 4. 24. ।।

इणिकोरज्ञाने वर्तमानयोर्णौ विषये गमु इत्ययमादेशो भवति । उकारः ``स्वरहन्गमोः सनि धुटि'' (4-1-104) इत्यत्र विशेषणार्थः । गमयति, गमयतः, गमयन्ति ग्रामम्, अधिगमयति, अधिगमयतः, अधिगमयन्ति प्रियम् ।

अज्ञान इति किम् ? अर्थान् प्रत्याययति, अज्ञान इतीणो विशेषणं नेकोऽसंभवात्, धात्वन्तरेणैव सिद्धे णाविको ज्ञानादन्यत्रेणश्च रूपान्तरनिवृत्यर्थं वचनम्, कथमर्थान् गमयन्ति शब्दाः ? गमिनैव सिद्धम् ।।24।।

न्या०स०—णावऽज्ञाने-अत्र विषयविज्ञानेऽजीगमत्सिद्धमन्यथा णौ परे गमादेशे ❊ णौ यत्कृतं कार्यम् ❊ इति न्यायाद् इ इति द्विर्वचनं स्यात् ।

सनीङश्च ।। 4. 4. 25. ।।

इङ इणिकोश्चाज्ञाने वर्तमानयोः सनि परे गमुरादेशो भवति, अज्ञान इति इण एव विशेषणम् नेकिङोरसंभवात् । इङ्, अधिजिगांसते विद्याम्, इण्-अधिजिगमिषति ग्रामम्, इक्-मातुरधिजिगमिषति । अज्ञान इत्येव ? अर्थान् प्रतीषिषति ।।25।।

गाः परोक्षायाम् ।। 4. 4. 26. ।।

इङः परोक्षायां विषये गादेशो भवति । अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे, अधिजगिषे । विषयनिर्देशः किम् ? आदेशे सति द्विर्वचनं यथा स्यात्, तेन प्राक्तु स्वरे स्वरविधेरिति नोपतिष्ठते ।।26।।

णौ सन्ङे वा ॥ 4. 4. 27. ॥

सन्परे ङपरे च णौ परत इङो गादेशो वा भवति । अधिजिगापयिषति, अध्यापिपयिषति, अध्यजीगपत्, अध्यापिपत् । णाविति किम् ? अधिजिगांसते । सन्ङ इति किम् ? अध्यापयति ॥27॥

न्या०स०—णौसन्-अधिजिगापयिषतीति-अधीयानं प्रयुङ्क्ते णिगि अन्तरङ्गयोरप्यात्वप्वागमयोरऽस्याऽपवादत्वात् अप्रवृत्तौ अध्याययितुमिच्छतीति सनि पाक्षिके गादेशे तदन्यत्रात्वे उभयत्र प्वागमे द्वित्वादौ च सिद्धं, यद्वा आप्स्थाने गादेशे यावत्संभव इति न्यायात्पुनः पोन्तः ।

वाद्यतनीक्रियातिपत्त्योर्गीङ् ॥ 4. 4. 28. ॥

अद्यतनीक्रियातिपत्त्योः परत इङो गीङादेशो वा भवति । अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत, अध्यैष्ट, अध्यषाताम्, अध्यैषत, क्रियातिपत्तिः-अध्यगीष्यत, अध्यगीष्येताम्, अध्यगीष्यन्त, अध्येष्यत, अध्यैष्येताम्, अध्येष्यन्त । ङकारो गुणनिषेधार्थः ॥28॥

न्या०स०—वाद्यतनीक्रि०-अध्यगीष्टेति-अन्तरङ्गत्वात् प्रागेव सिचो गीङ । *गुणनिषेधार्थ इति*-न वाच्यं विधानसामर्थ्यात् न भविष्यतीति, तदा ह्यऽध्यगायीत्यत्र वृद्धिरपि न स्यात् ।

अड्धातोरादिर्ह्यस्तन्यां चामाङा ॥ 4. 4. 29. ॥

ह्यस्तन्यामद्यतनीक्रियातिपत्त्योश्च विषये धातोः आदिरवयवोऽड् भवति, 'अमाङा' माङा योगे तु न भवति ।

अकरोत्, अकार्षीत्, अकरिष्यत् विषयविज्ञानात् प्रत्ययव्यवधानेऽपि भवति, परविज्ञाने हि अहन्नित्यादावेव स्यात् । अमाङेति किम् ? मा भवान् कार्षीत्, मास्म करोत् । अस्मद्विना मा भृशमुन्मनी भूः । धातोरादिरिति किम् ? प्राकरोत् ॥29॥

न्या०स०—अड् धातो० आदिरवयव इति-अटो धात्वऽवयवत्वे प्रण्यमिमीतेत्यादौ णत्वम् । अहन्नित्यादाविति-आदिशब्दादभोत्स्यत इत्यादौ ।

एत्यस्तेर्वृद्धिः ॥ 4. 4. 30. ॥

इणिकोरस्तेश्चादेः स्वरस्य ह्यस्तन्यां विषये वृद्धिर्भवति अमाङा । आदेरिति विभक्तिविपरिणामात् । आयन्, अध्यायन्, आस्ताम्, आसन् । अमाङेत्येव मा स्म भवन्तो यन्, मा स्म भवन्तः सन् ।

यत्वे लुकि च स्वरादित्वाभावादुत्तरेण वृद्धिर्न प्राप्नोतीति वचनम् । विषयत्वविज्ञानात्परत्वाद्वा प्रागेव वृद्धौ कुतो यत्वाल्लुकोः प्राप्तिरिति चेत् ? सत्यम्,–इदमेव वचनं ज्ञापकं कृतेऽन्यस्मिन् धातुप्रत्ययकार्ये पश्चाद्वृद्धिस्तद्बाध्योऽट् च भवति, तेन ऐयरुः अध्यैयतेत्यादावियादेशे सति वृद्धिः सिद्धा । अचीकरदित्यादौ च दीर्घत्वम् । पूर्वमटि तु स्वरादित्वात्तन्न स्यात्, यत्वाल्लुगपवादश्चायम् । तेनेकः पक्षे यत्वाभावेऽध्यैयन्नित्यत्रेयि सत्युत्तरेणैव वृद्धिर्भवति ।।30।।

न्या०स०–एत्यस्ते०-आदेरितीति (अथ पूर्वसूत्रे आदि शब्दः प्रथमान्तस्तत्कथमऽत्र षष्ठ्यन्त इत्याह) अर्थवशादिति शेषः । यत्वाऽल्लुगऽपवादश्चायमिति-अयमर्थः इणो ``ह्विणोरप्विति व्यौ'' (4-3-15) इति नित्यं यत्वे प्राप्ते वचनं तत्साहचर्यादिकोऽपि ``इको वा'' (4-3-16) इति वा यत्वे कर्त्तव्ये बाधकमिदं यत्वाऽभावपक्षे तु इयि सत्युत्तरेणैव वृद्धिः ।

स्वरादेस्तासु ।। 4. 4. 31. ।।

स्वरादेर्धातोरादेः स्वरस्य तास्वद्यतनीक्रियातिपत्तिह्यस्तनीषु विषये आसन्ना वृद्धिर्भवति अमाङा ।

आटीत्, आशीत्, आटिष्यत्, आशिष्यत्, आटत्, आश्नात्, आर्छीत्, आर्छिष्यत्, आर्छत्, ऐषीत्, ऐषिष्यत्, ऐच्छत्, ऐक्षिष्ट, ऐक्षिष्यत, ऐक्षत, ऐधिष्ट, ऐधिष्यत, ऐधत, औब्जीत्, औब्जिष्यत्, औब्जत, औहिष्ट, औहिष्यत, औहत, ओणॄ, औणिणत्, औणिष्यत्, औणत्, इन्द्रमैच्छत् ऐन्द्रीयत्, उस्रामैच्छत् औस्त्रीयत्, एणमैच्छत् ऐणीयत्, ऐश्वर्यमैच्छत् ऐश्वर्यीयत्, ओंकारमैच्छत् औंकारीयत्, आ ऊढा ओढा तामैच्छत् औढीयत्, औषधमैच्छत् औषधीयत्, अमाङेत्येव, मा भवानटीत्, मा स्म भवानटत् ।।31।।

न्या०स०–स्वरादे०-अत्र विषयव्याख्यानाद् व्यवधानेऽपि वृद्धिरऽन्यथा ऋणूयी इत्यस्य आर्त्तेत्यत्रैव अदेश्चाऽटि आददित्यत्रैव आदिष्यदित्यत्रैव च स्यान्नाऽन्यत्र ।

स्ताद्यशितोऽत्रोणादेरिट् ।। 4. 4. 32. ।।

धातोः परस्य सकारादेस्तकारादेश्चाशितः प्रत्ययस्यादिरिड् भवति `अत्रोणादेः' त्रस्य

उणादेश्च न भवति । अटिटिषति, अलविष्ट, लविषीष्ट, लविष्यति, अलविष्यत्, लविता, लवितव्यम्, लवितुम् ।

स्तादीति किम् ? त्रस्नुः, स्योमा, भूयात्, दीप्रः, ईश्वरः, विद्वान् । अशित इति किम् ? आस्से । आस्ते । अत्रोणादेरिति किम् ? शस्त्रम्, योत्रम्, पत्त्रम्, पोत्रम्, उणादि, वत्सः, अंसः, दन्तः, हस्तः ।।32।।

न्या०स०–स्ताद्यशितो०-स्योमेति– ❉ असिद्धं बहिरङ्गम् ❉ इति स्वरानन्तर्ये नेष्यते तेन यत्वं सिद्धम्, अन्यथा ऊटोऽसत्त्वात् गुणः स्यात् ।

तेर्ग्रहादिभ्यः ।। 4. 4. 33. ।।

ग्रहादिभ्य एव परस्य स्ताद्यशितस्तेरादिरिट् भवति, तेरिति सामान्येन क्तेस्तिको वा ग्रहणम् । निगृहीतिः, अपस्निहिति, निकुचितिः, निपठितिः, उदितिः, भणितिः । रणितिः, मथितिः, लिखितिः, कम्पितिः, अन्दोलितिः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । तेर्ग्रहादिभ्य एवेति नियमादन्यत्र न भवति । शान्तिः, वान्तिः, दीप्तिः, ज्ञप्तिः, त्रस्तिः, ध्वस्तिः । तिकः खल्वपि-तन्तिः, सन्तिः, कण्डूतिः । णौ, पाक्तिः, याष्टिः, प्रज्ञप्तिः । तेरेव ग्रहादिभ्य इति विपरीतनियमो न भवति, उत्तरत्र ग्रहेः परोक्षायामिटो दीर्घनिषेधात् ।।33।।

*न्या०स०–तेर्ग्रहा०-*तन्तिरिति–``न तिकि दीर्घश्च'' (4-2-59) इति निषेधाल्लुग्-दीर्घाऽभावः । *सन्तिरिति* षणूयी इत्यस्य रूपं ``तौ सनस्तिकि'' (4-2-64) इति लुगाकारौ वा भवतः, दीर्घस्तु ``न तिकिः'' (4-2-59) इति निषेधान्न । षन भक्तावित्यस्य तु सान्तिरिति स्यात्, न वाच्यं तस्यापि ``न तिकि'' (4-2-59) इति निषेधस्तत्र तनादेरुपादानात् ।

गृह्णोऽपरोक्षायां दीर्घः ।। 4. 4. 34. ।।

गृह्णातेर्यो विहित इट् तस्य दीर्घो भवति `अपरोक्षायाम्' न चेत् स इट् परोक्षायां भवति । ग्रहीता, ग्रहीतुम्, ग्रहीषीष्ट, ग्रहीष्यति, अग्रहीष्यत्, अग्रहीत् । दीर्घस्य स्थानिवद्भावादिट ईतीति सिचो लुग्भवति । न चायं वर्णविधिः । इट इति रूपाश्रयत्वात् । अग्रहीध्वम्, अग्रहीढ्वम् ।

विहितविशेषणं किम् ? यङन्ताद्विहितस्य माभूत् । जरीगृहिता, जरीगृहितुम्, जरीगृहितव्यम् । लुप्ततिवृनिर्देशाद्यङ्लुपि न भवति । जरीगर्हिता, जरीगर्हितुम्, जरीगर्हितव्यम् ।

अपरोक्षायामिति किम् ? जगृहिव, जगृहिम । इट इत्येव ? ग्राहिषीष्ट, अग्राहिषाताम्, ग्राहिता, ञिटो माभूत् ।।34।।

न्या०स०–गृह्णोप०-जरीगृहितेति–''योऽशिति'' (4-3-80) इति यलोपे गृह्णातेः पर इट् अस्त्येव, अतो विहितव्याख्यानम् ।

वृतो नवानाशीः सिच्परस्मै च ।। 4. 4. 35. ।।

वृग्वृङ्भ्यामृकारान्तेभ्यश्च धातुभ्यः परस्य इटो वा दीर्घो भवति परोक्षायामाशिषि परस्मैपदविषये सिचि च न भवति । वृग्–प्रावरीता, प्रावरिता, प्राविवरीषति, प्राविवरिषति । वृङ्–वरीता, वरिता, विवरीषते, विवरिषते, ऋदन्त–तरीता, तरिता, तितरीषति, तितरिषति, जरीता, जरिता, जिजरीषति, जिजरिषति, वृत इति किम् ? करिष्यति, तकारो वर्णनिर्देशार्थः । अन्यथा समरीता समरितेति ऋणातेरेव विज्ञायेत ।

परोक्षादिवर्जनं किम् ? विवरिथ, तेरिथ, प्रावरिषीष्ट, आस्तारिषीष्ट । प्रावारिष्टाम् । प्रावारिषुः । आस्तारिष्टाम् । आस्तारिषुः । सिचः परस्मैपदविशेषणादात्मनेपदे दीर्घो भवत्येव । अवरीष्ट, अवरिष्ट, प्रावरीष्ट, प्रावरिष्ट, आस्तरीष्ट, आस्तरिष्ट ।।35।।

न्या०स०–वृतो न सिच्परस्मै चेति–सिचः परस्मैपदमिति षष्ठीसमासः, यस्मिन् परस्मैपदे सिचः विधीयते तत् सिचः परस्मैपदं । विशेषणसमासो वा सिच् च तत्परस्मैपदं चेति, परस्मैपदनिर्मित्तत्वेनोपचारात् सिजपि परस्मैपदेनोच्यते । *तकारो वर्णनिर्देशार्थ इति*-तकारोऽभावे ॠ इति निर्द्दिश्यमाने वृ इत्यनेन धातुना साहचर्यात्? ॠश् गतावित्यस्यैव ग्रहणं स्यात्, न ऋकारान्तधातुमात्रपरिग्रहस्ततश्च समरीता समरितेत्यत्रैव स्यात्, तकारे तु सति ॠदित्यस्य धातोरऽभावात्तकारस्य च वर्णनिर्देशेषु प्रसिद्धत्वात् ऋकारवर्णविज्ञानात्तदन्त– धातुमात्रप्रतिपत्तिर्भवति इति तकारोपादानम् ।

इट् सिजाशिषोरात्मने ।। 4. 4. 36. ।।

वृतः परयोरात्मनेपदविषययोः सिजाशिषोरादिरिट् वा भवति ।

प्रावृत, प्रावरीष्ट, प्रावरिष्ट, अवृत, अवरीष्ट, अवरिष्ट, आस्तीर्ष्ट, आस्तरीष्ट, आास्तरिष्ट, आस्तीर्षाताम्, आस्तरिषाताम्, आस्तरीषाताम्, आस्तीर्षत, आस्तरिषत, आस्तरीषत, प्रावृषीष्ट, प्रावरिषीष्ट, वृषीष्ट, वरिषीष्ट, आस्तीर्षीष्ट, आस्तरिषीष्ट । आत्मने

इति किम् ? प्रावारीत्, अतारीत्, आस्तारीत् । एषु नित्यमेवेड् भवति । आशिषि तु परस्मैपदे यकारादित्वात् प्राप्तिरेव नास्ति, प्राप्ते विभाषा ।।36।।

संयोगादृतः ।। 4. 4. 37. ।।

धातोः संयोगात्परो य ऋकारस्तदन्ताद्धातोः परयोरात्मनेपदविषययोः सिजाशिषोरादिरिड्वा भवति । अस्मृषाताम्, अस्मरिषाताम्, अध्वृषाताम्, अध्वरिषाताम्, स्मृषीष्ट, स्मरिषीष्ट, ध्वृषीष्ट, ध्वरिषीष्ट । संयोगादिति किम् ? अकृत, कृषीष्ट । धातोरिति विशेषणादिह न भवति । मा निष्कृत, निष्कृषीष्ट । ``स्कृच्छ्तोऽकि परोक्षायाम्'' (4-3-8) इत्यत्र स्कृगो ग्रहणात्स्सट्संयोगो न गृह्यते, तेनेह न भवति-समस्कृत, संस्कृषीष्ट । आत्मन इत्येव ? अस्मार्षीत्, अध्वार्षीत् ।।37।।

धूगौदितः ।। 4. 4. 38. ।।

धूग औदिद्भ्यश्च धातुभ्यः परस्य स्ताद्यशित आदिरिड्वा भवति, पृथग्योगात् सिजाशिषोरात्मने इति निवृत्तम् ।

धूग्—धोता, धविता । औदित्—रधौच्—रद्धा, रधिता, तृपौच्-तर्प्ता, त्रप्ता, तर्पिता । दृपौच्-द्रप्ता, दर्प्ता, दर्पिता । नशौच्-नंष्टा, नशिता । मुहौच्-मोग्धा, मोढा, मोहिता । द्रुहौच्-द्रोग्धा, द्रोढा, द्रोहिता । स्नुहौच्-स्नोग्धा, स्नोढा, स्नोहिता । स्निहौच् - स्नेग्धा, स्नेढा, स्नेहिता । गुपौ-गोप्ता, गोपिता, जुगुप्सति । जुगोपिषति, गुहौ, निगोढा, निगूहिता, गाहौविगाढा, विगाहिता । औस्वृ-स्वर्ता, स्वरिता, सिस्वूर्षति, सिस्वरिषति । षूङौ अदादौ दिवादौ च । सोता, सविता । स्ताद्यशित इत्येव ? ररन्धिव, ररन्धिम किल । अन्यस्त्वत्रापि विकल्पमिच्छति । रेध्व, ररन्धिव, रेध्म, ररन्धिम । स्वरतेस्तु स्ये परत्वात् ``हनृतः स्यस्य'' (4-4-49) इति नित्यमिट्-स्वरिष्यति । धूग् औस्वृ षूङ् इति त्रयाणाम् ``ऋवर्णश्र्यूर्णुगः कितः'' (4-4-58) इति ``उवर्णात्'' (4-4-59) इति च परत्वात् किति नित्यमिट्प्रतिषेधः । धूत्वा, स्वृत्वा, सूत्वा ।

औदित इत्यनुबन्धनिर्देशात् यङ्लुपि नित्यमिट्-सरीस्वरिता, जोगूहिता । धूगिति गिन्निर्देशात्तौदादिकस्य नित्यमिट् । धुविता । अत्रोणादेरित्येव ? धूसरः, अशौ-अक्षरम् । एके तु चायिस्फायिप्यायीनामपि विकल्पमिच्छन्ति । निचाता, निचायिता, निचिचासति, निचिचायिषति, आस्फाता, आस्फायिता, आपिस्फासते, आपिस्फायिषते, आप्याता, आप्यायिता, आपिप्यासते, आपिप्यायिवते । अपरः पठति । नातिक्रंस्यति, नातिक्रमिष्यति ।

अन्यस्त्वद्यतन्यामास्कन्दिषमास्कन्त्समितीच्छति । बहुलम् एकेषां विकल्पः । पक्ता, पचिता, आस्कन्तव्यम्, आस्कन्दितव्यम्, पट्टा, पटिता । तदेवं व्यवस्थितविभाषाविज्ञानादागम-शासनमनित्यमिति न्यायाच्च विचित्रमतयो वैयाकरणाः ॥38॥

न्या०स०–धूगौदि०-जुगुप्सतीति गोपायितुमिच्छति सन्, ``उपान्त्ये'' (4-3-34) इति कित्त्वं, जुगोपिषतीत्यत्र तु ``वौ व्यञ्जनादेः'' (4-3-25) इति वा कित्त्वम् ।

नातिक्रंस्यतीति-स्वमते ``क्रमः'' (4-4-54) इति नित्यमिट् । *एकेषां विकल्प इति*–सर्व्वेषां धातूनामित्यर्थः ।

निष्कुषः ॥ 4. 4. 39. ॥

निर्निस्संबद्धात्कुषः परस्य स्ताद्यशित आदिरिड्वा भवति । निष्कोष्टा, निष्कोषिता, निष्कोष्टुम्, निष्कोषितुम्, निष्कोष्टव्यम्, निष्कोषितव्यम् निष्पूर्वनियमात्केवलादन्यपूर्वाच्च नित्य एवेट् । कोषिता, प्रकोषिता ।

निर्निस्संबद्धात्कुष इति किम् ? निर्गताः कोषितारोऽस्मान्निष्कोषितृको देश इति नित्यमिट्, योगविभाग उत्तरार्थः ॥39॥

न्या०स०–निष्कुषः–निष्पूर्वनियमादिति निष्पूर्वो यस्मात्तस्य नियमः ।

क्तयोः ॥ 4. 4. 40. ॥

निष्कुषः परयोः क्तयोरादिरिड्नित्यं भवति, पृथग्योगाद्वेति निवृत्तम् । निष्कुषितः, निष्कुषितवान् ॥40॥

जॄव्रश्चः क्त्वः ॥ 4. 4. 41. ॥

जॄव्रश्चिभ्यां परस्य क्त्वाप्रत्ययस्यादिरिड् भवति । जरित्वा, जरीत्वा, व्रश्चित्वा । ``क्त्वा'' (4-3-29) इत्यनेनाकित्त्वान्न ख्वृत्, जॄ इति क्रैयादिकस्य ग्रहणम् । दैवादिकस्य तु सानुबन्धस्य जीर्त्वा । अस्यैवेच्छन्त्यन्ये । जॄ इत्यस्य ``ॠवर्णश्र्यूर्णुः गः कितः'' (4-4-58) प्रतिषेधे व्रश्चेरौदित्त्वाद्विकल्पे प्राप्ते वचनम् ॥41॥

ऊदितो वा ॥ 4. 4. 42. ॥

ऊदितो धातोः परस्य क्त्वाप्रत्ययस्यादिरिड् वा भवति । दान्त्वा, दमित्वा, शान्त्वा, शमित्वा, तान्त्वा, तमित्वा, द्यूत्त्वा, देवित्वा, स्यूत्वा, सेवित्वा । यमूंसिध्यत्योरप्राप्तेऽन्येषां प्राप्ते विभाषा ॥42॥

क्षुधवसस्तेषाम् ॥ 4. 4. 43. ॥

क्षुधवसिभ्यां परेषां क्तक्तवतुक्त्वामादिरिट् भवति । क्षुधितः, क्षुधितवान्, क्षुधित्वा, उषितः उषितवान्, उषित्वा । यङ्लुपि वावसितः, वावसितवान्, वावसित्वा । यङ्लुपि नेच्छन्त्यन्ये-वावस्तः, वावस्तवान्, वावस्त्वा । वसिति वसतेर्ग्रहणम्, वस्तेस्त्विडस्त्येव ॥43॥

न्या०स०—क्षुधवसः - यङ्लुपीति-मतप्रदर्शनार्थमऽदर्शि । वावसित इत्यादौ-गणनिर्देशात् ``यजादिवचेः'' (4. 1. 79.) इति न य्वृत् ।

लुभ्यञ्चेर्विमोहार्चे ॥ 4. 4. 44. ॥

विमोहो विमोहनमाकुलीकरणम् अर्चा पूजा, लुभ्यञ्चिभ्यां यथासंख्यं विमोहेऽर्चायां चार्थे वर्तमानाभ्यां परेषां क्तक्तवतुक्त्वामादिरिड् भवति । विलुभितः सीमन्तः, विलुभिताः केशाः, विलुभितानि पदानि, विलुभितवान्, लुभित्वा, लोभित्वा केशान् गतः, अञ्चिता गुरवः, उच्चैरञ्चितलाङ्गुलः, अञ्चितवान् गुरून् । शिरोऽञ्चित्वेव संवहन् । विमोहार्च इति किम् ? लुब्धो जाल्मः, लुब्धवान्, लुब्ध्वा, लुभित्वा, लोभित्वा । उदक्तमुदकं कूपात् । अक्त्वा, अञ्चित्वा । लुभेः क्त्वि ``सहलुभ'' (4-4-46) इत्यादिनाञ्चेश्च ``ऊदितः'' (4-4-42) इति विकल्पे उभयोश्च ``वेटोऽपतः'' (4-4-63) इति नित्यं प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ॥44॥

न्या०स०—लुभ्यञ्चे०-विमोहनमिति णिगन्तादऽलि ।

पूङ्क्लिशिभ्यो नवा ॥ 4. 4. 45. ॥

पूङः क्लिशिभ्यां च परेषां क्तक्तवतुक्त्वामादिरिड् वा भवति । पूतः, पूतवान्, पूत्वा, पवितः, पवितवान्, पवित्वा, क्लिष्टः, क्लिष्टवान्, क्लिष्ट्वा, क्लिशितः, क्लिशितवान्, क्लिशित्वा । पूङिति ङ्कारः पूगो निवृत्त्यर्थः, तस्य हि ``न डीङ्शीङ्-'' (4-3-27) इत्यादिना क्त्वप्रतिषेधाभावात् पुवित इत्यनिष्टं रूपमासज्जेत । बहुवचनं क्लिश्यति-क्लिश्नात्योर्ग्रहणार्थम् । पूङः ``उवर्णात्'' (4-4-59) इति नित्यं निषेधे प्राप्ते क्लिश्यतेर्नित्यमिति

प्राप्ते क्लिश्नातेश्चौदित्त्वात् क्त्वायां विकल्पे सिद्धेऽपि क्तयोर्नित्यं निषेधे प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ॥45॥

न्या०स०–पूङ्-पुवित इत्यनिष्टमिति-स्थिते तु तस्य ``उवर्णात्'' (4-4-58) इतीडऽभावे पूत इत्येव ।

सहलुभेच्छरुषरिषस्तादेः ॥ 4. 4. 46. ॥

एभ्यः परस्य तकारादे स्त्याद्यशित आदिरिड्वा भवति । सह–सोढा, सोढुम्, सोढव्यम्, सहिता, सहितुम्, सहितव्यम्,–लुभ इत्यविशेषेण ग्रहणम् । लोब्धा, लोब्धुम्, लोब्धव्यम्, लोभिता, लोभितुम्, लोभितव्यम्, इच्छ,–एष्टा, एष्टुम्, एष्टव्यम्, एषिता, एषितुम्, एषितव्यम्, इच्छेति निदंशादिषत् इच्छायामित्यस्य ग्रहणम्, इषच्, गतौ, इषश्, आभीक्ष्ण्ये इत्यनयोस्तु नित्यमेवेट् । प्रेषिता, प्रेषितुम्, प्रेषितव्यम्, केचिदिषशोऽपि विकल्पमाहुः । रुष्,–रोष्टा, रोष्टुम्, रोष्टव्यम्, रोषिता, रोषितुम्, रोषितव्यम्, रेष्टा, रेष्टुम्, रेष्टव्यम्, रेषिता, रेषितुम्, रेषितव्यम् ।

तादेरिति किम् ? सहिष्यते, लोभिष्यति, एषिष्यति । कश्चित्तु पठति सूत्रम् अशिभृग्स्तुशुचिवस्तिभ्यस्तकारादौ वेट् । अष्टा, अशिता भर्ता, भरिता, स्तोता, स्तविता, शोक्ता, शोचिता, वस्ता, वसिता, तथा रुनुसुदुभ्योऽपि अपरोक्षायामेवेट् । रोता, रविता, नोता, नविता, सोता, सविता, दोता, दविता । अपरोक्षायामिति किम् ? रुरुविम, नुनुविम, सुसुविम, दुदुविम । तथा विषेर्मूलफलकर्मण्यपरोक्षायामिड्वा । वेष्टा, वेषिता मूलानि वा फलानि वा । अन्यत्र संवेष्टा । अपरोक्षायामिति किम् ? संविविषिमेति ॥46॥

न्या०स०–सहलुभे०-अपरोक्षायामेवेडिति–अयमर्थः अमीषां यस्मिन् प्रत्यये इट् विहितः स तस्मिन् वा भवति, परोक्षायां तु ``स्क्रऽसृभृवृ'' (4-4-81) इति नित्यमेव । *रवितेति*-रुक्रुङोऽविशेषेण ग्रहः । *सवितेति*-अत्र सुं प्रसवैइत्यऽषोपदेश एव गृह्यते, अन्यथा व्यावृत्तिदर्शिते सुसुविमेति प्रयोगे कृतत्वात्षत्वं स्यात् ।

इवृध–भ्रस्ज–दम्भ–श्रि–यूर्णु–भर–ज्ञपि–स-नि–तनि–पति–वृद्–दरिद्रः सनः ॥ 4. 4. 47. ॥

इवन्तेभ्य ऋधभ्रस्जदम्भश्रियु–ऊर्णु भरतिज्ञपिसनितनिपतिवृभ्य ऋकारान्तेभ्यो दरिद्रातेश्च

परस्य सन आदिरिड्वा भवति । इवन्त, दुद्यूषति, दिदेविषति, सुस्यूषति, सिसेविषति, ऋध्–ईर्त्सति, अदिधिषति, भ्रस्ज–बिभ्रक्षति, बिभर्क्षति, विभर्जिषति, बिभ्रज्जिषति, दम्भ–धिप्सति, धीप्सति, दिदम्भिषति, श्रि–शिश्रीषति, शिश्रयिषति, यु–युयूषति, यियविषति, ऊर्णु–प्रोर्णुनूषति, प्रोर्णुनुविषति, प्रोर्णुनविषति, भर–बुभूर्षति, बिभरिषति । शव्निर्देशो यङ्लुपो बिभर्तेश्च निवृत्त्यर्थः । बुभूर्षति, बिभर्तेरपीच्छन्त्येके । इडभावपक्षे गुणमपि । बिभर्षति, बिभरिषति । तन्मतसंग्रहार्थं कृतगुणस्य भृगो निर्देशः, तेन इडभावपक्षेऽपि गुणो भवति । ज्ञप्–ज्ञीप्सति, जिज्ञपयिषति, ज्ञपीति कृतह्रस्वस्योपादानात् ज्ञापेर्जिज्ञापयिषतीत्येव भवति ।

सनीति सनतेः सनोतेश्च ग्रहणम् । सिषासति, सिसनिषति, तन्–तितंसति, तितांसति, तितनिषति, पत्-पित्सति, पिपतिषति, वृ इति वृग्वृङोर्ग्रहणम् । प्रावृवूर्षति, प्राविवरिषति, प्राविवरीषति, वुवूर्षते विवरिषते, विवरीषते, ऋदन्त-तितीर्षति, तितरिषति, तितरीषति, आतिस्तीर्षति, आतिस्तरिषति, आतिस्तरीषति । चिकीर्षतीत्यत्र तु लाक्षणिकत्वान्न भवति । दरिद्रा–दिदरिद्रासति दिदरिद्रिषति । सन इति किम् ? देविता, योः ``ग्रहगुहश्च सनः'' (4-4-60) इति भ्रस्जभृगोस्तु सामान्येन प्रतिषेधेऽन्येषां च नित्यमिटि प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।।47।।

न्या०स०–इव्-इवन्तेति-उदनुबन्धाऽकरणादिवु व्याप्तौ न गृह्यते । *ईर्त्सतीति*ऋधूच ऋधूटित्यऽस्य वा अर्द्धितुमिच्छतीति वाक्यम् । *दिदम्भिषतीति*-अत्र सनि सादित्वाऽभावान्न धीपादेशः । *गुणमपीति*-स्वमते तु ``नामिनोऽनिट्'' 4-3-51 इति सनः कित्त्वम् । *कृतगुणस्येति*-प्रथमं शव्निर्द्देशो व्याख्यातः । तन्मतसंग्रहार्थं तु कृतगुणस्येत्यर्थः । *इडऽभावपक्षेऽपि गुण इति*-सूत्रे कृतगुणनिर्द्देशात् कित्त्वेऽपि गुण इत्यर्थः ।

ऋ–स्मि–पूङ्अशौ–कॄ–गॄ–दृ–धृ–प्रच्छः ।। 4. 4. 48. ।।

पृथग्योगाद्वेति निवृत्तम् । एभ्यः परस्य सन आदिरिड्भवति । ऋ – अरिरिषति, स्मि–सिस्मयिषते, पूङ् – पिपविषते अनुबन्धनिर्देशात्पूगः पुपूषति, पुपूषते, अञ्ञ-अञ्जिजिषति, अशौ–अशिशिषते । अश्नातेस्त्विडस्त्येव । कॄ चिकरिषति, चिकरीषति, गॄ – जिगरिषति, जिगरीषति । ``वृतो नवा'' (4-4-35) इत्यादिना पक्षे दीर्घत्वम् । अन्ये तु व्यवस्थितविभाषयास्येटो दीर्घत्वं नेच्छन्ति । दृङ्– आदिदरिषते, धृंङ् – आदिधरिषते, प्रच्छ–पिपृच्छिषति । प्रच्छसह–चरिताः कॄगॄधृ इत्येते तौदादिकाः, तेन कृणातेश्चिकीर्षति । चिकरिषति, चिकरीषति, गुणातेः–जिगीर्षति, जिगरिषति, जिगरीषति । धरतेर्दिधीर्षतीत्येव भवति । ऋस्मिपूङ्दृधृप्रच्छामप्राप्ते शेषाणां विकल्पे प्राप्ते वचनम् ।।48।।

हनृतः स्यस्य ।। 4. 4. 49. ।।

हन्तेर्ऋकारान्ताच्च धातोः परस्य स्यस्यादिरिड् भवति । हनिष्यति, अहनिष्यत्, हनिष्यन्, आहनिष्यते, आहनिष्यमाणः, करिष्यति, अकरिष्यत्, करिष्यन्, करिष्यमाणः स्वरिष्यति, अस्वरिष्यत्, स्वरिष्यन् स्वरतेः परत्वाद्विकल्पं बाधित्वा नित्यमिट् । तकारनिर्देशादर्तेरेव ग्रहणं न भवति ।।49।।

कृत-चृत-नृत-छृद-तृदोऽसिचः सादेर्वा ।। 4. 4. 50. ।।

एभ्यः परस्य सिज्वर्जितस्य सकारादेः स्ताद्यशितः प्रत्ययस्यादि–रिड्–वा भवति । कृतैत् छेदने,-कृतैप् वेष्टने वा, कर्स्यति, अकर्त्स्यत्, चिकृत्सति, कर्तिष्यति अकर्तिष्यत्, चिकर्तिषति, चृत्, चर्त्स्यति, अचर्त्स्यत्, चिचृत्सति, चर्तिष्यति, अचर्तिष्यत्, चिचर्तिषति, नृत्-नर्त्स्यति, अनर्त्स्यत्, निनृत्सति, नर्तिष्यति, अनर्तिष्यत्, निनर्तिषति, छृद्-छर्त्स्यति, अच्छर्त्स्यत्, चिच्छृत्सति, छर्दिष्यति अच्छर्दिष्यत्, चिच्छर्दिषति, तृद्-तर्त्स्यति, अतर्त्स्यत्, तितृत्सति, तर्दिष्यति, अतर्दिष्यत्, तितर्दिषति ।

सादेरिति किम् ? कर्तिता, चर्तिता, नर्तिता, छर्दिता, तर्दिता । असिच इति किम् ? अकर्तीत्, अचर्तीत्, अनर्तीत्, अच्छर्दीत्, अतर्दीत् । प्राप्ते विभाषा ।।50।।

गमोऽनात्मने ।। 4. 4. 51. ।।

गमः परस्य सकारादेस्ताद्यशित आदिरिड् भवति आत्मनेपदं चेन्न भवति । गम इति आदेशस्यानादेशस्य च ग्रहणमविशेषात् । गम्लृ गमिष्यति । अगमिष्यत् । जिगमिषति जिगमिषिता । जिगमिषितुम् । संजिगमिषिता । संजिगमिषितुम् । संजिगमिषितव्यम् । इण, जिगमिषति ग्रामम्, जिगमिषुः, इक्, अधिजिगमिषति मातुः अधिजिगमिषुः, इङ्-अधिजिगमिषिता शास्त्रस्य, अधिजिगमिषुः, अधिजिगमिषितव्यम्, इङो नेच्छन्त्येके । तन्मते, अधिजिगांसिता, अधिजिगांसुः, अधिजिगांसितव्यमित्येव भवति ।

अनात्मने इति किम् ? गंस्यते ग्रामः, संगंस्यते वत्सो मात्रा, गंस्यमानः, संगंस्यमानः, अगंस्यत, समगंस्यत, संगंसीष्ट, संजिगंसते, संजीगंसमानः, संजिगंसिष्यते, संजिगंसिष्यमाणः, अधिजिगांसते, अधिजिगांसमानः अधिजिगांस्यते, अधिजिगांसिष्यते, अधिजिगांसिष्यमाणः, इणिकोर्जिगांस्यते, संजिगांसते, अधिजिगांस्यते याता । कथं जिगमिषिते-वाचरति जिगमिषित्रीयते इति । आत्मनेपदस्य क्यङाश्रितत्वेन बहिरङ्गत्वात्, केचित्तु आत्मनेपद-

विषयस्य गमेरात्मनेपदाभावे सति इटो विकल्पमिच्छन्ति । गम्लृ, संजिगंसिता, संजिगमिषिता, संजिगंसितव्यम्, संजिगमिषितव्यम् । इङ्-अधिजिगांसिता, अधिजिगमिषिता, अधिजिगांसितव्यम्, अधिजिगमिषितव्यम्, अनात्मनेपदनिमित्तात्तु गमेर्नित्यमिटमिच्छन्ति । गमिष्यति, जिगमिषतीति, जिगमिषिता, जिगमिषितुम्, अधिजिगमिषितुम्, अधिजिगमिषितव्यमित्यत्रापि गमेरनात्मनेपदविषयत्वान्नित्यमिड् भवति । तन्मतसंग्रहार्थमावृत्त्या सूत्रद्वयं व्याख्येयम् । गमोऽनात्मने गमोऽनात्मन इति । तत्र पूर्वस्यायमर्थः । गमेः सकारस्यादिरिड् वा भवति आत्मनेपदं चेन्न भवति, वेत्यनुवर्तनीयम् ।

द्वितीयसूत्रे तु अनात्मने इति प्रकृतिविशेषणं व्याख्येयम्, ततश्च गमेरात्मनेपदविषयात्स कारस्यादिर्नित्यमिड् भवति । इहानात्मने इति प्रकृतिविशेषणात्पूर्वसूत्रे आत्मनेपदविषयादिति सामर्थ्याल्लभ्यते, एवं च तन्मतसंग्रहः सिद्धो भवति । एके तु परस्मैपदविषयस्यैव गमेरिटमिच्छन्ति नात्मनेपदविषयस्य, तन्मतसंग्रहार्थं तु नात्मने इत्यसमस्तं व्याख्येयम् । आत्मन इति च प्रकृतिविशेषणम् । एवं च गमेरात्मनेपदविषयात् सकारस्यादिरिड् न भवति इति अयमर्थो भवति । तेन संजिगंसिता संजिगंसितव्यम् अधिजिगांसिता व्याकरणस्य अधिजिगांसितव्यम् ।।51।।

*न्या०स०—गमोऽनात्मने-आत्मनेपदं चेन्न भवतीति-*आत्मनेपदविषयस्याविषयस्य च आत्मनेपदाभावे भवतीति । *गंस्यते ग्राम* इत्यारभ्य *संजिगंसिष्यमाण इति-*यावत् गम्लृं इत्येतस्य रूपाणि, तत्र निरुपसर्गस्य भावे कर्म्मणि च आत्मनेपदं सम्पूर्वस्य तु ``समो गमृच्छि'' (3-3-84) इत्यनेन कर्त्तरि । *कथमिति-*जिगमिषित्रीयते इत्यत्र आत्मनेपदे इडऽभावः प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह-*आत्मनेपदस्येति* केचित्तु आत्मनेपदविषयस्येति सामान्योक्तावऽपि कर्त्तर्येवात्मनेपदविषयता ज्ञेया भावकर्म्मणोस्तु सर्वेऽपि धातव आत्मनेपदविषया एव इति व्यवच्छेद्य किमपि न स्यात्, आत्मनेपदं चेन्न भवतीति द्वितीयव्याख्यानादिहात्मनेपदविषयादात्मनेपदाऽभावो लभ्यते । *प्रकृतिविशेषणं व्याख्येयमिति-*पुनर्गम्ग्रहणादऽन्यथा पूर्वसूत्राद् गम इत्यधिकारेणैव सिद्धम् । अयमर्थो भवतीति-प्रथममतविपरीतः ।

स्नो ।। 4. 4. 52. ।।

स्नोः परस्य स्ताद्यशित आदिरिड् भवति आत्मनेपदं चेन्न भवति । प्रस्नविष्यति, प्रस्नविता प्रस्नवितासि । प्रस्नवितास्मि, प्रस्नवितुम्, प्रस्नवितव्यम्, प्रसुस्नूषतीत्यत्र ``ग्रहगुहश्च सनः'' (4-4-60) इत्यनेनेट्प्रतिषेधः । अनात्मने इत्येव ? प्रस्नोष्यते, प्रस्नोष्यमाणः, प्रास्नोष्यत, प्रस्नोषीष्ट, प्रास्नोष्ट, प्रस्नोता, प्रस्नोतासे, प्रस्नोताहे । प्रस्नवितेवाचरति प्रस्नवित्रीयत

इत्यत्र त्वात्मनेपदस्य बहिरङ्गत्वात् तदाश्रयः प्रतिषेधो न भवति । स्नौतेरिट् सिद्ध एव । प्रतिषेधाभावादात्मनेपद इडनिवृत्त्यर्थं तु वचनम् । एवमुत्तरयोगोऽपीति ।।52।।

न्या०स०—स्नोः-पृथग्योगात् सादेरिति नानुवर्त्तते, अन्यथा स्नुगमोरिति कुर्यात् । प्रास्तोष्टेति-कर्मकर्त्तरि प्रयोगः ।

क्रमः ।। 4. 4. 53. ।।

क्रमः परस्य स्ताद्यशित आदिरिड् भवति आत्मनेपदं चेन्न भवति । क्रमिष्यति, निरक्रमीत्, क्रमितासि, चिक्रमिषति, चिक्रमिषिता, चिक्रमिषितुम्, प्रक्रमितुम्, प्रक्रमितव्यम् । अनात्मन इत्येव ? प्रक्रंस्यते, प्रक्रंस्यमानः, उपक्रन्स्यते, उपक्रन्स्यमानः, प्रक्रन्ता, उपक्रन्ता, प्रक्रन्तासे, उपक्रन्तासे, प्रक्रन्सीष्ट, उपक्रन्सीष्ट, प्राक्रन्स्त, उपाक्रन्स्त, प्राक्रन्स्यत, उपाक्रन्स्यत, प्रचिक्रन्सते, उपचिक्रन्सते, प्रचिक्रन्सिष्यते, उपचिक्रन्सिष्यते । क्रमितेवाचरति क्रमित्रीयते इति पूर्ववदिड् भवति । कथं चिक्रन्सया कृत्त्रिमपत्त्रिपङ्क्तेरित्य- त्रेडभावः । गतानुगतिक एष पाठः । जिघृक्षया कृत्त्रिमपत्त्रिपङ्क्तेरिति तु अविगानः पाठः ।।53।।

न्या०स०—क्रमः आत्मनेपदं चेन्न भवतीति तद्विषयादऽविषयाद् वा । निरक्रमीदिति—``व्यञ्जनादेः'' (4-3-78) इति न वृद्धिः, ``न शिवजागृ'' (4-3-49) इति निषेधात् ।

प्रक्रन्तेत्यादिषु—``प्रोपादारम्भे'' (3-3-51) इत्यात्मनेपदम् । *गतानुगतिक* इति-गतस्यानुगतं गतानुगतं तदत्रास्ति, `अतोऽनेकस्वरात' 7-2-6 इकः ।

तुः ।। 4. 4. 54. ।।

अनात्मनेपदविषयात् क्रमः परस्य तुस्तृचस्तृनश्च स्ताद्यशित आदिरिड् भवति । अनात्मन इति प्रकृतिविशेषणमत्रान्यथा व्यवच्छेद्याभावात् । क्रमिता, निष्क्रमिता । आत्मनेपदविषयश्च क्रमिः कर्मव्यतिहारवृत्त्यादिषु प्रोपव्याङ्पूर्वश्च आरम्भादिषु भवति । अनात्मन इत्येव ? व्यतिक्रन्ता, पराक्रन्ता, प्रक्रन्ता, उपक्रन्ता, विक्रन्ता, आक्रन्ता ।।54।।

न्या०स०—तुः-व्यवच्छेद्याभावादिति-प्रत्ययविशेषणे इत्यर्थः । *क्रमितेति*—``क्रमोऽनुपसर्गात्'' (3-3-47) इति विकल्पेनात्मनेपदविषयत्वात् क्रन्तेत्यपि । आरम्भादिष्वितिआदिपदाद् विपूर्वस्य स्वार्थे आङ् पूर्वस्य तु ज्योतिरुद्गमे ।

न वृद्भ्यः ।। 4. 4. 55. ।।

वृतूङ् स्यन्दौङ् वृधूङ् श्रृधूङ् कृपौङ् वृत् । एते पञ्च वृतादयः, वृत्करणं द्युतादि-वृतादिपरिसमाप्त्यर्थम्, एभ्यः परस्य स्ताद्यशित आदिरिङ् न भवति । 'अनात्मेन' अनात्मनेपदनिमित्तं चेद्वृतादयो न भवन्ति । अनात्मनेपदनिमित्तं च वृतादयः स्यसनि श्वस्तन्यां च कृपिविकल्पेन भवन्ति ।

वृत्—वर्त्स्यति, अवर्त्स्यत्, विवृत्सति, विवृत्सिता, विवृत्सितुम्, विवृत्सितव्यम्, विवृत्सा, स्यन्द—स्यन्त्स्यति, अस्यन्त्स्यत्, सिस्यन्त्सति, सिस्यन्त्सिता, सिस्यन्त्सितुम्, सिस्यन्त्सितव्यम्, वृधेर्वृतिवद्रूषाणि । श्रृध्—शर्त्स्यति, अशर्त्स्यत्, शिशृत्सति, शिशृत्सितुम्, शिशृत्सिता, शिशृत्सितव्यम् । कृप्,—कल्प्स्यति, अकल्प्स्यत्, चिक्लृप्सति, चिक्लृप्सिता, चिक्लृप्सितुम्, चिक्लृप्सितव्यम्, कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः, कल्प्तासि, कल्प्तास्थः, कल्प्तास्थ, कल्प्तास्मि, कल्प्तास्वः, कल्प्तास्मः । स्यन्दिकृपोरौदिल्लक्षणो विकल्पः परत्वा-दनेन बाध्यते ।

अनात्मने इत्येव ? वर्तिता, कल्पितव्यम् । स्यादावप्येषां पाक्षिकत्वात् अनात्मनेपदनिमित्त-त्वस्य यत्र तन्नास्ति तत्रेड् भवत्येव । वर्तिष्यते, अवर्तिष्यत, विवर्तिषते, विवर्तिषितुम्, विवर्तिषितव्यम्, वर्धिष्यते, अवर्धिष्यत, विवर्धिषते, विवर्द्धिषितुम्, विवर्धिषितव्यम्, शर्धिष्यते, अशर्धिष्यत, शिशर्धिषते, शिशर्धिषितुम्, शिशर्धिषितव्यम् ।

स्यन्दिकृपोरौदित्त्वाद्विकल्पः । स्यन्त्स्यते, स्यन्दिष्यते, अस्यन्त्स्यत, अस्यन्दिष्यत, सिस्यन्त्सते, सिस्यन्दिषते, सिस्यन्त्सितुम्, सिस्यन्दिषितुम्, कल्प्स्यते, कल्पिष्यते, अकल्प्स्यत, अकल्पिष्यत, चिक्लृप्सते, चिकल्पिषते, चिक्लृप्सितुम्, चिकल्पिषितुम्, कल्प्ता, कल्पिता, कल्प्तासे, कल्पितासे, कल्प्ताहे, कल्पिताहे । विवृत्सितेवाचरति, विवृत्सित्रीयते इत्यादौ तु पूर्ववत् प्रतिषेधः, एके तु वृद्भ्यः स्यसनोः कृपः श्वस्तन्यां चात्मनेपदाभावे इट्प्रतिषेधमिच्छन्ति । तन्मते— विवृत्सिता, विवृत्सितुम्, विवृत्सितव्यमित्यादौ अनात्मनेपद-निमित्तत्वाभावपक्षेऽपि इट् न भवति ।।55।।

न्या०स०—न वृद्भ्यः-आत्मनेपदनिमित्तं चेति—नन्वऽमीषामात्मनेपदिनामनात्मने-पदनिमित्तत्वं कथमित्याशङ्क्याह-स्यसनि श्वस्तन्यां चेति—``वृद्भ्यः स्यसनोः'' (3-3-45) ``कृपः श्वस्तन्याम्'' (3-3-46) इति सूत्राभ्यामित्यर्थः ।

स्यादावपीति — स्यसनि श्वस्तन्यां चेत्यर्थः । *अनात्मनेपदनिमित्तत्वाभावपक्षेपीति*—अत्र हि प्रकृतिरात्मनेपदविषया ।

एकस्वरा – केचिद्विषिपुषिश्लिषिमात्रादिति – विप्लृंकी विषश् पुषंच्, पुषश् श्लिषंच् श्लिषु इत्येतेभ्यः । युरुक्ष्विति-शीक्षुसाहचर्यात् यु रु इत्यतयोरादादिकयोर्ग्रहणं न रुङ् रोषणे च युंग्श् बन्धने इत्येतयोः । *स्वरान्ता धातव इति* स्वरान्ताः किंविशिष्टाः ये पाठे एकस्वरास्तेऽनुस्वारेत इत्यर्थः ।

एकस्वरादनुस्वारेतः ।। 4. 4. 56. ।।

एकस्वरादनुस्वारेतो धातोर्विहितस्य स्ताद्यशित आदिरिट् न भवति ।

पा-पाने, पाता, पातुम् । ``चक्षो वाचि क्शांग् ख्यांग्'' (4-4-4) आक्शाता, आख्याता, जिं–जेता, जेतुम्, णींग्–नेता, नेतुम्, अजेवीं, प्रवेता, प्रवेतुम्, इंङ्को गी–अध्यगीष्ट, श्रुं श्रोता, श्रोतुम्, स्मृं–स्मर्ता, स्मर्तुम्, शक्लृंट् शकींच् वा, शक्ता, शक्तुम् । शक्यतेरिटमिच्छन्त्येके । शकिता, वचंक् ब्रूगादेशो वा, वक्ता, वक्तुम् । विचृंपी–विवेक्ता, विवेक्तुम्, रिचृंपी,–रेक्ता, रेक्तुम्, डुपचींष्,–पक्ता, पक्तुम्, षिचींत्, सेक्ता, सेक्तुम्, मुच्लृन्ती–मोक्ता, मोक्तुम्, प्रच्छंत्–प्रष्टा, प्रष्टुम्, भ्रस्जींत्–भ्रष्टा, भर्ष्टा, भ्रष्टुम्, भर्ष्टुम्, टु मस्जोंत्, मङ्क्ता, मङ्क्तुम्, भुजोंत् भुजंप् वा, भोक्ता, भोक्तुम्, युजिंच् युजृंपी वा, योक्ता, योक्तुम्, यजीं-यष्टा, यष्टुम्, ष्वञ्जिंत्, परिष्वङ्क्ता परिष्वङ्क्तुम् ।

रञ्जीं रञ्जींच् वा, रङ्क्ता, रङ्क्तुम्, रुजोंत्,–रोक्ता, रोक्तुम्, णिजृंकी, नेक्ता, नेक्तुम्, निर्णेक्ता, निर्णेक्तुम्, विजृन्की,–विवेक्ता, विवेक्तुम्, सञ्जं, सङ्क्ता, सङ्क्तुम्, भज्जोंप्-भङ्क्ता, भङ्क्तुम्, भजीं,–भक्ता, भक्तुम्, सृजिंच् सृजंत् वा,–स्रष्टा, स्रष्टुम्, त्यजं, त्यक्ता, त्यक्तुम्, स्कन्दृं – स्कन्ता, स्कन्तुम्, विदिंच्, विद्लृन्ती, विदिंप् वा-वेत्ता, वेत्तुम्, विन्दतेरिटमिच्छन्त्येके । वेदिता धनस्य, णुदंत्, नोत्ता, नोत्तुम्, ष्विदांच्,–स्वेत्ता, स्वेत्तुम्, शद्लृं-शत्ता, शत्तुम् षद्लृं षद्लृत् वा, सत्ता, सत्तुम् । भिदृंपी, भेत्ता, भेत्तुम्, छिदृंपी,–छेत्ता, छेत्तुम्, तुदींत्,–तोत्ता, तोत्तुम्, अदंक्, अत्ता, अत्तुम्, जिघत्सति । पदिंच्-पत्ता, पत्तुम्, हवि, हत्ता, हत्तुम्, खिदिंच्, खिदिंत् खिदिंप् वा खेत्ता, खेत्तुम् । खिन्दतेरिटमिच्छन्त्येके । खेदिता, खेदितुम्, खिदितम् । क्षुदृंपी, क्षोत्ता, क्षोत्तुम् । राधंच् राधंट् वा,–राद्धा, राद्धुम् । साधंट्-साद्धा, साद्धुम् । श्रुधंच्, शोद्धा, शोद्धुम् । युधिंच्-योद्धा, योद्धुम् । व्यधंच्-व्यद्धा, व्यद्धुम् । बन्धंश्-संबन्द्धां,–संबन्द्धुम् । बुधिंच्,–बोद्धा बोद्धुम् ।

रुधृंपी, रोद्धा, रोद्धुम्, क्रुधंच्, क्रोद्धा, क्रोद्धुम् । क्षुधंच्–क्षोद्धा,–क्षोद्धुम् । सिधून्च्, सेद्धा, सेद्धुम् । हनंक्,–हन्ता, हन्तुम् । मनिंच्-मन्ता, मन्तुम् । आपलून्ट्, आप्ता, आप्तुम् । तपं तपिंच् वा, तप्ता, तप्तुम् । शपीं शपींच वा, शप्ता, शप्तुम् । क्षिपंच, क्षिपींत्

वा क्षेप्ता, क्षेप्तुम् । छुपंत्–छोप्ता, छोप्तुम् । लुप्लुन्ती–लोप्ता, लोप्तुम् । सृप्लृं–स्रप्ता, सर्प्ता, स्रप्तुम्, सर्प्तुम्, लिपींत्,–लेप्ता, लेप्तुम् । टु वपीं–वप्ता, वप्तुम्, ञिष्वपंक्, –स्वप्ता, स्वप्तुम् । यभं–यब्धा, यब्धुम् । रभिं–आरब्धा, आरब्धुम् । डु लभिंष्–लब्धा, लब्धुम्, यमूं-यन्ता, यन्तुम् । रमिं–रन्ता, रन्तुम् । णमं–नन्ता नन्तुम् । गम्लृं–गन्ता, गन्तुम् । क्रुशं–क्रोष्टा, क्रोष्टुम् । लिशिंच् लिशिंत् वा लेष्टा, लेष्टुम् । रुशंत्–रोष्टा, रोष्टुम् । रिशंत्–रेष्टा, रेष्टुम् । दिशींत्–देष्टा, देष्टुम् । दंशं–दंष्टा, दंष्टुम् ।

स्पृशंत्–स्प्रष्टा, स्पर्ष्टा, स्प्रष्टुम्, स्प्रर्ष्टुम् । मृशंत्–म्रष्टा म्रर्ष्टा, म्रष्टुम्, मर्ष्टुम्, विशंत्, वेष्टाः–वेष्टुम्, दृशृं,–द्रष्टा, द्रष्टुम्, शिप्लृंप्–शेष्टा, शेष्टुम्, शुषंच्–शोष्टा, शोष्टुम्, त्विषीं–त्वेष्टा, त्वेष्टुम् । पिप्लृंप्–पेष्टा, पेष्टुम् । विप्लृन्की–वेष्टा, वेष्टुम् । कृषं कृषींत् वा–क्रष्टा, क्रर्ष्टा, क्रष्टुम्, कर्ष्टुम् । तुषंच्–तोष्टा, तोष्टुम् । दुषंच्–दोष्टा, दोष्टुम् । पुषंच्–पोष्टा; पोष्टुम् । श्लिषंच्–श्लेष्टा, श्लेष्टुम् । द्विषींक्–द्वेष्टा, द्वेष्टुम् । घसॣं–घस्ता, घस्तुम् । वसं–वस्ता, वस्तुम्, रुहं–रोढा, रोढुम् । लुहं रिहं इति हिंसार्थौ सौत्रौ । लोढा, लोढुम्, रेढा, रेढुम् । एतावनिटौ नेच्छन्त्येके । दिहींक्–देग्धा, देग्धुम्, दुहींक्–दोग्धा, दोग्धुम्, लिहींक्–लेढा, लेढुम् ।

मिहं–मेढा, मेढम् । वहीं–वोढा, वोढुम् । णहींच्–नद्धा, नद्धुम् । दहं–दग्धा, दग्धुम् । एकस्वरादिति किम् । अवधीत् । शाशकिता । विहितविशेषणं किम् । चिकीर्षति, पश्चादनेकस्वरत्वेऽप्यत्र प्रतिषेधो भवत्येव । अनुस्वारेत इति किम् ? विरिवाचारीत् अवायीत् । अगावीत् । अगवीत् । श्वि, श्वयिता । श्रिग्, श्रयिता । डीङ् डीङ्च् वा डयिता । शीङ् –शयिता, युक्–यविता, रुक्–रविता, क्षुक्–क्षविता, क्ष्णुक्, क्ष्णविता, णुक्–नविता; स्नुक्–प्रस्नविता । वृङ्ट्, प्रावरिता, प्रावरीता । वृग्श्–वरिता, वरीता । भू–भविता, णू–नुविता, लूग्श्–लविता, तॄ-तरिता, तरीता । स्तॄग्श्–आस्तरिता, आस्तरीता । ओ-विजैति, उद्विजितुम्, उद्विजितुम् । विदक् ज्ञाने वेदिता शास्त्रस्य । ञिष्विदाङ्, ञिक्ष्विदाङ् ञिक्ष्विदाच् वा स्वेदिता-क्ष्वेदिता । अस्मादपीटं नेच्छन्त्येके । क्ष्वेत्ता, बुधूग् बुध् वा, बोधिता । आभ्यामपीटं नेच्छन्त्येके । बोद्धा, षिधू षिधौ च वा, सेधिता, मनूयि–मनिता, कथं मतम् ? क्त्वि वेट्कत्वात् ''वेटोऽपतः'' (4-4-63) इति भविष्यति । लुपच्–लोपिता । कथं तर्प्ता, दर्प्ता । औदित्त्वाद्विकल्पेनेट् । शिष–शेषिता, विषू विषश् वा, वेषिता, पुष पुषश् वा–पोषिता, श्लिषू, श्लेषिता । केचिद्विषिपुषिश्लिषिमात्रादिडभावमिच्छन्ति । श्लिष्टमित्यत्र तु ऊदित्त्वात् क्तयोर्नित्यमिट्प्रतिषेधः।। अत्र संग्रहश्लोकाः ।।

'श्वि–श्रि–डी–शी–यु–रु–क्षु–क्ष्णु–णु–स्नुभ्यश्च वृगो वृङः ।
ऊदॄदन्त युजादिभ्यः स्वरान्ता धातवोऽपरे ॥1॥
पाठे एकस्वराः स्यु–र्येऽनुस्वारेत इमे मताः ।
द्वि–विधोऽपि शकिश्चैव वचि–र्विचि–रिची पचिः ॥2॥
सिञ्चति–र्मु–चिरितोऽपि पृच्छति भ्रस्जि–मस्जि–भुजयो–र्युजि–र्यजि ।
ष्वञ्जि–रञ्जि–रुजयो णिजिर्विजॄ:षसञ्जि–भञ्जि–भजयः सृजित्यजी ॥3॥
स्कन्दि–विद्य–विद्लृ–विन्तयो नुदिः स्विद्यतिः शदि–सदी भिदिच्छिदी ।
तुद्यदी पदि–हदी खिदि–क्षुदी राधि–साधि–शुधयो युधि–व्यधी ॥4॥
बन्ध–बुध्य–रुधयः क्रुधि–क्षुधी सिध्यतिस्तदनु हन्ति–मन्यती ।
आपिना तपि–शपि–क्षिपि–छुपो लुम्पतिः सुपि–लिपी–वपि–स्वपी ॥5॥
यभि–रभि–लभि–यमि–रमि–नमि–गमयः क्रुशि–लिशि–रुशि–रिशि–दिशति–दशतयः।
स्पृशि–मृशति–विशति–दृशि–शिष्लृ–शुषयस्–त्विषि–पिषि–विष्लृ–कृषि–तुषि–पुषयः ॥6॥
श्लिष्यतिर्द्विषिरतो घसि–वसती रोहति–र्लुहि–रिही अनिड्गदितौ ।
देग्धि–दोग्धिलिहयो मिहिवहती नह्यति–र्दहिरिति स्फुटमनिटः ॥56॥

ऋवर्णश्र्यूर्णुगः कितः ॥ 4. 4. 57. ॥

ऋवर्णान्ताद्धातोः श्रयतेरूर्णुगश्चैकस्वराद्विहितस्य कितः प्रत्ययस्यादिरिट् न भवति । वृतः, वृतवान्, वृत्वा, स्वृतः,–स्वृतवान्, स्वृत्वा । तॄ–तीर्णः, तीर्णवान्, तीर्त्वा, पॄ–पूर्तः, पूर्तवान्, पूर्त्वा, श्रि–श्रितः, श्रितवान्, श्रित्वा, उत्तरेणैव सिद्धे ऊर्णु ग्रहणमनेकस्वरार्थम् । ऊर्णुतः, ऊर्णुतवान्, ऊर्णुत्वा । गित्त्वाद्यङ्लुपि न भवति । ऊर्णोनवित्वा । एकस्वरादित्येव ? जागरितः, जागरितवान्, जागरित्वा । कित इति किम् ? वरिता, तरिता, श्रयिता ऊर्णुविता, ऊर्णविता । विहितविशेषणात्तीर्णः पूर्त इत्यत्र कृतेऽपोरुरादेशे निषेधो भवति ॥57॥

उवर्णात् ॥ 4. 4. 58. ॥

उवर्णान्तादेकस्वराद्धातोर्विहितस्य कित आदिरिट् न भवति । युतः, युतवान्, युत्वा, लूनः, लूनवान्, लूत्वा । कित इत्येव ? यविता, लविता ॥58॥

ग्रहगुहश्च सनः ॥ 4. 4. 59. ॥

ग्रहिगुहिभ्यामुवर्णान्ताच्च धातोर्विहितस्य सन आदिरिट् न भवति । ग्रह, जिघृक्षति । गुहौ,

जुघुक्षति, रुरूषति, तुतूषति, बुभूषति, लुलूषति, पुपूषति । यौतेस्तु ''इवृध'' (4-4-47) इत्यादिना विकल्पः । यियविषति, युयूषति । गुहेरिटमपीच्छत्यन्यः । जुगूहिषन् मत्तगजोऽभ्यधावत् ॥59॥

स्वार्थे ॥ 4. 4. 60. ॥

स्वार्थे विहितस्य सन आदिरिट् न भवति । जुगुप्सते, तितिक्षते, चिकित्सति, शीशांसते, दीदांसते, मीमांसते, बीभत्सते, स्वार्थे इति किम् ? पिपठिषति ॥60॥

डीयश्व्यैदितः क्तयोः ॥ 4. 4. 61. ॥

डीयतेः श्वयतेरैदिद्भ्यश्च धातुभ्यः परयोः क्तयोरादिरिट् न भवति । डीनः, डीनवान्, उड्डीनः, उड्डीनवान्, शूनः, शूनवान्, ऐदितः, ओ लस्जै, लग्नः, लग्नवान्, विजे,– उद्विग्न, उद्विग्नवान्, यतै–यत्तः, यत्तवान्, त्रसै–त्रस्तः, त्रस्तवान्, दीपै–दीप्तः, दीप्तवान् ।

डीयेति श्यनिर्देशात् डयतेरिडेव । डयितः, डयितवान् । क्तयोरिति किम् ? डयिता, श्वयिता, लज्जिता, उद्विजिता । कृतेनृतैचृतै इत्येतेषां वेट्त्वेन क्तयोरिट्प्रतिषेधे सिद्धे ऐदित्त्वं यङ्लुबर्थम् । तेन चरीकृत्तः । चरीकृत्तवान्, नरीनृत्तः, नरीनृत्तवान्, चरीचृत्तः । चरीचृत्तवान् इत्यत्रानेकस्वरत्वेऽपीट्प्रतिषेधः ॥61॥

वेटोऽपतः ॥ 4. 4. 62. ॥

पतिवर्जिताद्यत्रक्वचिद्विकल्पितेटो धातोरेकस्वरात्परयोः क्तयोरादिरिट् न भवति । रधौ–रद्धः, रद्धवान्, अञ्जौ–अक्तः, अक्तवान्, गुहौ–गूढः, गूढवान्, शमू–शान्तः, शान्तवान्, असू-अस्तः, अस्तवान् । केचिदस्यतेर्भावे क्ते नित्यमिटमिच्छन्ति । असितमनेन सह, सोढः, सोढवान् । अपत इति किम् ? पतितः, पतितवान् । सनि वेट्त्वात्प्राप्ते प्रतिषेधः । एकस्वरादित्येव ? दरिद्रितः, दरिद्रितवान् । कथं प्रोर्णुतः, प्रोर्णुतवान् ? ''ऋवर्णश्र्यूर्णगः कितः'' (4-4-57) इत्यनेन भविष्यति ॥63॥

न्या०स०–वेटोऽपतः–कथं वञ्चितः वंचिण् प्रलम्भने इत्यस्य भविष्यति ।

संनिवेरर्दः ॥ 4. 4. 63. ॥

संनिविपूर्वादर्दतेः परयोः क्तयोरादिरिट् न भवति । समर्ण्णः; समर्ण्णवान्, न्यर्ण्णः, न्यर्ण्णवान्, व्यर्ण्णः, व्यर्ण्णवान् । संनिवेरिति किम् ? अर्दितः, प्रार्दितः । कश्चित्केवलाद-

पीच्छति । अर्ण्णः, अर्ण्णवान् ॥63॥

न्या०स०—संनिवेर०-समर्ण इति—``रदादमूर्छ'' (4-2-69) इति नः ``रषृवर्ण'' (2-3-63) इतिणः 'तवर्गस्य' क्तनस्य णत्वम् ।

अविदूरेऽभेः ॥ 4. 4. 64. ॥

विदूरमतिविप्रकृष्टम् । ततोऽन्यदविदूरम् । अभिपूर्वादर्देः परयोः क्तयोरविदूरेऽर्थे आदिरिट् न भवति । अभ्यर्णम्, अविदूरमित्यर्थः, अभ्यर्ण्णा सरित् । अभ्यर्ण्णे शेते, अविदूर इति किम् ? अभ्यर्दितो वृषलः शीतेन । बाधित इत्यर्थः ॥64॥

न्या०स०—अविदूरेऽभेः—क्तवताऽर्थप्रतीतेरभावान्न दर्शितम् ।

वर्त्तेर्वृत्तं ग्रन्थे ॥ 4. 4. 65. ॥

वृतेर्ण्यन्तात्क्ते वृत्तमिति ग्रन्थविषये निपात्यते, गुणाभावेट्प्रतिषेधौ णिलुक् च निपातनात् । वृत्तो गुणश्छात्त्रेण । वृत्तं पारायणं चैत्रेण । वृतेरन्तर्भू तण्यर्थस्यैतत् सिध्यति । वर्त्तेस्तु ग्रन्थविषये वर्तितमिति प्रयोगनिवृत्त्यर्थं वचनम् । ग्रन्थ इति किम् ? वर्तितं कुङ्कुमम् । अन्ये तु ग्रन्थेऽपि वर्तितमिति प्रयोगमाद्रियन्त ॥65॥

न्या०स०—वर्त्तेर्वृत्तम्-णिलुक्चेति—``सेट्क्तयोः'' (4-3-84) इति नियमात् ``णेरनिटि'' (4-3-83) इति न प्राप्नोतीत्याह *वृत्तो गुण इति*-उपचाराद् गुणप्रकरणं गुणः ।

धृषशसः प्रगल्भे ॥ 4. 4. 66. ॥

प्रगल्भो जितसभः । अविनीत इत्यन्ये । धृषिशसिभ्यां परयोः क्तयोरादिः प्रगल्भ एवार्थे इट् न भवति । धृष्टः, विशस्तः, प्रगल्भ इत्यर्थः । प्रगल्भ इति किम् ? धर्षितः, विशसितः, धृषेः ``आदितः'' (4-4-72) इति शसेरप्यूदित्त्वात् ``वेटोऽपतः'' (4-4-63) इति प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थं वचनम् । अथ भावारम्भयोर्नित्यार्थं धृषेरुपादानं कस्मान्न भवति ? नैवम्, धृषेभावारम्भे स्वभावात् प्रगल्भार्थानभिधानात् ॥66॥

न्या०स०—*धृषशसः—धृषेरुपादानमिति* नन्वादितां धातूनां ``नवा भावारम्भे'' (4-4-72)

इत्यनेन वा इट्निषेधेऽत्र । धृषेरुपादानं नित्यमिडभावार्थमिति विधिपरतया किमिति न व्याख्यातमित्याशङ्का ।

कष: कृच्छ्रगहने ।। 4. 4. 67. ।।

कृच्छ्रं दु:खम् तत्कारणं च, गहनं दुरवगाहम् । तयोरर्थयो: कषे: परयो: क्तयोरादिरिड्न भवति । कष्टं वर्तते, कष्टोऽग्नि:, कष्टानि वनानि । कृच्छ्रगहन इति किम् ? कषितं स्वर्णम् ।।67।।

घुषेरविशब्दे ।। 4. 4. 68. ।।

विशब्दनं विशब्द: नाना शब्दनं प्रतिज्ञानं च ततोऽन्यत्रार्थे वर्तमानात् घुषे: परयो: क्तयोरादिरिट् न भवति । घुष्टा रज्जु: संबद्धावयवेत्यर्थ:, घुष्टवान् अविशब्दन इति किम् ? अवघुषितं वाक्यमाह । नानाशब्दितं प्रतिज्ञातं वा वाक्यं ब्रूत इत्यर्थ: । अत एव विशब्दन प्रतिषेधात् ज्ञाप्यते घुषेर्विशब्दनार्थस्य अनित्यश्चुरादेर्णिजिति, तेनायमपि प्रयोग उपपन्नो भवति ।

`महीपालवच: श्रुत्वा जुघुषु: पुष्यमाणवा:' स्वाभिप्रायं नाना शब्दैराविष्कृतवन्त इत्यर्थ: ।।68।।

*न्या०स०–घुषेरवि-*अत एव विशब्देनेति-ननु घुषृ शब्दे इत्यस्यैव विशब्दने चुरादित्वाण्णिचि सत्यऽनेकस्वरत्वात्प्रतिषेधो न स्यात् किं वर्जनेन ? इत्याह–अनित्येति ।

बलिस्थूले दृढ: ।। 4. 4. 69. ।।

बलिनि स्थूले चार्थे दृहेर्दृंहेर्वा क्तान्तस्य दृढ इति निपात्यते । इडभाव: क्ततस्य ढत्वं धातुहनयोर्लोपश्च निपातनात् । दृढो बली स्थूलो वा, परिदृढय्य गत:, पारिदृढी कन्या, बलिस्थूल इति किम् ? दृहितम्, दृंहितम् ।।69।।

न्या०स०–बलिस्थूले०–परिद्रढय्य गत इति परिदृढमाचष्टे णिज् पृथुमृदु 7-4-39 इति ऋतो र:, परिद्रढनं पूर्वं क्त्वा ``लघोर्यपि'' (4-3-86) इत्यऽय् । नन्वत्र हलोपनिपातनं किमर्थं यावता ``भ्वादेर्दादेर्घ:'' (2-1-83) इति घस्य बाधके ``हो धुट्'' (2-1-82) इति ढत्वे निपात्यमाने सर्वं सिध्यति ? न ढस्य परेऽसत्त्वाद्वर्णद्वयेन व्यवधाने ``लघोर्यपि'' (4-3-86) इति न स्यात्,

वचनाद्धि एकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयते, किञ्च ढस्याऽसत्त्वे संयोगे पूर्वो गुरुरिति न्यायात् गुरूपान्त्यत्वे पारिदृढीत्यत्र परिदृढस्यापत्यं ``अत इञ्'' (6-1-31) ``अनार्षे'' (2-4-78) इति ष्यादेश स्यात्, न तु ``नुर्जातेः'' (2-4-72) इति ङीः ।

क्षुब्ध-विरिब्ध-स्वान्त-ध्वान्त-लग्न-म्लिष्ट-फाण्ट-बाढ-परिवृढं-मन्थ-स्वर-मनस्-तमस्-सक्ता-ऽस्पष्टा-ऽनायास-भृश-प्रभौ ॥ 4. 4. 70. ॥

क्षुब्धादयः क्तान्ता मन्थादिष्वर्थेषु यथासंख्यमनिटो निपात्यन्ते । क्षुभेर्मन्थेऽर्थे क्तान्तस्येडभावो निपात्यते । मथ्यत इति मन्थः, कर्मणि घञ् । क्तोऽपि क्षुभेः कर्मण्येव, तत्सामानाधिकरण्यात् । क्षुब्धः समुद्रः मथित इति मथ्यमानः संक्षोभं गत इति वार्थः । क्षुब्धा गिरिनदी । मन्थनं वा मन्थः । तस्मिन्नभिधेये क्षुब्धं वल्लवेन । विलोडनं कृतमित्यर्थः । अथवा द्रवद्रव्यसंपृक्ताः सक्तवो रूढ्या मन्थशब्देनोच्यन्ते । तद्द्रव्याभिधाने क्षुब्धशब्दो मन्थपर्यायो भवति । यदा तु क्षोभं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य मन्थे वर्तते तदा क्षुब्धो मन्थ इति सामानाधिकरण्यम् । संचलितो मन्थ इत्यर्थः ।

मन्थेऽभिधेय इति किम् ? क्षुभितं समुद्रेण । क्षुभितं मन्थेन, क्षुभितः समुद्रो मन्थेन, अन्यस्तु दध्यादिकं येन मथ्यते स मन्थो मन्थानक इत्याह ।

अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति ।

शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णने । इति विपूर्वात्सौत्राद्रिर्विरिब्ध इति भवति स्वरो ध्वनिश्चेत् । रेभेर्वा इत्वस्यापि निपातनात्, विरिभितं, विरेभितमन्यत्, स्वनेः स्वान्तमिति मनश्चेत्, मनःपर्याय, स्वान्तमिति मनश्चेत्, मनःपर्याय, स्वान्तशब्दः । विषयेष्वनाकुलं मनः स्वान्तमित्यन्ये, अन्यत्र स्वनितो मृदङ्गः, स्वनितं मनसा घट्टितं स्पृष्टमिति यावत्, ध्वनेः ध्वान्तमिति तमश्चेत्, तमःपर्यायो ध्वान्तशब्दः, अनालोकं गम्भीर तमो ध्वान्तमित्यन्ये । अन्यत्र ध्वनितं तमसा । ध्वनितो मृदङ्गः । लगेर्लग्नमिति सक्तं चेत् । लगितमन्यत्, म्लेच्छेर्म्लिष्टमिति अस्पष्टं चेत्, इत्वमपि निपातनात्, म्लेच्छितमन्यत् फणेः फाण्टमिति अनायाससाध्यं चेत्, यदश्रापतमपिष्टमुदकसंपर्कमात्राद्विभक्तरसमौषधं कषायादि तदेवमुच्यते । अग्निना तप्तं यदीषदुष्णं तत्फाण्टमित्यन्ये ।

अन्ये त्वविद्यमानायासः पुरुषोऽन्यो वा सामान्येन फाण्टशब्देनाभिधीयते । फाण्ट, श्चित्रास्त्रपाणय इत्याहुः,—वाहेर्वाढमिति भृशं चेत्, क्रियाविशेषणमेवैतत् स्वभावात्, बाढ-विक्रमा इति तु विस्पष्टपटुवत्समासः, वाहितमन्यत्, परिपूर्वस्य वृहेर्वृंहेर्वा परिवृढ इति प्रभुश्चेत्,

हकारनलोपे ढत्वे च निपातनात् । परिवृढः प्रभुः, परिव्रढय्य गतः, पारिवृढी कन्या, अन्यत्र परिवृहितं परिवृंहितम् । केचित्तु लग्नविरिब्धग्लिष्टफाण्टवाढानि धात्वर्थस्य सक्ताद्यर्थविषयभावमात्रे भवन्तीत्याहुः । तेषां लग्नं सक्तेनेत्याद्यपि भवति । यथा लोम्नि हृष्टमिति ॥27॥

न्या०स०—क्षुब्धविरिब्ध०-गत इति वाऽर्थ इति-अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् गमित इत्यर्थः । *क्षुब्धा गिरिनदीति*-मथिता मथ्यमाना सती क्षोभं गमिता वेत्यर्थः । *मन्थपर्यायो भवतीति*-तृतीयव्याख्याने मन्थस्य कोऽर्थः ? सक्तोः क्षुब्ध इति पर्यायः, तुरीये तु मन्थस्य सक्तोर्विशेषणं क्षुब्ध इति ।

क्षुभितं समुद्रेणेति-अत्र मन्थनं वा मन्थ इति द्वितीयमपि व्याख्यानं न घटते, यतस्तत्र मन्थनं विलोडनं, प्रस्तुते तु संचलनमात्रम् । *क्षुभितं मन्थेनेति*-अत्र मन्थशब्देन मन्थानक उच्यते । *ध्वान्तमिति*-ध्वनन्त्यत्राऽपश्यन्तः प्राहरिका इति ``अद्यर्थाच्चाधारे'' (5-1-12) इति क्तः, ध्वन्यते स्म हेयतयेति कर्मणि वा क्तः । *म्लेच्छितमिति*-म्लेच्छत्यव्यक्तं भवति स्म व्याप्ये वा क्तः, कूटोच्चारितमित्यर्थः । *चित्रास्त्रपाणय इति*-चित्रास्त्राणि पाणिषु येषां ``न सप्तमीन्द्वादिभ्यश्च'' (3-1-165) इति पाणिशब्दस्य न प्राग् निपातः ।

बाढविक्रमा इति-यद्यऽयं क्रियाविशेषणं तत्कथमऽत्र विक्रमाभिधायी बाढशब्दः ? इत्याशङ्कायामाह-*विस्पष्टपटुवदिति*-यथा तत्र क्रियाविशेषणेन समास्तथाऽत्रापि बाढशब्देन क्रियाविशेषणेन सः ।

हकार न लोपेति-अत्रापि हलोपनिपाताऽभावे पारिवृढीत्यर्थः । *लोम्नि हृष्टमिति*-यथा लोमविषये हृष्टं निपात्यते प्रयोगश्च लोमभिः हृष्टमिति तथाऽत्रापीत्यर्थः ।

आदितः ॥ 4. 4. 71. ॥

आकारानुबन्धाद्धातोः परयोः क्तयोरादिरिट् न भवति ।

ञिमिदा-मिन्नः, मिन्नवान्, ञिक्ष्विदा-क्ष्विण्णः, क्ष्विण्णवान्, ञिष्विदा-स्विन्नः स्विन्नवान्, श्विता-श्वित्तः, श्वित्तवान्, आदितां धातूनां भावारम्भे वेट्त्वादन्यत्र ``वेटोऽपतः'' (4-4-63) इति अनेनैव नित्यमिट्प्रतिषेधे सिद्धे योगविभागो यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेः प्रतिषेध इति न्यायज्ञापनार्थम्, तेन विदक् ज्ञाने विदितः, । विदितवान्, हृषितः, हृषितवान्, तुष्ट इत्यर्थः, इत्यादि सिद्धम् ॥71॥

न्या०स०—आदितः- योगविभाग इति-आदितो नवा भावारम्भे इत्येक एव क्रियतां किं

योगविभागेनेति ? *तदुपाधेरिति*-अयमर्थः ``नवा भावारम्भे'' (4-4-72) इत्यनेन भावारम्भविवक्षायां विभाषा इति यदा कर्म्मणि कर्त्तरि वा विवक्ष्यते क्तस्तदा ``वेटोऽपतः'' (4-4-62) इत्यनेनापि निषेधो न स्यात् इत्यस्य पृथगारम्भः । *विदित इति*-``गमहनविद्लृ'' (4-4-83) इत्यनेन विद्लृंती इत्यस्यैव वेट्त्वं न विदक् इत्यस्येत्यतो नित्यमिट्, न वाच्यं ``गमहन'' (4-4-83) इत्यत्र विद्लृ इति सानुबन्धोपादानादेव विदकित्यस्य न भविष्यतीति, यतो नाऽनुबन्धकृतानीति न्यायादनु-बन्धवशाद् वैरूप्यं नानास्वरत्वं भिन्नवर्णत्वं च न भवतीति ।

नवा भावारम्भे ॥ 4. 4. 72. ॥

आरम्भ आदिक्रिया, आदितो धातोर्भावे आरम्भे च विहितयोः क्तयोरादिरिड् वा न भवति । मिन्नमनेन, मेदितमनेन, प्रमिन्नः, प्रमेदितः, प्रमिन्नवान्, प्रमेदितवान् । आदित इत्येव ? विदितमनेन, प्रविदितः, प्रविदितवान् ।

भावारम्भ इति किम् ? मिन्नः, मिन्नवान् । पूर्वेण नित्यं निषेधे प्राप्ते विकल्पः ।72।

शकः कर्मणि ॥ 4. 4. 73. ॥

शकेर्धातोः कर्मणि विहितयोः क्तयोरादिरिड् वा न भवति । शक्तः शकितो वा घटः कर्तुम् चैत्रेण, कर्मणि क्तवतुर्नास्तीति नोदाह्रियते । कर्मणीति किम् ? शक्तः कटं कर्तुम् चैत्रः ।।73।।

णौ दान्त-शान्त-पूर्ण-दस्त-स्पष्ट छन्न-ज्ञप्तम् ॥ 4. 4. 74. ॥

णौ सति दमादीनां क्तान्तानां दान्तादयो वा निपात्यन्ते । दम्–दान्तः, दमितः, शम् - शान्तः, शमितः, पूरै - पूर्णः, पूरितः, एषु णिलुग् निपात्यते । दासृ–दस्तः, दासितः, स्पश् - स्पष्टः, स्पाशितः, छद्–छन्नः, छादितः, एषु ह्रस्वश्च । ज्ञा,–ज्ञप्तः, ज्ञापितः, संज्ञपितः, संज्ञप्तः, अत्र क्वचिद्भस्वश्च इडभावः सर्वत्र ।।74।।

न्या०स०–णौ दान्तशान्त०-स्पष्ट इति-पषी बाधने इत्यऽस्य स्थाने स्पशीति केचित् पठन्ति । स्पशिः सौत्रो वा स्पशन्तं प्रयुङ्क्ते णिग् स्पशिण् ग्रहणे इति चुरादिर्वा । *अत्र क्वचिदिति*-क्वचिदिति कोऽर्थः ? ज्ञप्त इत्यत्र मारणाद्यर्थानामऽभावेऽपि ह्रस्व इत्यर्थः, अभावश्च तेषां पाक्षिके ज्ञापित इत्यत्र ह्रस्वाऽभावदर्शनान्निश्चीयते ।

श्वस-जप-वम-रुष-त्वर-संघुषा-ऽऽस्वना-ऽमः ॥ 4. 4. 75. ॥

एभ्यः परयोः क्तयोरादिरिड् वा भवति । श्वस्तः, श्वसितः, प्रस्वस्तः, प्रश्वसितः आश्वस्तः, आश्वसितः, आश्वस्तवान्, आश्वसितवान्, विश्वस्तः, विश्वसितः, विश्वस्तवान्, विश्वसितवान् । व्याङ्भ्यामेव केचिद्विकल्पमिच्छन्ति । तन्मते,–श्वसितः, श्वसितवान्, विश्वसितः, विश्वसितवान्, उच्छ्वसितः, उच्छ्वसितवान् ।

प्राङ्विभ्यो नित्यमिड्निषेध इत्यन्ये । प्रश्वस्तः, आश्वस्तः, विश्वस्तः । श्वसेः कर्तर्ययं निषेधो भावेऽधिकरणे च नित्यमेवेट्,–श्वसितं, निश्वसितमिति केचित् । जप्,– जप्तः, जप्तवान्, जपितः, जपितवान्, वम्, वान्तः, वान्तवान्, वमितः, वमितवान् । जपिवम्योर्नित्यमिट्निषेधः जप्तः, जप्तवान्, वान्तः, वान्तवान् इत्यन्ये । रुष्, रुष्टः, रुष्टवान्, रुषितः, रुषितवान्, वेट्त्वाद्रुषेर्नित्यं प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् । त्वर्,–तूर्णः, तूर्णवान्, त्वरितः, त्वरितवान्, संघुष्-संघुष्टं, संघुषितं वाक्यम् । संघुष्टौ, संघुषितौ दम्यौ, संघुष्टवान् संघुषितवान् वाक्यम्, आस्वन्-आस्वान्तः, आस्वनितश्चैत्रः । संघुषास्वनिभ्यां परत्वात् अयमेव विकल्पः । तेनाविशब्दनेऽपि संघुष्टा रज्जुः । संघुषिता रज्जुः मनस्यपि, आस्वान्तं मनः, आस्वनितं मन इति भवति । अम्, अभ्यान्तः, अभ्यान्तवान्, अभ्यमितः, अभ्यमितवान् ॥75॥

न्या०स०–श्वसजप०–अयमेव विकल्प इति– न तु ``घुषेरविशब्दे'' (4. 4. 68.) ``क्षुब्ध-विरब्ध'' (4. 4. 70.) इत्याभ्यां नित्यं प्रतिषेधः ।

हृषेः केश–लोम–विस्मय–प्रतिघाते ॥ 4. 4. 76. ॥

केशलोमकर्तृका क्रिया केशलोमशब्देनोच्यते । हृषेः केशादिष्वर्थेषु वर्तमानात्परयोः क्तयोरादिरिड्वा न भवति । हृष्टाः केशाः, हृषिताः केशाः, हृष्टं हृषितं केशैः, हृष्टानि हृषितानि लोमानि, हृष्टं हृषितं लोमभिः, हृष्टः हृषितश्चैत्रः । विस्मत इत्यर्थः । हृष्टा हृषिता दन्ताः प्रतिहता इत्यर्थः । केशादिष्विति किम् ? हृष्टो मैत्र इत्यलीकार्थस्य हृषितश्चैत्रस्तुष्ट्यर्थस्य ॥76॥

*न्या०स०–*हृषेः–केशलोमविषया उद्धुषणादिका क्रिया केशलोमशब्देनोच्यत इत्याह-*केशलोमेति* ।

अपचितः ॥ 4. 4. 77. ॥

अपपूर्वस्य चायतेः क्तान्तस्येडभावश्चिरादेशश्च वा निपात्यते । अपचितः, अपचायितः, चिनोतिः पूजार्थो नास्तीति इदं निपातनम् ।।77।।

सृजि–दृशि–स्कृ–स्वरात्त्वतस्तृज्नित्यानिटस्थवः ।।4. 4. 78. ।।

सृजिदृशिभ्यां सस्सटः कृगः स्वरान्तादकारवतश्च तृचि नित्यानिटो धातोर्विहितस्य थव आदिरिड् वा न भवति ।

सृज्,–सस्रष्ठ, ससर्जिथ, दृश्,- दद्रष्ठ, ददर्शिथ, स्कृ,–संचस्कर्थ, संचस्करिथ, स्वरययाथ, ययिथ, विवेथ, विवयिथ, निनेथ, निनयिथ, जुहोथ, जुहविथ, अत्वत्, शशक्थ, शेकिथ, पपक्थ, पेचिथ,–इयष्ठ, इयजिथ, जगन्थ, जगमिथ । सृजिदृशिस्कृस्वरात्वत इति किम् ? रराधिथ, बिभेदिथ, चकर्थ । तृजिति किम् ? किति नित्यानिटो माभूत्-लुलविथ ।

नित्येति किम् ? तृचि विकल्पेटो माभूत्-विदुधविथ, ररन्धिथ । अनिट इति किम् ? शिश्रयिथ । थव इति किम् ? पेचिव, पेचिम । विहितविशेषणं किम् ? चकर्षिथ । अदादेशस्य घसेर्वेगादेशस्य च वयेः तृच्यभावान्नित्यमेवेड् भवति जघसिथ, उवयिथ । प्रकृत्यन्तरस्य तु घसेः परोक्षायामपि प्रायिक एव प्रयोगः, स्क्रादिसूत्रेण प्राप्ते विभाषा, स्वरान्तत्वेनैव सिद्धे स्कृग्रहणम् ``ऋतः'' (4-4-80) इति प्रतिषेधबाधनार्थम् ।।78।।

न्या०स०–सृजिदृशि०-चकर्षिथेति-इह गुणे कृते अत्वान् न प्रथमम् । *तृच्यऽभावादिति*-घञचलि परोक्षायां च विधानात् घसादेशस्य ।

ऋतः ।। 4. 4. 79. ।।

ऋकारान्ताद्धातोस्तृचि नित्यानिटो विहितस्य थव आदिरिट् न भवति, पृथग्योगात् वेति निवृत्तम् । जहर्थ, सस्मर्थ दध्वर्थ । ऋत इति किम् ? बिभेदिथ । तृज्नित्यानिट इत्येव ? सस्वरिथ । अत्रापीड्निषेधमिच्छन्त्येके–सस्वर्थ । जजागरिथेत्यत्र त्वनेकस्वरत्वाच्चेड्निषेधो न भवति । थव इत्येव ? जह्रिव, जह्रिम । पूर्वस्यापवादोऽयम् ।।79।।

न्या०स०–ऋतः–पृथग्योगादिति-सूत्रारम्भसामर्थ्यादित्यर्थः, अन्यथा स्वरान्तत्वात् पूर्वेणैव सिद्धमिति ।

ॠवृव्येऽद इट् ।। 4. 4. 80. ।।

अर्तेर्वृगो व्येगोऽदश्च धातोः परस्य थव आदिरिट् भवति, पुनरिट्ग्रहणान्नेति निवृत्तम् । ऋृ,—आरिथ, वृग्,—ववरिथ, व्येग्-संविव्ययिथ, अद्-आदिथ । अर्तेः पूर्वेण वृग उत्तरेण प्रतिषेधे व्येऽदोस्तु ``सुजिदृशि'' (4-4-79) इत्यादिना विकल्पे प्राप्ते वचनम् ॥80॥

न्या०स०—ऋृवृव्ये०-वृ इति सामान्योक्तावपि वृगो ग्रहः, वृङस्त्वात्मनेपदित्वेन थवोऽसंभवः, उत्तरसूत्रे तु परोक्षा इति भणनाद् द्वयोरपि ।

स्क्र-सृ-वृ-भृ-स्तु-द्रु-श्रु-स्त्रोर्व्यञ्जनादेः परोक्षायाः ॥ 4. 4. 81. ॥

सस्मटः करोतेः सृ-वृ-भृ-स्तु-द्रु-श्रु-स्रु-वर्जितेभ्यश्च सर्वधातुभ्यः परस्य व्यञ्जनादेः परोक्षाया आदिरिट् भवति ।

स्कृ-संचस्करिव, संचस्करिम, संचस्करिषे, स्राद्यन्येभ्यः— ददिव, ददिम, ददिषे, चिच्यिवहे, चिच्यिमहे, निन्यिवहे, निन्यिमहे, जुहुविव, जुहुविम, लुलुविढ्वे, लुलुविध्वे, जह्विव, जह्विम, तेरिव, तेरिम, शेकिव, शेकिम, पेचिषे, पेचिध्वे, पेचिवहे, पेचिमहे । स्कृ इति स्सटा निर्देशः किम् ? केवलस्य माभूत् चकृव, चकृम, चकर्थ, चकृषे । स्रादिवर्जनं किम् ? ससृव, ससृम, ससर्थ, ववृव, ववृम, ववृवहे, ववृमहे, बभृव, बभृम, बभर्थ । तुष्टुव, तुष्टुम, तुष्टोथ, दुद्रुव, दुद्रुम, दुद्रोथ, शुश्रुव, शुश्रुम, शुश्रोथ, सुस्रुव, सुस्रुम, सुस्रोथ । स्तुद्रुश्रुस्रूणां ``सृजिदृशि''—(4-4-79) इत्यादिनापि थवि विकल्पो न भवति । अनेन प्राप्ते हि स विकल्पः, एषां तु प्रतिषिद्धत्वात्प्राप्तिर्नास्ति । ववृषे इत्यत्र तु ``स्ताद्यशितः''—(4-4-32) इत्यादिनापि न भवति । ``ऋवर्णश्र्यूर्णुगः कितः'' (4-4-58) इति प्रतिषेधात् ॥81॥

घसेकस्वरातः क्वसोः ॥ 4. 4. 82. ॥

घसेरेकस्वरादादन्ताच्च धातोः परस्य परोक्षायाः क्वसोरादिरिट् भवति । घस्—जक्षिवान्, एकस्वर—आदिवान्, आशिवान् । द्वित्वदीर्घत्वयोः कृतयोरेकस्वरत्वम्-ऊचिवान्, अनूचिवान् । य्वृति दीर्घत्वे चैकस्वरत्वम् । शेकिवान्, पेचिवान्, उपसेदिवान् । इणोऽर्तेश्च द्विर्वचने कृतेऽपि समानदीर्घत्वे अरादेशे च सत्येकस्वरसद्भावेनेटः प्राप्तिसद्भावात् इट् नित्य एवेति पूर्वमेव भवति । तेन ईयिवान्, समीयिवान्, आरिवान् । आत्-पपिवान्, ययिवान्, तस्थिवान्, जग्लिवान् ।

घसेकस्वरात इति किम् ? विभिद्वान्, चिच्छिद्वान्, बभूवान्, उपशुश्रुवान्, नित्यत्वात् द्वित्वे कृतेऽनेकस्वरत्वम् विहितविशेषणं चेह नाश्रीयते । क्वसोरिति किम् ? बिभिदिव, बिभिदिम ।

वमयोर्नियमो न भवति । घस्याग्रहणमनेकस्वरार्थम् । इटि हि सत्याकारलोप उपान्त्यलोपश्च भवति । दरिद्रातेस्त्वामा भवितव्यम् । दरिद्रांचकृवान् । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थं वचनम् । एभ्य एव क्वसोरादिरिट् भवति नान्येभ्य इति ।।82।।

न्या०स०—घसेकस्वरा०-अरादेशे च सति-इटोनित्यत्वभावनार्थमित्थं प्रक्रिया दर्शिता न त्वेवं रूपसिद्धिर्विधीयते, यतोऽवर्णस्येत्यरं बाधित्वाऽल्पाश्रितत्वेन इवर्णादेरिति रत्वमेव ।

इट् नित्य एवेतीति—द्वित्वमपि कृताऽकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यं किं त्विट् परश्चेति तयोः स्पर्द्धेः परत्वात्पूर्वमिडेव । *ईयिवानिति*-ऐत् इयाय अगात् वेयिवदिति साधुः ।

आरिवानिति-आर क्वसुः अनेनेट्, द्वित्वे ``ऋतोऽत्'' (4-1-38), ``अस्यादेशः'' (4-1-68) इत्यात्वम् । एकस्य स्थाने भवन् अल्पाश्रित इत्यवर्णस्येत्यरं बाधित्वा ``इवर्णादेः'' (1-2-21) इति रत्वादेश एव । *विहितविशेषणमिति*-कुतो हेतोः घसग्रहणात्, अन्यथा विहितविशेषणत्वे एकस्वरत्वात् घस इट् सिद्ध एव । *दरिद्राश्चक्लृवानिति*—``वत्तस्याम्'' (1-1-34) इत्यव्ययत्वे ``अव्ययस्य'' (3-2-7) इति सेर्लुपि ``तौ मुमः'' (1-3-14) इत्यनुस्वारः सिद्धः, अन्यथा `म्नाम्' 1-3-39 इत्यन्त्य एव स्यात् ।

नियमार्थमिति-विपरीतनियमस्तु न भवति घसादीनामनुस्वारेत्करणात्, तद्धि अनिडर्थं तच्च ववसोरेवेत्यनेनैव नियमेन सिद्धम् ।

गम-हन-विद्लृ विश-दृशो वा ।। 4. 4. 83. ।।

एभ्यः परस्य क्वसोरादिरिट् वा भवति । गम्, जग्मिवान् । जगन्वान्, हन्- जघ्निवान्, जघन्वान्, विद्लृ-विविदिवान्, विविद्वान्, विश्-विविशिवान्, विविश्वान्, दृश्-ददृशिवान्, ददृश्वान्, लुकारो लाभार्थस्य विदेर्ग्रहणार्थः, तेन ज्ञानार्थस्य विविद्वानित्येव भवति । सत्ताविचारणार्थयोस्त्वात्मनेपदित्वात् क्वसुर्नास्त्येव ।।83।।

न्या०स०—गमहनविद्लृ०-विदेर्ग्रहणार्थ इति-अथ विद इत्युक्तेऽपि अदाद्यनदाद्योरिति न्यायात् लाभार्थस्यैव ग्रहणं भविष्यति सत्ताविचारार्थयोरनादित्वेऽप्यात्मनेपदित्वात् क्वसोरऽसंभवात्, नैवं, निरनुबन्धपरिभाषया तौदादिकस्य ग्रहणाऽसंभवादुभे ह्येते वचने परस्परविरोधिनी नैवाऽत्र प्रवर्त्तते, तस्माद्येन प्रकारेण निर्विशङ्कं लाभार्थस्य ग्रहणमुपपद्यते स प्रकारो वृत्तौ दर्शित इति । अथ विशिना तौदादिकेन साहचर्याल्लाभार्थस्यैव ग्रहणं भविष्यति किम्लृकारकरणेन ? नैवं, यथा विशिना साहचर्यं तथा हन्तिनापि साहचर्यशङ्का स्यात्ततश्चाऽदादेरेव ग्रहः स्यात् ।

सिचोऽञ्जेः ॥ 4. 4. 84. ॥

अञ्जेः परस्य सिच आदिरिड् भवति । आञ्जीत्, आञ्जिष्टाम्, आञ्जिषुः । सिच इति किम् ? अङ्क्ता, अञ्जिता । औदित्त्वाद्विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् ॥84॥

धूग्सुस्तोः परस्मै ॥ 4. 4. 85. ॥

एभ्यः परस्य सिच आदिरिड् भवति । परस्मैपदे परतः । धूग्-अधावीत्, अधाविष्टाम्, अधाविषुः । सु इति सुमात्रस्य ग्रहणम् । असावीत्, असाविष्टाम्, असाविषुः, स्तु-अस्तावीत्, अस्ताविष्टाम्, अस्ताविषुः ।

परस्मा इति किम् ? अधोष्ट, अधविष्ट, असोष्ट, अस्तोष्ट, धूगो विकल्पे सुस्तुभ्यां च प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ॥85॥

न्या०स०—धूग्सुस्तो०—असोष्टेति-सुमात्रस्येत्युक्तेऽपि षुंगृ इत्यस्यायं प्रयोगः, सुं प्रसवैश्वर्ययोरित्यस्य तु आत्मनेपदं न स्यात् कर्त्तरि, भावकर्म्मणोस्तु संभवेऽपि ञिच् स्यात् ततश्चाऽसावि इति प्रयोगः स्यात् ।

यमिरमिनम्यातः सोऽन्तश्च ॥ 4. 4. 86. ॥

यमिरमिनमिभ्य आदन्तेभ्यश्च धातुभ्यः परस्य परस्मैपदविषयस्य सिच आदिरिड् भवति एषां च सोऽन्तो भवति । । अयंसीत्, अयंसिष्टाम्, अयंसिषुः, व्यरंसीत्, व्यरंसिष्टाम्, व्यरंसिषुः, अनंसीत्, अनंसिष्टाम् । अनंसिषुः ।

एभ्यो दिस्योः सिच इड्विधे वृद्धिप्रतिषेधः प्रयोजनम् । आदन्त,—अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः, अग्लासीत्, अग्लासिष्टाम्, अग्लासिषुः, अदरिद्रासीत्, अदरिद्रासिष्टाम्, अदरिद्रासिषुः, आलोपपक्षे, अदरिद्रीत्, अदरिद्रिष्टाम्, अदरिद्रिषुः । परस्मा इत्येव ? आयंस्त, उपायंस्त, अरंस्त, अनंस्त दण्डः स्वयमेव, अमास्त धान्यं चैत्रः ॥86॥

न्या०स०—यमिरमि०-सोन्तो भवतीति-अन्तग्रहात् ``षष्ठ्या अन्त्यस्य'' (7-4-106) इति न प्रवर्त्तते । किञ्चान्तग्रहाभावेऽस्य प्रत्ययत्वं स्यात्ततोऽदरिद्रासीदित्यादौ ``स्ताद्यशितः'' (4-4-32) इत्यनेन सकारस्यादावपीट् स्यात्, दिस्योः परयोः सिचादाविट्विधानस्य किं फलमित्याह—*वृद्धिप्रतिषेध इति* ``व्यञ्जनानामऽनिटि'' (4-3-45) इति प्राप्ताया इत्यर्थः ।

आलोपपक्षे इति-``दरिद्रोऽद्यतन्यां वा'' (4-3-76) इत्यनेनाऽद्यतनीविषयेऽपीत्यर्थः ।

ईशीडः सेध्वेस्वध्वमोः ॥ 4. 4. 87. ॥

आभ्यां परयोवर्तमानासेध्वयोः पञ्चमीस्वध्वमोश्चादिरिड् भवति । ईश्–ईशिषे, ईशिध्वे, ईशिष्व, ईशिध्वम्, ईड् – ईडिषे, ईडिध्वे, ईडिष्व, ईडिध्वम् । समुदायद्वयापेक्षं द्विवचनम्, तेन स्वसहचरितस्य ध्वमो ग्रहणात् ह्यस्तनीध्वमि न भवति । ईशीडोः ऐड्ढ्वम् । परोक्षासेध्वयोरामा भाव्यमिति वर्तमानासेध्वयोर्ग्रहणम् । वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ॥87॥

न्या०स०–ईशीडः-ऐड्ढ्वमिति-ईशीडोर्ह्यस्तनीध्वमि ``यजसृज'' (2-1-87) इति ``षत्वे तवर्गस्य'' (1-3-60) इति ढत्वे ``तृतीयस्तृतीय०'' (1-3-49) इति षस्य डत्वे इति ``स्वरादेस्तासु'' (4-4-31) इति वृद्धिः ।

रुत्पञ्चकाच्छिदयः ॥ 4. 4. 88. ॥

रुदिस्वपि-अनिश्वसिजक्षिलक्षणाद्रुत्पञ्चकात्परस्य व्यञ्जनादेः शितोऽयकारादेरादिरिड् भवति । रोदिति, रुदितः, स्वपिति, स्वपितः, प्राणिति, प्राणितः, श्वसिति, श्वसितः, जक्षिति, जक्षितः । पञ्चकादिति किम् ? जागर्ति । शिदिति किम् ? स्वप्ता । व्यञ्जनादेरित्येव, रुदन्ति । अयिति किम् ? रुद्यात्, स्वप्यात् ॥88॥

दिस्योरीट् ॥ 4. 4. 89. ॥

रुत्पञ्चकात्परयोर्दिस्योः शितोरादिरीट् भवति । अरोदीत्, अरोदीः, अस्वपीत्, अस्वपीः, प्राणीत्, प्राणीः, अश्वसीत्, अश्वसीः, अजक्षीत्, अजक्षीः । दिस्योरिति किम् ? रोदिति । दिसाहचर्यात्सिर्ह्यस्तन्या एव, तेन रोदिषि ॥89॥

अदश्चाट् ॥ 4. 4. 90. ॥

अत्ते रुत्–पञ्चकाच्च–परयोर्दिस्योः शितोरादिरट् भवति । आदत्, आदः, अरोदत्, अरोदः, अस्वपत्, अस्वपः, प्राणत्, प्राणः, अश्वसत्, अश्वसः, अजक्षत्, अजक्षः । दिस्योरित्येव ? अत्ति, अत्सि, रोदिति, रोदिषि ॥90॥

संपरेः कृगः स्सट् ॥ 4. 4. 91. ॥

संपरिभ्यां परस्य कृग आदिः स्सट् भवति । संस्करोति कन्याम्, भूषयतीत्यर्थः । संस्कृतं वचनम्, संस्कारो वासना, तत्र नः संस्कृतं समुदितमित्यर्थः । परिष्करोति कन्याम् । परिष्कृतम्, परिष्कारः, तत्र नः परिष्कृतम् । भूषासमवाययोरेवेच्छन्त्येके, तन्मतेऽन्यत्र परिकृतम् । पूर्वं धातुरुपसर्गेण संबध्यते पश्चात्साधनेनेति द्विर्वचनादडागमाच्च पूर्वं स्सडेव भवति ।

संचस्कार, परिचस्कार, समस्करोत्, पर्यस्करोत्, समस्कार्षीत्, पर्यस्कार्षीत्, समचिस्करत्, पर्यचिस्करत्, कथं संकृतिः, गर्गादिपाठात् । संकरः परिकर इति किरतेरला भविष्यति । संकार इत्यत्र किरतिरेव, बहुलाधिकारात् घञ् । स्सडिति द्विसकारनिर्देशात् समचिस्करदित्यादौ षो न भवति । परिष्करोतीत्यादौ तु ``असोङसिवूसहस्सटाम्'' (2-3-49) इत्यादिवचनाद्भवति, टकारः ``स्सटि समः'' (1-3-12) इत्यत्र विशेषणार्थः ।91।

न्या०स०—संपरेः कृगः-संस्करोतीति-कस्यादिरिति व्याख्यानादऽनुस्वारस्यापि व्यञ्जनत्वे ``धुटो धुटि'' (1-3-48) इति प्रवर्त्तते इति न्यासः ।

उपाद्भूषा-समवाय-प्रतियत्न-विकार-वाक्याध्यारे ।। 4. 4. 92. ।।

उपात्परस्य कृगो भूषादिष्वर्थेष्वादिः सट् भवति, भूषालंकारः तत्र-कन्यामुपस्करोति भूषयति इत्यर्थः । समवायः समुदायः, तत्र न उपस्कृतं समुदितमित्यर्थः; पुनर्यत्नः प्रतियत्नः, सतोऽर्थस्य संबन्धाय वृद्धये तादवस्थ्याय वा समीहा प्रतियत्नः, एधोदकस्योपस्कुरुते । काण्डगुणस्योपस्कुरुते । तत्र प्रतियतत इत्यर्थः । प्रकृतेरन्यथाभावो विकारः, तत्र-उपस्कृतं भुङ्क्ते, उपस्कृतं गच्छति, विकृतमित्यर्थः । गम्यमानार्थस्य वाक्यैकदेशस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्याध्याहारः, तत्र-उपस्कृतं जल्पति, उपस्कृतमधीते । सोपस्कराणि सूत्राणि सवाक्याध्याहा-राणीत्यर्थः । एष्विति किम् ? उपकरोति ।।92।।

न्या०स०—उपाद्भूषा०-सतोऽर्थस्येति-सतोऽसंबद्धस्य सबन्धाय लाभाय लब्धस्य वा वृद्धये आधिक्याय वृद्धस्य वा तादवस्थ्याय सा पूर्वावस्थाऽस्य तदवस्थाऽस्य तदवस्थं वस्तु तस्य भावः । अपायपरिहारेणाऽभिमतावस्थासंरक्षणम् ।

उपस्कृतं भुङ्क्ते इति-संसत्कं धान्यं भुङ्क्ते इत्यर्थः । *वाक्याध्याहार इति*-गम्य-मानार्थानि पदानि सुखार्थमुच्चार्यन्ते, यथा ``ज्ञः'' (3-3-82) इति सूत्रे कर्मण्यसति गम्य-मानमपि स्वरूपेण उपादीयते, यथा वा ``किरो लवने'' (4-4-93) इति उपादिति स्वरूपेण गृह्यते ।

किरो लवने ॥ 4. 4. 93. ॥

उपात्परस्य किरतेः सडादिर्भवति लवने लवनविषयश्चेत्तदर्थो भवति । उपस्कीर्य मद्रका लुनन्ति, उपस्कारं मद्रका लुनन्ति–विक्षिप्य लुनन्तीत्यर्थः । ``उपात् किरो लवने'' (5-4-72) इति णम् ।

लवन इति किम् ? उपकिरति पुष्पम् ॥93॥

न्या०स०–किरो लवने-किर इति इर्निर्देशः क्रैयादिकनिवृत्त्यर्थः, न तु इरादेशे सति कार्यार्थस्तेन वाक्येऽपि स्सट् भवति ।

प्रतेश्च वधे ॥ 4. 4. 94. ॥

प्रतेरुपाच्च परस्य किरतेर्वधे हिंसायां विषयेऽभिधेये वा सडादिर्भवति । प्रतिस्कीर्णं हते वृषल भूयात्, उपस्कीर्णं हते वृषल भूयात्-हिंसानुबन्धी विक्षेपस्ते भूयात् इत्यर्थः । अभिधेये, उरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः । हत इत्यर्थः । वध इति किम् ? प्रतिकीर्णं, उपकीर्णं बीजं विक्षिप्तमित्यर्थः ॥94॥

अपाच्चतुष्पात्पक्षिशुनि हृष्टान्नाश्रयार्थे ॥ 4. 4. 95. ॥

अपात्परस्य किरतेश्चतुष्पदि पक्षिणि शुनि च कर्तरि यथासंख्यं हृष्टेऽन्नार्थिनि आश्रयार्थिनि सति सडादिर्भवति । अपस्किरते वृषभो हृष्टः– हर्षाद्विलिख्य तटं विक्षिपतीत्यर्थः, अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी-विलिख्यावस्करं विक्षिपतीत्यर्थः, अपस्किरते श्वाश्रयार्थी-विलिख्य भस्म विक्षिपतीत्यर्थः ।

अपादिति किम् ? विकिरति वृषभो हृष्टः । एष्विति किम् ? अपकिरति बालो धूलिं हृष्टः । हृष्टादिष्विति किम् ? अपकिरति हस्ती रजश्चापलेन ॥95॥

न्या०स०–अपाच्च०-हृष्ट इति-`हृषच् तुष्टौ' हर्षणं क्तिः हृष्टिरस्यास्ति अभ्रादित्वादः, क्तान्तात्तु इट् स्यात्, हर्षिमप्यूदितं मन्यते नन्दी हृषूरित्यपि तुष्ट्यर्थो वाऽनेकार्थत्वात् ।

वौ विष्किरो वा ॥ 4. 4. 96. ॥

वौ पक्षिण्यभिधेये विष्किर इति वा स्सट् निपात्यते । विकिरतीति विष्किरः पक्षि-

विशेषः, विकिरोऽपि स एव। अन्ये तु पक्षिणोऽन्यत्र विकिरशब्दस्यापि प्रयोगो नास्तीत्याहुः ॥96॥

प्रात्तुम्पतेर्गवि ॥ 4. 4. 97. ॥

प्रात्परस्य तुम्प इत्येतस्य धातोर्गवि कर्त्तरि स्सडादिर्भवति। प्रस्तुम्पति गौः, प्रस्तुम्पति वत्सो मातरम्, प्रस्तुम्पको वत्सः। गवीति किम् ? प्रतुम्पति वनस्पतिः। अन्ये तु प्रात्परस्य तुम्पतिशब्दस्य गवि अभिधेये सडादिर्भवति। प्रस्तुम्पतिर्गौः, प्रतुम्पतिरन्यः। तुम्पतिधातोस्तु सट् न भवतीति मन्यन्ते। एके तु प्रात्तुम्पतेः कपीत्यारम्भन्ते। कपि हिंसायां कच्पर्याये वा कपि समासान्तः इति च व्याचक्षते, प्रस्तुम्पति वत्सो, मातरम् हिनस्तीत्यर्थः। प्रगतस्तुम्पोऽस्मा-त्प्रस्तुम्पको देशः ॥97॥

न्या०स०—प्रात्तुम्पते०-प्रस्तुम्पति वत्स इति, वत्सोऽपि गौरेव विशेषस्य सामा- न्यात्मकत्वात्। *तुम्पतिशब्दस्येति*-तुम्पतेस्तिवन्तस्यैवाऽनुकरणं मन्यते इत्यर्थः। ``इकिश्तिव्'' (5-3-138) इति तिव्प्रत्ययान्तं वा, ततः प्रकृष्टास्तुम्पतिर्हिंसा यस्याऽसौ प्रस्तुम्पतिर्गौः।

कपीत्यारम्भन्ते इति-कपेः सौत्रात् कम्पेर्वा कम्पनं ``क्रुत्सम्पद'' (5-3-114) इति क्विप्। ``लङ्गिकम्प्योः'' (4-2-47) इति न लुक्।

उदितः स्वरान्नोन्तः ॥ 4. 4. 98. ॥

उदितो धातोः स्वरात्परो नोऽन्तोऽवयवो भवति। नन्दति, निन्दति, नन्दितः, निन्दितः, कुण्डिता, हुण्डिता। अयं चोपदेशावस्थायामेव भवत्यनैमित्तिकत्वात्, तेन कुण्डा हुण्डेत्यादौ ``क्तेटो गुरोर्व्यञ्जनात्'' (5-3-106) इत्यप्रत्ययः सिद्धो भवति ॥98॥

मुचादि-तृफ-दृफ-गुफ-शुभोम्भः शे ॥ 4. 4. 99. ॥

एषां स्वरान्नोऽन्तो भवति शे परे। मुञ्चति, मुञ्चते, सिञ्चति, सिञ्चते, विन्दति, विन्दते, लुम्पति, लुम्पते, लिम्पति, लिम्पते, कृन्तति, खिन्दति, पिंशति, तृफ-तृम्फति, दृफ—दृम्फति, गुफ-गुम्फति, शुभ-शुम्भति, उभ्-उम्भति।

तृफादयः सनकारा अनकाराश्च तुदादिषु पठ्यन्ते, तत्र तृम्फादीनां शे नस्य लुक् इति तृफादीनां नविधानम्। विधानसामर्थ्यात्त्वस्य लोपो न भवतीति तृफति तृम्फतीत्यादि द्वैरूप्यं सिद्धम्। एषामिति किम् ? तुदति। श इति किम् ? मोक्ता, मोक्तुम्। मुच्लृंती, षिचींत्, विद्लृंती, लुप्लृंती, लिपींत्, कृतैत्, खिदंत्, पिशत्, वृत् इति मुचादिः ॥99॥

जभः स्वरे ।। 4. 4. 100. ।।

जम्भतेः स्वरादौ प्रत्यये परे नोऽन्तो भवति । जम्भयति, जम्भकः, साधुजम्भी, जम्भंजम्भम्, जम्भो वर्तते । स्वर इति किम् ? जभ्यम्, जंजब्धि ।।100।।

*न्या०स०—जभः स्वरे-जम्भयतीति-*यभंजभ मैथुने जभुङ् जभैङ् जृभुङ् गात्रविनामे, जम्भन्तं जम्भमानं वा प्रयुङ्क्ते णिग् । *जंजब्धीति-*ईति जंजभीति न तु नागमः, ❊ आगमशासनमनित्यम् ❊ इति न्यायात् ।

रध इटि तु परोक्षायामेव ।। 4. 4. 101. ।।

रध्यतेः स्वरात्परः स्वरादौ प्रत्यये परेऽन्तो नो भवति इटि तु इडादौ तु प्रत्यये परोक्षायामेव । रन्धयति, रन्धकः, साधुरन्धी । रन्धंरन्धम् । रन्धो वर्तते । इटि तु परोक्षायाम् । ररन्धिव, ररन्धिम, रेधिवान् । अत्र नस्य लुक् ।

परोक्षायामेवेति किम् ? रधिता, रधिष्यति । एवकारो विपरीतनियमनिरासार्थः, तेनेह नियमो न भवति । ररन्ध । ररन्धतुः । ररन्धुः । स्वर इत्येव । रद्धा ।।101।।

*न्या०स०—रध इटि तु०-विपरीतनियमनिरासार्थ इति-*नियमस्तु पूर्वसूत्रात्स्वराधिकारे यदत्र इट्ग्रहणं करोति तस्मादेव सिद्ध इति ।

रभोऽपरोक्षाशवि ।। 4. 4. 102. ।।

रभतेः स्वरात्परः परोक्षाशव्वर्जिते स्वरादौ प्रत्यये परे नोऽन्तो भवति । आरम्भयति, आरम्भकः, साध्वारम्भी, आरम्भमारम्भम्, आरम्भो वर्तते । अपरोक्षाशवीति किम् ? आरेभे, आरभते । स्वर इत्येव, आरब्धा ।।102।।

लभः ।। 4. 4. 103. ।।

लभतेः स्वरात्परः परोक्षाशव्वर्जिते स्वरादौ प्रत्यये परे नोऽन्तो भवति । लम्भयति, लम्भकः, साधुलम्भी । अपरोक्षाशवीत्येव, लेभे, लभते । लभेः परस्मैपदस्याप्यभिधानात् लभन्ती स्त्रीति केचित् । स्वर इत्येव, लब्धा । योगविभाग उत्तरार्थः ।।103।।

आङो यि ।। 4. 4. 104. ।।

आङः परस्य लभतेः स्वरात्परो यि यकारादौ प्रत्यये नोऽन्तो भवति । आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा । आङ इति किम् ? लभ्यः । यीति किम् ? आलब्धा ।।104।।

उपात्स्तुतौ ।। 4. 4. 105. ।।

उपात्परस्य लभतेः स्वरात्परो यकारादौ प्रत्यये परे स्तुतौ प्रशंसायां गम्यमानायां नोऽन्तो भवति । उपलम्भ्या विद्या भवता, उपलम्भ्यं शीलम् । स्तुताविति किम् ? उपलभ्या वार्ता, उपलभ्यमस्माद्–वृषलात् किञ्चित् ।।105।।

ञिख्णमोर्वा ।। 4. 4. 106. ।।

ञौ ख्णमि च प्रत्यये परे लभतेः स्वरात्परो नोऽन्तो वा भवति । अलाभि, अलम्भि, लाभंलाभम्, लम्भंलम्भम् ।।106।।

उपसर्गात् खल्घञोश्च ।। 4. 4. 107. ।।

उपसर्गात्परस्य लभेः स्वरात्परः खल्घञोर्ञिख्णमोश्च परयोर्नोऽन्तो भवति । खल् ईषत्प्रलम्भम्, ईषदुपलम्भम्, दुष्प्रलम्भम्, सुप्रलम्भम् । घञ, प्रलम्भः, उपलम्भः, विलम्भः । ञि-प्रालम्भि ख्णम्-प्रलम्भंप्रलम्भम् । उपसर्गादिति किम् ? ईषल्लभः–लाभो वर्तते । ञिख्णमोर्नित्यार्थमुपसर्गादेव खल्घञोरिति नियमार्थं वचनम् ।।107।।

न्या०स०–उपसर्गात् खल्०-उपसर्गनियमस्तु न भवति । ``शप् उपलम्भने'' (3-3-35) इति ज्ञापनात् ।

सुदुर्भ्यः ।। 4. 4. 108. ।।

सुदुर्इत्येताभ्यां व्यस्ताभ्यां समस्ताभ्यां चोपसर्गात्पराभ्यां परस्य लभतेः स्वरात्परः खल्घञोः परयोर्नोऽन्तो भवति । खल्-अतिसुलम्भम्, अतिदुर्लम्भम्, घञ्-अतिसुलम्भः, अतिसुदुर्लम्भः । उपसर्गादित्येव,–सुलभम्, दुर्लभम्, सुदुर्लभम्, सुलाभः, दुर्लाभः सुदुर्लाभः । अतिसुलभमतिदुर्लभमित्यतेः पूजातिक्रमयोरनुपसर्गत्वात्, उपसर्गादेव सुदुर्भ्य इति नियमार्थं वचनम्, बहुवचनं व्यस्तसमस्तपरिग्रहार्थम् दुस्संग्रहार्थं च ।।108।।

न्या०स०—सुदुर्भ्यः समस्ताभ्यां चेति-अत्र समस्तग्रहणेन विपर्यस्तावपि गृह्येते, यतः सामस्त्यं हि द्वयोरपि एकस्मिन् प्रयोगे योजनं तच्च क्रमव्युत्क्रमाभ्यां भवति, तेन दुःसुलाभ इति व्यावृत्त्युदाहरणमुपपन्नम्, यत्र तु साक्षात् विपर्यस्तग्रहस्तत्र सुखार्थं गोबलीवर्द्दन्यायवत् ।

अतिसुदुर्लम्भ इति-अतिशयेन सुष्ठु दुःखेन लभ्यते, दुःखस्यातिशयाऽतिशयः । नियमार्थमिति-पूर्वेणैव सिद्धेऽस्यारम्भादित्यर्थः, विपरीतनियमस्तु न, ``शप उपलम्भने'' (3-3-35) इत्यस्यैव ज्ञापकत्वात् ।

नशो धुटि ॥ 4. 4. 109. ॥

नश्यतेः स्वरात्परो धुडादौ प्रत्यये परे नोऽन्तो भवति । नंष्टा, नंष्टुम्, नङ्क्ष्यति, निनङ्क्षति । धुटीति किम् ? नश्यति, नशिता ॥109॥

मस्जेः सः ॥ 4. 4. 110. ॥

मस्जतेः स्वरात्परस्य सकारस्य स्थाने धुडादौ प्रत्यये नोऽन्तो भवति । मङ्क्ता, मङ्क्तुम्, मङ्क्ष्यति, मिमङ्क्षति, ममङ्क्थ, अमाङ्क्षीत् । आदेशकरणं नलोपार्थम् । मग्नः, मग्नवान्, मक्त्वा, तसि-मामक्तः । धुटीति किम् ? मज्जनम् ॥110॥

न्या०स०—मस्जेः सः-न लोपार्थमिति न वाच्यं मङ्क्ता इत्यादिषु स्वरात् परे विधीयमाने नागमे संयोगमध्यस्थत्वात् सकारस्य लोपो न प्राप्तः, यतोऽत्रैको न्स्संयोगोऽपरश्च स्ज् ततश्च द्वितीयसंयोगादौ सस्य लुक् । मग्न इत्यादौ तु सलुकि कृते ``नो व्यञ्जनस्य'' (4-2-45) इति उपान्त्यलोपे कर्त्तव्ये सलुक् असन् भवति इति नलोपार्थमादेशकरणमऽभाणि । पाणिनौ तु सात्परो नो विहितः संयोगश्च त्रयाणामपीष्ट इति संयोगादौ सुलुक्, यद्येवं मङ्क्तेत्यादौ संयोगद्वयविवक्षा एवं तर्हि इन्द्रिद्रीयिषतीत्यत्र दस्य द्वित्वं न प्राप्नोति, तत्रापि संयोगद्वयविवक्षायां दस्यादित्वात् । न,—``न बदनम्'' (4-1-5) इत्यत्रावधारणत्वात् एवं व्याख्या कार्या, आदिरेव बदनं न द्विरुच्चते, अत्र तु नकारापेक्षया दकारोऽन्तेऽपि, यद्वा द्वितीयस्याऽवयवस्य संयोगपूर्वावयवानन्तरस्य ग्रहणात् ।

अः सृजिदृशोऽकिति ॥ 4. 4. 111. ॥

सृजिदृशोः स्वरात्परो धुडादौ प्रत्यये अकारोऽन्तो भवति `अकिति' किति तु न भवति । स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम्, अस्राक्षीत् । परत्वादकारागमे सति वृद्धिः । स्रक्ष्यति, द्रष्टा,

द्रष्टुम्, द्रष्टव्यम्, अद्राक्षीत्, द्रक्ष्यति, सरिस्त्रष्टि, सरिस्त्रष्टः, दरिद्रष्टि, दरिद्रष्टः । ङित्यपि नेच्छन्त्येके ।

धुटीत्येव, सर्जनम्, दर्शनम् । अकितीति किम् ? सृष्टः, दृष्टः, सिसृक्षति, दिदृक्षते । प्रसज्याश्रयणात्प्रतिषेधे धुटीति नाश्रीयते, तेन सिज्लुचो धुडादित्वं प्रति वर्णाश्रयत्वेन स्थानिवद्भावाभावेऽपि कित्त्वं प्रति स्थानिवद्भावात् किदाश्रयः प्रतिषेधो भवति । असृष्ट, असृष्टाः, समदृष्ट, समदृष्टाः । धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये विज्ञानात् चेह न भवति । रज्जुसृड्भ्याम्, देवदृग्भ्याम् ॥111॥

न्या०स०—अः सृजि०- प्रसज्याश्रयणादिति-प्रसज्येति क्त्वान्तं ततः प्रसज्यप्रतिषेधः, तर्हि प्रसज्यः कथम् ? सत्यं,—``ते लुग् वा'' (3-2-108) इति लोपेऽव्ययसंबन्धित्वाभावात् सेर्लोपाभावे भविष्यति ।

धुटीति नाश्रीयते इति-अयमर्थः अकिति धुडादौ प्रत्यये भवतीति नाश्रीयते इति । *तत्प्रत्ययेति*-तस्माद् धातोर्धुडादौ प्रत्यये कार्यविज्ञानं, अत्र तु रज्जुसृडिति नाम्नः ।

स्पृशादिसृपो वा ॥ 4. 4. 112. ॥

स्पृशमृशकृपतृपदृपां सृपश्च स्वरात्परो धुडादौ प्रत्यये परेऽकारोऽन्तो वा भवति अकिति । स्प्रष्टा, स्पर्ष्टा, स्प्रष्टुम्, स्पर्ष्टुम्, स्प्रष्टव्यम्, स्पर्ष्टव्यम्, अस्प्राक्षीत्, अस्पार्क्षीत्, स्प्रक्ष्यति, स्पर्क्ष्यति, एवं म्रष्टा, मर्ष्टा, क्रष्टा, कर्ष्टा, त्रप्ता, तर्प्ता, द्रप्ता, दर्प्ता, स्रप्ता, सर्प्ता । धुटीत्येव ? स्पर्शनम्, मर्शनम् । अकितीत्येव ? स्पृष्टः, पिस्पृक्षति ॥112॥

ह्रस्वस्य तः पित्कृति ॥ 4. 4. 113. ॥

धुटीति निवृत्तमसंभवात् अकितीति च `सोस्तो ङ्वनि' इति सूत्राकरणात् । ह्रस्वान्तस्य धातोः पिति कृत्प्रत्यये परे तोऽन्तो भवति । जगत् अग्निचित्, सोमसुत्, पुण्यकृत्, आगत्य, विजित्य, प्रस्तुत्य, प्रहृत्य । ह्रस्वस्येति किम् ? ग्रामणीः, आलूय ।

पिदिति किम् ? चितम्, स्तुतम् । कृतीति किम् ? अजुहवुः । ग्रामणि कुलं वृत्रह कुलमित्यत्र तु `असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति न भवति । सुशूः उपशूयेत्यत्रान्तरङ्गत्वाद्विशेषविहितत्वाच्च य्वृद्दीर्घत्वं च भवति ॥113॥

न्या०स०—ह्रस्वस्यतः सोस्तो ङ्वनिपीति-ह्रस्वान्तादऽस्मादेव सुयजोर्ङ्वनिबिति

अकित्कृत्संभव इत्यर्थः, यद्वा क्विपः पित्त्वविधानात्, नैयासिकाः कितां कृतां पित्त्वविधानमित्युत्तरं प्राहुः, यदि हि कितीति संबध्येत तदा पित्करणं निरर्थकं स्यादिति ।

जगदिति-``दिद्युत्'' (5-2-83) इति क्रियाशब्दोऽत्र संज्ञाशब्दस्तु `गमेर्डिद्द्वे वा' 885 (उणादि) इति साधुः । *असिद्धं बहिरङ्गमिति*-एकत्र क्लीबे ह्रस्वोऽन्यत्र न लोपः ।

अतो म आने ॥ 4. 4. 114. ॥

धातोर्विहिते आने प्रत्यये परेऽकारस्य मोऽन्तो भवति । पचमानः, पवमानः, कवचमुद्वहमानः, करिष्यमाणः, विद्यमानः । अत इति किम् ? शयानः, भुञ्जानः । आन इति किम् ? पचन् । पुर्वान्तकरणं ``मव्यस्याः'' (4-2-113) इत्याकारनिवृत्त्यर्थम् ॥114॥

आसीनः ॥ 4. 4. 115. ॥

आस्तेः परस्यानस्यादेरीकारो निपात्यते । आसीनः, उदासीनः, उपासीनः, अध्यासीनः ॥115॥

ॠतां क्ङितीर् ॥ 4. 4. 116. ॥

ऋकारान्तस्य धातोः किति ङिति च प्रत्यये परे निर्देशात् ऋकारस्यैव स्थाने इरित्ययमादेशो भवति । तीर्णम्, दीर्णम्, आस्तीर्णम्, विशीर्णम, ङितिकिरति, गिरति । बहुवचनं लाक्षणिकस्यापि परिग्रहार्थम् । चिकीर्षति, जिहीर्षति । क्ङितीति किम् ? तरति ॥116॥

न्या०स०—ॠतां क्ङितीर्-ॠकारस्यैवेति—न त्वनेकवर्णः सर्वस्येति ।

ओष्ठ्यादुर् ॥ 4. 4. 117. ॥

धातोरोष्ठ्याद्वर्णात्परस्य ऋकारस्य क्ङिति प्रत्यये परे उरादेशो भवति, इरोऽपवादः । पूर्तः, पूः, पुरौ, पुरः, पोपूर्यते, पोपुरति, वुवूर्षति, बुभूर्षति, मुमूर्षति । दन्त्यौष्ठ्योऽप्योष्ठ्यः, तेन वुवूर्षते प्रावुवूर्षति । ओष्ठ्यादिति किम् ? तीर्णम् । धातोरिति विशेषणादिह न भवति । समीर्णम्, क्ङितीत्येव ? निपरणम्, निपारकः, प्रावरणम्, प्रावारकः । केचित्तु उपान्त्यस्यापि ऋत उरमिच्छन्ति । पृण्मृणोर्यङ्लुप् तस् ``अहन्पञ्चम'' (4-1-107) इत्यादिना दीर्घत्वम् । परिपूर्णः, मरिमूर्णः । अविशेषनिर्देशात्तदपि संगृहीतम् ॥117॥

*न्या०स०–ओष्ठ्यादुर्-*केचित्तूपान्त्येति–ॠकारावयवयोगाद् धातुरपि ॠकारः, ``विशेषणमन्तः'' (7-4-113) इति न्यायात् ॠकारान्तत्वं सामान्याधिकरण्ये च षष्ठी स्वमते, तन्मते तु धातोः संबन्धिन ऋकारस्य उर् ततो व्यधिकरणे षष्ठीत्युपान्त्यं च सिद्धम् ।

इसासः शासोऽङ्व्यञ्जने ॥ 4. 4. 118. ॥

शास्तेरवयवस्यासः स्थानेऽङि व्यञ्जनादौ च क्ङिति प्रत्यये परे इसित्ययमादेशो भवति । अङि,–अशिषत्, अन्वशिषत्, क्ङिति व्यञ्जने-शिष्टः, शिष्टवान्, अनुशिष्टः, शिष्ट्वा, अनुशिष्य, शिष्यः, शिष्यते, शेशिष्यते, शिष्टः, शिष्ठः, शिष्यः, शिष्मः शासः शिसित्यकृत्वा आस इस्विधानं यङ्लुपि शाशिष्ट इत्यादिप्रयोगार्थम्, अन्यथा शिष्ट इत्यादि स्यात् । अङ्व्यञ्जन इति किम् ? शशासतुः, शशासुः, शासति । क्ङिन्तीत्येव ? शास्ता, शास्त्रम्, शास्ति ॥118॥

*न्या०स०–इसासः-शिष्ट इत्यादीति-*यङ् लुबन्तस्यापि इसादेशः स्यादित्यर्थः ।

क्वौ ॥ 4. 4. 119. ॥

शासोऽवयवस्यासः स्थाने क्वाविसादेशो भवति । आर्यशीः, मित्रशीः ॥119॥

*न्या०स०–क्वौ-*पूर्वेणैव सिद्धे क्वाविति पृथक्करणं क्वौ व्यञ्जनकार्याऽनित्यत्वज्ञापनार्थं, तेनाऽव्ययिति सिद्धं, न च वाच्यं णिलुकः स्थानित्वं ``न सधि'' (1-3-52) इत्यस्य अवस्थानात् ।

आङः ॥ 4. 4. 120. ॥

आङः परस्य शासोऽवयवस्यासः स्थाने क्वावेवेसादेशो भवति । आशीः, आशिषौ, आशिषः, पूर्वेण सिद्धे नियमार्थो योगः । तेनेह न भवति-आयुराशास्ते, आशास्वहे । आशास्महे ॥120॥

*न्या०स०–आङः-क्वावेवेति-*आङ एव क्वाविति प्रत्ययनियमस्तु न, पूर्वेणैकयोगाऽकरणात्, क्वौ व्यञ्जनकार्यमनित्यं च, तेन गिरौ गिर इत्यत्र व्यञ्जनाश्रितं न दीर्घत्वं राजनतीत्यादौ न लोपाभावश्च सिद्धः ।

ख्वोः प्वय्व्यञ्जने लुक् ॥ 4. 4. 121. ॥

पौ यकाररहितव्यञ्जनादौ च प्रत्यये यकास्वकारयोर्लुग् भवति। पुग्रहणमप्रत्ययार्थम्। पौ-क्नोपयति, क्ष्मापयति, अव्यञ्जने क्नूतम्, क्ष्मातम्, ऊतम्, देदिवः शेश्रिवः, अजेजीव, दिदिवान्, दिदिवांसौ, दिदिवांसः, कण्डूमिच्छतीति कण्डूयतेः क्विप्। कण्डूः। कण्डुवौ। कण्डुवः, लोलूः, बोभूः। लून्युः, पून्युः, विचि तेवृङ्देवृङोः सुतेः, सुदेः।

कथं वृक्षवयतीति वृक्षव्, णिलुकः स्थानिवत्त्वात् भविष्यति। यवर्जनं किम् ? क्नूय्यते, सेव्यते। व्यञ्जन इति किम् ? क्नूयिता, देविता। प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणात् धात्ववयवे न भवति, व्रश्चकः ॥121॥

कृतः कीर्तिः ॥ 4. 4. 122. ॥

कॄतण् इत्येतस्य कीर्त् इत्ययमादेशो भवति। कीर्तयति, कीर्तयतः, कीर्तयन्ति, कीर्तिः। कॄत ऋदुपदेशोऽचीकृतदित्यत्र ॠकारश्रवणार्थः। इकारान्तनिर्देशो मङ्गलार्थः ॥122॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ चतुर्थः पादः ॥4॥ इति चतुर्थोध्यायः।

दुर्योधनोर्वीपतिजैत्रबाहु, गृहीतचेदीशकरोऽवतीर्णः।
अनुग्रहीतुं पुनरिन्दुवंशं श्रीभीमदेवः किल भीम एव ॥

न्या०स०—कॄतः कीर्तिः ॠदुपदेश इति-अयमर्थः धातुपाठे कीर्त्तणिति पठ्यतां किमनेनेत्याह-*ॠकार श्रवणार्थ इति*-यतः ``ॠदृवर्णस्य'' (4-2-37) इत्यत्र वर्णग्रहणसामर्थ्यात् कीर्त्यादेशो बाध्यते। ननु कृतणित्यत्र ऋकारमपनीय ऋकार इति क्रियताम्, एवं च ऋवर्णस्येत्यत्रापि वर्णग्रहणं न कार्यं भवेत् ? सत्यं, कृत इति निर्देशे कृते तु कृतैत् कृतैप्वा गृह्यते इति संदेहः स्यात्।

इत्याचार्य० चतुर्थोऽध्यायः। *गृहीतचेदीशकर*-इति पाण्डवभीमपक्षे चेदीशो दुःशासनस्तद्धस्तो हि भीमेन कृत्तः, द्वितीयपक्षे तु चेदीशो डाहालीयः कर्णः स गृहीतकरो गृहीतराजदेयभागः, तस्माद्धि मालवेशे सुवर्णमंडविकां भीमदेव आनिनाय।

अथ पञ्चमोऽध्यायः प्रथमपादः

आ तुमोऽत्यादिः कृत् ॥ 5. 1. 1. ॥

धातोर्विधीयमानस्त्यादिवर्जितो वक्ष्यमाणः प्रत्ययस्तुममभिव्याप्य कृत्संज्ञो भवति । घनघात्यः, उदकेविशीर्णम्, गोदायो व्रजति । अत्यादिरिति किम् ? प्रणिंस्ते । कृत्प्रदेशाः– ``तिक्-कृतौ नाम्नि'' (5-1-71) इत्येवमादयः ॥1॥

न्या०स०–अर्हं आ तुमोऽत्यादिः कृत्-घनघात्य इति-अत्र कृत्संज्ञायां ``कारकं कृता'' (3-1-68) इति समासः । *उदकेविशीर्णमिति*-अत्र ``क्तेन'' (3-1-92) इति समासः, ``तत्पुरुषे कृति'' (3-2-20) इत्यलुप् । गोदाय इत्यत्र तु ``ङस्युक्तं कृता'' (3-1-49) इति सः ।

बहुलम् ॥ 5. 1. 2. ॥

अधिकारोऽयम् । कृत्प्रत्ययो यथा निर्दिष्टादर्थादेरन्यत्रापि बहुलं भवति । पादाभ्यां ह्रियते-पादहारकः, गले चोप्यत इति-गलेचोपकः, मुह्यत्यनेनाऽऽत्मेति-मोहनीयं कर्म, स्नाति तेनेति-स्नानीयं चूर्णम्, एवंयानीयोऽश्वः । दीयते तस्मै इति-दानीयोऽतिथिः, संप्रदीयतेऽस्मा इति-संप्रदानम्, एवं स्पृहणीया विभूतिः । समावर्तते तस्मादिति-समावर्तनीयो गुरुः, एवमुद्वेजनीयः खलः । तिष्ठन्त्यस्मिन्निति-स्थानीयं नगरम्, एवं-शयनीयः पल्यङ्कः ॥2॥

न्या०स०–बहुलम्-अर्थादेरिति-आदिपदादुपपदधातू गृह्यते । *स्पृहणीया विभूतिरिति*-स्पृह्यतेऽस्यै स्पृहणीया विभूतिः कर्मतापन्ना स्पृह्यत इत्यर्थः, व्याप्यस्य ``स्पृहेर्व्याप्यं'' (2-2-26) इति वा संप्रदान संज्ञा ।

कर्तरि ॥ 5. 1. 3. ॥

कृत्प्रत्ययोऽर्थविशेषनिर्देशमन्तरेण कर्तरि भवति । कारकः, कर्ता, पचः, नन्दनः ।3।

व्याप्ये घुर-केलिम-कृष्टपच्यम् ॥ 5. 1. 4. ॥

`घुर केलिम' इत्येतौ प्रत्ययौ कृष्टपच्यशब्दश्च व्याप्ये कर्तरि भवतीति वेदितव्यम् । घुरो

वक्ष्यते । केलिमोऽत एव वचनात् ज्ञायते, कृष्टपच्ये यश्च । भज्यते स्वयमेव--भङ्गुरं काष्ठम्, एवं-भिदुरः कुशूलः, छिदुरा रज्जुः । भास-मिदि-विदां कर्तर्येव घुरः कर्मकर्तुरसंभवात्, भासते इत्येवंशीलो-भासुरः, एवंमेदुरः, विदुरः । केचिच्छिदि-भिदोरपि कर्तरि घुरमिच्छन्ति-``दोषान्धकारभिदुरो'' दृप्तारिवक्षश्छिदुरः इति । पच्यन्ते स्वमेव-पचेलिमा माषाः, एवं-भिदेलिमास्तण्डुलाः । कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव-कृष्टपच्याः शालयः ।।4।।

न्या०स०—व्याप्ये घुर०-केलिमोऽत एव वचनादिति-``विहाविसापचिभिद्यादेः केलिमः'' 354 (उणादि) इति औणादिको नियतधातुविषयोऽयं तु सर्वविषय इत्याह ।

संगतेऽजर्यम् ।। 5. 1. 5. ।।

संगमनं संगतम्, तस्मिन् कर्तर्यभिधेये नञ्पूर्वाज्जीर्यतेर्यप्रत्ययो निपात्यते । न जीर्य-तीति-अजर्यमार्यसंगतम्, ``मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टम्'' (रघु० स० 18, श्लो०-7) । सामान्यविशेषभावेन चोभयोरपि प्रयोगो भवति—``तेन संगतमार्येण रामाजर्यं कुरु द्रुतम्'' ``अजर्यं संगतं नोऽस्तु'' । संगत इति किम् ? अजरः पटः, अजरिता कम्बलः । कर्तरीत्येव-अजार्यं संगतेन ।।5।।

*न्या०स०—संगतेऽज०-*क्रैयादिकस्य जॄशो निपातनं न दृष्टमित्याह जीर्यतीति ।

रुच्या-ऽव्यथ्य-वास्तव्यम् ।। 5. 1. 6. ।।

एते कर्तरि निपात्यन्ते । रोचतेर्नञ्पूर्वात् व्यथतेश्च क्यप् प्रत्ययो, वसतेस्तु तव्यण् निपात्यते । रोचते इति-रुच्यो मोदको मैत्राय । न व्यथते इत्यव्यथ्यो मुनिः । वसतीति-वास्तव्यः ।।6।।

भव्य-गेय-जन्य-रम्या-ऽऽपात्या-ऽऽप्लाव्यं नवा ।।5. 1. 7. ।।

एते कर्तरि वा निपात्यन्ते । भावकर्मणोः प्राप्तयोः पक्षे कर्तरि विधानार्थमिदम् । भूगायति-रमयतिभ्यो यो यः प्रत्ययो यश्च जनेराङ्पूर्वाभ्यां च पति-प्लुभ्यां ध्यण् स कर्तरि वा निपात्यते । भवत्यसाविति-भव्यः, पक्षे भव्यमनेन । गायतीति-गेयो माणवकः साम्नाम्, गेयानि माणवकेन सामानि । जायतेऽसाविति जन्यः, जन्यमनेन । रमयत्यसौ-रम्यः, रम्यते-रम्यः । आपतत्यसौ-आपात्यः, आपात्यमनेन । आप्लवतेऽसौ आप्लाव्यः, आप्लाव्यमनेन ।।7।।

प्रवचनीयादयः ॥ 5. 1. 8. ॥

प्रवचनीयादयः कर्तर्यनीयप्रत्ययान्ता वा निपात्यन्ते । प्रवक्ति प्रब्रूते वा-प्रवचनीयो गुरुः शासनस्य, प्रवचनीयं गुरुणा शासनम् । उपतिष्ठत इति-उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः, उपस्थानीयः, शिष्येण गुरुः । एवं रमयतीति रमणीयो देशः । मदयीतीति-मदनीया योषित् । दीपयतीति-दीपनीयं चूर्णम् । मोहयतीति-मोहनीयं कर्म । ज्ञानमावृणोतीतिज्ञानावरणीयम् । एवं दर्शनावरणीयम् ॥8॥

श्लिष-शीङ्-स्था-ऽऽस-वस-जन-रुह-जॄ-भजेः क्तः॥ 5. 1. 9. ॥

एभ्यः क्तप्रत्ययो यो विहितः स कर्तरि वा भवति । श्लिष्-आश्लिष्टः कान्तां कामुकः, आश्लिष्टा कान्ता कामुकेन, आश्लिष्टं कामुकेन । शीङ्अतिशयितो गुरुं शिष्यः, अतिशयितो गुरुः शिष्येण, अतिशयितं शिष्येण । स्था-उपस्थितो गुरुं शिष्यः, उपस्थितो गुरुः शिष्येण, उपस्थितं शिष्येण । आस्-उपासितो गुरुं शिष्यः, उपासितो गुरुः शिष्येण, उपासितं शिष्येण । वस्-अनूषितो गुरुं भवान्, अनूषितो गुरुर्भवता, अनूषितं भवता । जन् अनुजातो माणवको माणविकाम्, अनुजाता माणविका माणवकेन, अनुजातं माणवकेन; विजाता वत्सं गौः, विजातो वत्सो गवा, विजातं गवा । रुह्-आरूढो वृक्षं भवान्, आरूढो वृक्षो भवता, आरूढं भवता । जॄ-अनुजीर्णो वृषलीं चैत्रः, अनुप्राप्य जीर्ण इत्यर्थः, अनुजीर्णा वृषली चैत्रेण, अनुजीर्णं चैत्रेण । भज्-विभक्ता भ्रातरो रिक्थम्, विभक्तं भ्रातृभी रिक्थम्, विभक्तं भ्रातृभिः ।

अकर्मका अपि हि धातव उपसर्गसम्बन्धात् सकर्मका भवन्तीति शीङादिग्रहणम्, अन्यथाऽकर्मकत्वादुत्तरेणैव सिद्धम् । श्लिष-भजी केवलावपि सकर्मकौ ॥9॥

न्या०स०—श्लिषशीङ्-अनुपूर्वो जॄ प्राप्त्युपसर्जने जरणे वर्त्तते, जनिस्तु जननोप- सर्जनायां प्राप्ताविति भेदः ।

आरम्भे ॥ 5. 1. 10. ॥

आरम्भे-आदिकर्मणि भूतादित्वेन विवक्षिते वर्त्तमानाद् धातोर्यः क्तो विहितः स कर्तरि वा स्यात् ।

प्रकृतः कटं भवान्, प्रकृतः कटो भवता, प्रकृतं भवता । प्रभुक्त ओदनं चैत्रः, प्रभुक्त ओदनश्चैत्रेण, प्रभुक्तं चैत्रेण ॥10॥

न्या०स०—आरम्भे-भूतादित्वेन विवक्षते इति—आदिशब्दाद् वर्त्तमानत्वभविष्यत्त्वयोरपि: परिग्रह:, यथा ज्ञातुमारभते प्रज्ञात:, कषितुं प्रारप्स्यते प्रकष्ट: ।

गत्यर्था-ऽकर्मक-पिब-भुजे: ॥ 5. 1. 11. ॥

भूतादौ य: क्तो विहित: स गत्यर्थेभ्योऽकर्मकेभ्यश्च धातुभ्य: पिब-भुजिभ्यां च कर्तरि वा भवति ।

गत्यर्थ-गतो मैत्रो ग्रामम्, गतो मैत्रेण ग्राम, गतं मैत्रेण; यातास्ते ग्रामम्, यातस्तैर्ग्राम:, यातं तै: । अकर्मक-आसितो भवान्, शयितो भवान्, आसितं भवता, शयितं भवता । सकर्मका अप्यविवक्षितकर्माणोऽकर्मका:, तेन पठितो भवान्, एवं-प्रख्यात, विदित: । अविवक्षितकर्मभ्यो नेच्छन्त्येके, तन्मते-कृतो देवदत्त: हृतो देवदत्त:' इत्यादि कर्तरि न भवति । काल-भावा-ऽध्वभिश्च कर्मभि: सकर्मका अप्यकर्मका उक्ता:, तेन त्रैरूप्यं भवति-सुप्तो भवान् मासम्, सुप्तो भवता मास:, सुप्तं भवता मासम्; एवम्—'ओदनपाकं सुप्तो भवान्' इत्यादि । पिब-पय: पीता गाव:, इदं गोभि: पीतम्, इह गोभि: पीतम् । भुजि-अन्नं भुक्तास्ते, इदं तैर्भुक्तम्, इह तैर्भुक्तम् ॥11॥

न्या०स०—गत्यर्थाक०-कालभावाऽध्वभिश्चेति-उपलक्षणत्वाद्देश इत्यपि ज्ञेयं, तेन सुप्तो भवान् कुरूनित्यादि द्रष्टव्यम् । *तेन त्रैरूप्यं भवतीति*-``कालाध्व'' (2-2-42) इत्यादिना युगपत्सकर्मकत्वमकर्मकत्त्वं चोक्तं, तेनाकर्मकत्वात् कर्त्तरि भावे च सकर्मकात् कर्मणि प्रयोग इति त्रैरूप्यम् । *सुप्तो भवान्मासमिति*-अत्र यावता कर्मसंज्ञा तावता कर्मणि द्वितीया, यावता त्वऽकर्मसंज्ञा तावता कर्त्तरि क्त: ।

अद्यर्थाच्चाधारे ॥ 5. 1. 12. ॥

अद्यर्थात्-आहारार्थात् धातोर्गत्यर्थाऽकर्मक-पिब भुजेश्च य: क्त: स आधारे वा भवति । इदमेषां जग्धम्, इदं तैर्जग्धम्, इह तैर्जग्धम् । इदमेषामभ्यवहृतम्, इदं तैरभ्यवहृतम्, इह तैरभ्यवहृतम् । इदं तेषामशितम्, इदं तैरशितम् इह तैरशितम् । आरम्भे तु कर्तर्यपि भवति—इह ते अन्नं प्राशिता:, इह ते मधु प्रलीढा: । गत्यर्थादिभ्य: खल्वपि—इदं तेषां यातम्, इदमहे: सृप्तम्, इदमेषामासितम्, इदमेषां शयितम्; इदं गवां पीतम्; इदं तेषां भुक्तम् । पक्षे कर्तृकर्म-भावेषु पूर्वाण्येवोदाहरणानि ॥12॥

न्या०स०—अद्यर्थाच्चा०-नन्विदं तैर्जग्धमित्यादौ आधाराऽभावात्कर्मणि स्वयमेव क्तो भविष्यति किं विकल्पेनेति ? न, तक्रकौण्डियन्यायेनाधार एव एभ्यः क्तः स्यात् यथा ``गत्यर्थात् कुटिले'' (3-4-11) इत्यत्र यङ् ।

पूर्वाण्येवोदाहरणानीति-`गत्यर्थाऽकर्मक' 5-2-11 इति सूत्रे दर्शितानि ।

क्त्वा-तुमम् भावे ॥ 5. 1. 13. ॥

वेति निवृत्तम्, `क्त्वा तुम् अम्' इत्येते प्रत्यया भावे धात्वर्थमात्रे वेदितव्याः । कृत्वा व्रजति, कर्तुं व्रजति, कारं कारं व्रजति, चौरंकारमाक्रोशति, अतिथिवेदं भोजयति ॥13॥

न्या०स०—क्त्वातुम०—वेति निवृत्तमिति-कारकनिवृत्तेः ।

भीमादयोऽपादाने ॥ 5. 1. 14. ॥

भीमादयः शब्दा अपादाने साधवो भवन्ति । बिभ्यत्यस्मादिति—भीमः । एवं—भीष्मः, भयानकः, वरुः, समुद्रः, स्रुवः, स्रुक्, रक्षः, संकसुकः, खलतिः । उणादिप्रत्ययान्ता एते ``संप्रदानाच्चान्यत्रोणादयः'' (5-1-15) इति निषेधेनाप्राप्ता निपात्यन्ते ॥14॥

संप्रदानाच्चान्यत्रोणादयः ॥ 5. 1. 15. ॥

संप्रदानादपादानाच्चान्यत्र कारके भावे चोणादयः प्रत्यया भवन्ति । कृत्त्वात् कर्तर्येव प्राप्ताः कर्मादिष्वपि कथ्यन्ते । करोतीति—कारुः, वातीति - वायुः, कषितोऽसाविवि कर्मणि-कषिः, तन्यतेऽसाविति तनुः, ऋचन्ति तयेति-ऋक्, वृत्तं तत्रेति-वर्त्म, चरितं तत्रेति-चर्म ॥15॥

असरूपोऽपवादे वोत्सर्गः प्राक् क्तेः ॥ 5. 1. 16. ॥

इतः सूत्रादारभ्य ``स्त्रियां क्तिः'' (5-3-91) इत्यतः प्राक् योऽपवादस्तद्विषयेऽपवादेनासमानरूप उत्सर्ग औत्सर्गिकः प्रत्ययो वा भवति । अवश्यलाव्यम्, अवश्यलवितव्यम्, अवश्यलवनीयम् । ज्ञः, ज्ञाता, ज्ञायकः । नन्दनः, नन्दकः, नन्दयिता ।

असरूप इति किम् ? ध्यणि यो न स्यात्-कार्यम्, डविषयेऽण् न स्यात्-गोदः । `अनुबन्धोऽप्रयोगी' इति सारूप्यमेव । प्राक् क्तेरिति किम् ? कृतिः, चितिः, रक्षितम्, रक्षणम् । घञादिर्न भवतिः चिकीर्षा, जिहीर्षा, क्तिर्न भवति, ईषत्पानः, सुपानः, दुष्पानः, खल् न भवति । अपवादत्यादिविषये तु असरूपोऽप्युत्सर्गत्यादिनं प्रवर्तते इति ``श्रु-सद०'' (5-2-1)

इत्यादिसूत्रे वाग्रहणेन ज्ञापयिष्यते ।।16।।

न्या०स०–असरूपोप०-अपोद्यते हेठ्यते उत्सर्गोऽनेनेति व्यञ्जनाद् घञ् । *उत्सर्ग इति*-उत्क्रम्याऽपवादं सृज्यते विधीयत इति घञ् । नन्वत्र वा ग्रहणं किमर्थं यतोऽपवादो विशेषविधानादुत्सर्गस्तु पक्षे अस्माद् वचनाद् भविष्यति ? सत्यं, –वा ग्रहणाऽभावे सर्वोऽप्युत्सर्गोऽपवादे एव प्रवर्त्तते ततः कर्त्तेत्यादौ अपवादविषयाभावात् तृजादिर्न स्यात् । ज्ञातेत्यादौ त्वपवादस्य कस्य दर्शनात् स्यात् ? *औत्सर्गिक इति*-उत्सर्जनमिति यदा भावे घञ् तदा प्रयोजनार्थे इकण्, यदा तु कर्म्मणि घञ् तदा विनयादिभ्यः स्वार्थिक इकण् । *अपवादत्यादिविषये त्विति*-अत्र सूत्रे कृद्विशेषाऽनभिधानात्त्यादिरपि प्राप्नोति । *वाग्रहणेनेति*-यद्येनापवादत्यादिविषयेऽसरूप उत्सर्गस्त्यादिः स्यात् तदा किं तत्र वाकरणेनेत्यर्थः ?

ऋवर्ण-व्यञ्जनाद् घ्यण् ।। 5. 1. 17. ।।

ऋवर्णान्ताद् व्यञ्जनान्ताच्च धातोर्घ्यण् प्रत्ययो भवति । कार्यम्, हार्यम्; पाक्यम्, वाक्यम् । णकारो वृद्ध्यर्थः । घकारः ``क्तेऽनिटः०'' (4-1-111) इत्यत्र विशेषणार्थः ।।17।।

पाणि-समवाभ्यां सृजः ।। 5. 1. 18. ।।

पाणिपूर्वात् समवपूर्वाच्च सृजेर्घ्यण प्रत्ययो भवति । ऋदुपान्त्यक्यपोऽपवादः । पाणिभ्यां सृज्यते-पाणिसर्ग्या रज्जुः, समवसृज्यते इति-समवसर्ग्यः । पाणि-समवाभ्यामिति किम् ? सृज्यम्, संसृज्यम् । 'समव' इति समुदायपरिग्रहार्थं द्विवचनम् ।।18।।

न्या०स०–पाणिसम०-क्यपोपवाद इति-पूर्वेण सिद्धे किमर्थमऽस्यारम्भ इत्याशङ्का ।

उवर्णादावश्यके ।। 5. 1. 19. ।।

अवश्यस्य भावोऽवश्यं भाव इति वा अकञि–आवश्यकम्, तस्मिन् द्योत्ये उवर्णान्ताद् धातोर्घ्यण् भवति । लाव्यम्, पाव्यम्, यन्नियोगात् कर्तव्यमर्थप्रकरणादिना निश्चितं तत्रायं प्रत्ययः । लाव्यमवश्यम्, पाव्यमवश्यम्, अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम्, अत्रावश्यंशब्देनापि अवश्यं भावो द्योत्यते, मयूरव्यंसकादित्वाच्च समासः । अवश्यस्तुत्य इति परत्वात् क्यप् । आवश्यक इति किम् ? लव्यम्, पव्यम् ।।19।।

न्या०स०–उवर्णादा०-अर्थप्रकरणादिनेति-अवश्यमादिशब्दमन्तरेणेत्यर्थ । *अवश्यभावो द्योत्यते इति*-यथा व्यतिलुनते इत्यादौ आत्मनेपदेनापि क्रियाव्यतिहारे द्योतिते व्यतिशब्द-प्रयोगः तथाऽत्रापि घ्यणा द्योतितेऽप्यऽवश्यंभावेऽवश्यंशब्दप्रयोगः ।

आसु-यु-वपि-रपि-लपि-त्रपि-डिपि-दभि-चम्यानमः ॥ 5. 1. 20. ॥

आङ्पूर्वाभ्यां सुनोति-नमिभ्यां यौत्यादिभ्यश्च धातुभ्यो घ्यण् भवति, यापवादः । याव्यम्, वाप्यम्, राप्यम्, लाप्यम्, अभिलाप्यम्, अपत्राप्यम्, डेप्यम् । दभिः सौत्रो बन्धने वर्तते, दाभ्यम्, अवदाभ्यम्, आचाम्यम्, आनाम्यम्, नमिरन्तर्भूतण्यर्थः सकर्मकः, अकर्मका अपि हि धातवोण्यर्थे वर्तमानाः सकर्मका भवन्ति, यथानेमि नमन्ति ।

डिपेः कुटादित्वाद् ये गुणो न लभ्यत इति घ्यण् विधीयते । आनमेर्नेच्छन्त्येके ॥20॥

न्या०स०–आसुयु०-दभिः सौत्र इति-दम्भेस्तु दम्भ्यमिति । *आचाम्यमिति*-केवलस्य ``मोऽकमि'' (4-3-55) इति वृद्धिप्रतिषेधे घ्यणि ये वा न विशेष इति सोपसर्गस्योदाहरणं, ननु डिपेः ``शकितकि'' (5-1-29) इति यप्रत्ययेऽपि डेप्यमिति भविष्यति किमत्र ग्रहणेन ? इत्याह-*डिपेः कुटादीत्यादि ।*

वाऽऽधारेऽमावस्या ॥ 5. 1. 21. ॥

अमापूर्वाद् वसतेराधारे घ्यण प्रत्ययो धातोः पक्षे ह्रस्वश्च निपात्यते । अमाशब्दः सहार्थः, सह वसतोऽस्यां सूर्या-चन्द्रमसाविति-अमावस्या अमावास्या वा रूढ्या तिथिविशेषः । पक्षे यमकृत्वा ह्रस्वनिपातनम् ``अश्वामावास्यायाः'' (6-3-103) इत्यत्रैके- दशविकृतस्यानन्यत्वा-दमावास्याशब्देन अमावस्याशब्दस्यापि ग्रहणार्थम् ॥21॥

न्या०स०–वाधारेऽमा–पक्षे यमकृत्वेति-वाधारेमावसो य इति क्रियतां घ्यण् तु वाग्रहणादाधारेऽपि भविष्यतीति भावः । *अमावस्याशब्दस्यापीति*-अन्यथा यघ्यणन्तयोरऽ-त्यन्तभेदात् यान्तस्य ग्रहणं न स्यात् ।

संचाय्य-कुण्डपाय्य-राजसूयं क्रतौ ॥ 5. 1. 22. ॥

एते क्रतावभिधेये घ्यणन्ता निपात्यन्ते, आधारे कर्मणि वा, निपातनादेवाया देश-दीर्घत्वे अपि भवतः ।

संचीयते सोमोऽस्मिन् संचीयते वाऽसाविति-संचाय्यः क्रतुः, संचेयोऽन्यः । कुण्डैः पीयते सोमोऽस्मिन् कुण्डैः पीयते इति वा कुण्डपाय्यः क्रतुः, ससोमको हि यागः क्रतुः, कुण्डपानोऽन्यः । राज्ञा सूयतेऽस्मिन् राजा वा सोतव्य इति राजसूयः क्रतुः ॥22॥

प्रणाय्यो निष्कामा ऽसम्मते ॥ 5. 1. 23. ॥

प्रपूर्वान्नयतेर्घ्यण् आयादेशश्च निपात्यते, निष्कामेऽसंमते वाऽभिधेये । प्रणाय्योऽन्ते-वासी विषयेष्वनभिलाष इत्यर्थः, प्रणाय्यश्चौरः, सर्वलोकासम्मत इत्यर्थः, प्रणेयोऽन्यः ।23।

धाय्या-पाय्य-सान्नाय्य निकाय्यमृङ्-मान-हवि-र्निवासे ॥ 5. 1. 24. ॥

धाय्यादयः शब्दा ऋगादिष्वर्थेषु यथासंख्यं घ्यणन्ता निपात्यन्ते निपातनादेव च सर्वत्रायादेशः ।

दधातेर्ऋचि-धीयते समिदग्नावनयेति-धाय्या ऋक्, रूढिशब्दत्वात् काश्चिदेव ऋच उच्यन्ते, अन्यत्र धेया । मीयते येन तन्मानम्, तत्र माङ आदिपत्वं च, मीयते तेनेतिपाय्यं मानम्, मेयमन्यत् । संपूर्वान्नयतेर्हविषि समो दीर्घत्वं च, सान्नायं हविः, अयमपि रूढिशब्दत्वाद्धविर्विशेषेऽवतिष्ठते, संनेयमन्यत् । निपूर्वाच्चिनोतेर्निवासे आदिकत्वं च । निकाय्यो निवासः निचेयमन्यत् ॥24॥

परिचाय्योपचाय्याऽऽनाय्य समूह्य-चित्यमग्नौ ॥ 5. 1. 25. ॥

एतेऽग्नौ निपात्यन्ते, पर्युपपूर्वाच्चिनोतेर्घ्यण् आयादेशश्च । परिचीयत इतिपरिचाय्योऽग्निः, एवमुपचाय्यः, परिचेयः, उपचेयोऽन्यः । आङ्पूर्वान्नयतेर्घ्यण् आयादेशश्च । गार्हपत्यादानीयते इत्यानाय्यो दक्षिणाग्नि, स ह्याहवनीयेन सह एकयोनिरेवोच्यते, आनेयोऽन्यः ।

केचिदग्निविशेषा-दन्यत्राप्यनित्यविशेष इच्छन्ति—आनाय्यो गोधुक्, अनित्य इत्यर्थः । संपूर्वाद् वहेर्घ्यण् ऊत्वं च वशब्दस्य समुह्यत इति समूह्यः, अन्यः संवाह्यः । अन्ये तु संपूर्वादूहेरग्नावेवेति नियमार्थं घ्यणं निपातयन्ति, अग्नेरन्यत्र समूहितव्य इत्येव । वहेस्तु तन्मतेऽग्नावपि संवाह्य इति भवति । चिनोतेः क्यप्, चित्योऽग्निः, चेयोऽन्यः ॥25॥

न्या०स०—परिचाय्यो०—एकयोनिरेवेति-आहवनीयोऽग्निर्दक्षिणाग्निश्च निर्वाणो

गार्हपत्यादेवानीयेते, अतो द्वावप्येकयोनी गार्हपत्याग्निस्त्वरणिनिर्मन्थनादेवोत्पाद्य इति न स आनाय्यः ।

याज्या दानर्चि ॥ 5. 1. 26. ॥

यजेः करणे घ्यण् निपात्यते, दानर्च्यभिधेयायाम् । इज्यतेऽनयेति याज्या, ``त्यज्-यज्-प्रवचः'' (4-4-118) इति गत्वाभावः ॥26॥

ताव्या-ऽनीयौ ॥ 5. 1. 27. ॥

धातोः परौ `तव्य अनीय' इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः । शयितव्यम्, शयनीयम्; वस्तव्यम्; वसनीयम्, कर्तव्यम्, करणीयं भवता, कर्तव्यः करणीयः कटः ॥27॥

य एच्चाऽऽतः ॥ 5. 1. 28. ॥

ऋवर्ण-व्यञ्जनान्तात् घ्यणो विहितत्वात् परिशिष्टात् स्वरान्ताद् धातोर्यः प्रत्ययो भवति, अन्त्याऽऽकारस्य चैकारो भवति । दित्स्यम्, धित्स्यम्, चेयम्, जेयम्, नेयम्, शेयम्, नव्यम्, हव्यम्, लव्यम्, भव्यम् । एच्चातः—देयम्, धेयम् ॥28॥

शकिं-तकि चति-यति-शसि-सहि-यजि भजि-पवर्गात् ॥ 5. 1. 29. ॥

शक्यादिभ्यः पवर्गान्तेभ्यश्च धातुभ्यो यः प्रत्ययो भवति, घ्यणोऽपवादः । शक्यम्, तक्यम्, चत्यम्, यत्यम्, शस्यम्, सह्यम्, यज्यम्, भज्यम् । पवर्ग-तप्यम्, लभ्यम्, गम्यम् । यजेः ``त्यज्-यज-प्रवचः'' (4-1-118) इति प्रतिषेधात् भजेश्च बाहुलकाद् घ्यणपि-याज्यम्, भाग्यम् । यजि-भजिभ्यां नेच्छन्त्येके ।

कथमसिना वध्योऽसिवध्यः, मुशलवध्यः ? ``न. जनबधः'' (4-3-54) इति वृद्धिप्रतिषेधे घ्यणा भविष्यति ॥29॥

न्या०स०—शकितकि त्यजयजप्रवच इति प्रतिषेधादिति-अन्यथा घ्यण्प्रत्ययाऽभावात् प्राप्तिरेव नास्ति ।

यम-मद-गदोऽनुपसर्गात् ॥ 5. 1. 30. ॥

उपसर्गरहितेभ्य एभ्यो यः प्रत्ययो भवति । यम्यम्, मद्यम्, गद्यम् ।

अनुपसर्गादिति किम् ? आयाम्यम्, प्रमाद्यम्, निगाद्यम् । पवर्गान्तत्वात् सिद्धे यमो नियमार्थं वचनम्—अनुपसर्गादेव यथा स्यात् । बहुलवचनान्माद्यत्यनेनेति-मद्यं करणेऽपि, नियम्यमिति च सोपसर्गादिति ।।30।।

न्या०स०—यममद०-अनुपसर्गादेवेति-अनुपसर्गाद्यम एवेति विपरीतनियमस्तु न ``न शकितकि'' (5-1-29) इत्यत्र पवर्गग्रहणात् ।

चरेराङस्त्वगुरौ ।। 5. 1. 31. ।।

अनुपसर्गाच्चरेराङ्पूर्वात् त्वगुरावर्थे यो भवति । चर्यं भवता, चर्यो देशः, आचर्यं भवता, आचर्यो देशः । आङस्त्विति किम् ? अभिचार्यम् । अगुराविति किम् ? आचार्यो गुरुः ।।31।।

वर्योपसर्या-ऽवद्य-पण्यमुपेयर्तुमती-गर्ह्य-विक्रेये ।। 5. 1. 32. ।।

वर्यादयः शब्दा उपेयादिष्वर्थेषु यथासंख्यं यान्ता निपात्यन्ते । वृणातेर्ये-वर्या, उपेया चेद् भवति । शतेन वर्या, सहस्रेण वर्या कन्या, संभक्तव्या मैत्रीमापादनीयेति यावत्; वृत्याऽन्या, वृणोतेः क्यप् स्त्रीलिङ्गनिर्देशादिह न भवति-वार्या ऋत्विजः । अन्यस्तु ``सुग्रीवो नाम वर्योऽसौ भवता चारुविक्रमः'' (भट्टिप्रयोगः) इति प्रयोगदर्शनात् पुंलिङ्गेऽपीच्छति, सामान्यनिर्देशात् तदपि संगृहीतम्, शतेन वर्यः, सहस्रेण वर्यः । उपपूर्वात् सर्तेर्येउपसर्या, ऋतुमती चेत् । उपसर्या गौः, गर्भग्रहणे प्राप्तकालेत्यर्थः, अन्यत्र उपसार्या शरदि मथुरा । नञ्पूर्वाद् वदेर्ये-अवद्यं, गर्ह्यंचेत् । अवद्यं पापम्, अवद्या हिंसा, गर्ह्येत्यर्थः, अनुद्यमन्यत् ।

कथमवाद्या ? वदेर्निरुपपदात् घ्यण्, पश्चान्नञ्समासः । पणेर्येपण्यं, विक्रेयं चेत् । पण्यः कम्बलः, पण्या गौः, विक्रेयेत्यर्थः, अन्यत्र पाण्यः साधुः ।।32।।

न्या०स०—वर्योप०-*शतेन वर्य इति*-यस्तु वरेण्यपर्यायः तस्य वरण् इत्यस्मात् णिजन्तात् सिद्धिः । अनुद्यमऽन्यदिति-यत्तु अनूद्यमिति तदऽनुवदनं अनुत्, अनूदि साधु ``तत्र साधौ'' (7-1-15) इति यः ।

स्वामि-वैश्येर्यः ॥ 5. 1. 33. ॥

अर्तेः स्वामिनि वैश्ये चाभिधेये यो निपात्यते । अर्थः स्वामी, अर्यो वैश्यः॥ स्वामि-वैश्य इति किम् ? आर्यः ॥33॥

न्या०स०—स्वामिवैश्येऽर्यः—निपातनस्येष्टविषयत्वात् संज्ञायामेव निपातनम् ।

वह्यं करणे ॥ 5. 1. 34. ॥

वहेः करणे यो निपात्यते । वहन्ति तेनेति—वह्यं शकटम्, वाह्यमन्यत् ॥34॥

नाम्नो वदः क्यप् च ॥ 5. 1. 35. ॥

अनुपसर्गादिति वर्तते, अनुपसर्गान्नाम्नः पराद् वदेः क्यप् यश्च प्रत्ययौ भवतः ।

ब्रह्मोद्यम्, ब्रह्मवद्यम्; सत्यवद्यम्, सत्योद्यम् । नाम्न इति किम् ? वाद्यम् । अनुपसर्गादित्येव ? प्रवाद्यम्, अनुवाद्यम् । ककारः कित्कार्यार्थः, पकार उत्तरत्र तागमार्थः ॥35॥

हत्याभूयं भावे ॥ 5. 1. 36. ॥

अनुपसर्गान्नाम्नः परौ 'हत्या भूय' इत्येतौ भावे क्यबन्तौ निपात्येते । हन्तेः स्त्री- भावे क्यप् तकारश्चान्तादेशः ॥

ब्रह्मणो वधः—ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, दरिद्रहत्या, श्वहत्या । भवतेर्नपुंसिके भावे क्यप् । ब्रह्मभूयं गतः, देवभूयं गतः, ब्रह्मत्वं देवत्वं गत इत्यर्थः । भाव इति किम् ? श्वघात्या वृषली । नाम्न इत्येव ? हतिः, घातः, भव्यम् ।

हन्तेर्भावे घ्यण् न भवत्यनभिधानात्, तथा च बहुलाधिकारः । अनुपसर्गादित्येव ? उपहतिः, प्रभव्यम् ॥36॥

न्या०स०—हत्याभूयं-हत्या च भूयं चेति वाक्यं कार्यं, भूयस्य नपुंसके निपातनज्ञापनार्थम् । *क्यबन्ताविति*-चानुकृष्टत्वात् यो नाऽनुवर्त्तते । *ब्रह्मणो वध इति*-संबन्धे षष्ठी अकर्मकस्य विवक्षणात् । *हतिरिति*–''सातिहेति'' (5-3-94) इति निपातनबाधनार्थं श्वादिभ्यः क्तिः । *तथा च बहुलाधिकार इति*-एतदर्थमेव बहुलाधिकारोऽनुवर्त्तते इत्यर्थः ।

अग्निचित्या ॥ 5. 1. 37. ॥

अग्नेः पराच्चिनोतेः स्त्रीभावे क्यप् निपात्यते । अग्नेश्चयनमग्निचित्या ॥37॥

खेय-मृषोद्ये ॥ 5. 1. 38. ॥

अनुपसर्गादिति नाम्न इति च निवृत्तम् । खेय मृषोद्य इत्येतौ क्यबन्तौ निपात्येते । खनेर्घ्यणोऽपवादः क्यप्, अन्त्यस्वरादेरेकारश्च ।

खन्यत इति-खेयम्, निखेयम्, उत्खेयम् । मृषापूर्वाद् वदतेः पक्षे ये प्राप्ते नित्यं क्यप् । मृषोद्यते-मृषोद्यम् । नात्र भाव एवेति योगविभागः ॥38॥

न्या०स०—खेयमृषो०-निवृत्तमिति-निपातनस्येष्टविषयत्वात् । *निखेयमिति*-द्योतकत्वात् न्यादिप्रयोगेऽपि भवति ।

कुप्य-भिद्योध्य-सिध्य-तिष्य-पुष्य-युग्या-ऽऽज्य-सूर्यं नाम्नि ॥ 5. 1. 39. ॥

एते क्यबन्ताः संज्ञायां निपात्यन्ते । गुपेः क्यप् आदिकत्वं च धनेऽर्थे । गोप्यते तदिति-कुप्यं धनम्, गोप्यमन्यत् । भिदेरुज्झेश्च नदेऽभिधेये क्यप् उज्झेर्धत्वं च । भिन्नत्ति कूलानि इति-भिद्यः, उज्झत्युदकम्-उद्ध्यः, अन्यत्र-भेत्ता, उज्झिता ।

सिधि-त्विषि-पुषिभ्यो नक्षत्रेऽभिधेये क्यप् त्विषेर्वलोपश्च । सिध्यन्ति त्वेषन्ति पुष्यन्ति अस्मिन् कार्याणीति सिध्यः, तिष्यः, पुष्यः, अन्यत्र सेधनः, त्वेषणः, पोषणः । युजेः क्यप् गत्वं च वाहनेऽभिधेये । युञ्जन्ति तदिति-युग्यं वाहनं गजाश्वादि, योग्यमन्यत् । आङ्पूर्वादञ्जेर्घृतेऽर्थे क्यप् । आञ्जन्त्यनेनेति-आज्यं घृतम्, आञ्जनमन्यत् । सर्तेः क्यप् ऋकारस्योर्, सुवतेर्वा क्यप् रान्तश्च देवतायाम् । सरति सुवति वा कमसु लोकानितिसूर्यो देवता । बहुलाधिकारान्निपातनसामर्थ्याद् वाऽनुक्तोऽपि निपातनेषु कारकविशेषो गम्यते ॥39॥

दृ-वृग्-स्तु-जुषेति-शासः ॥ 5. 1. 40. ॥

एभ्यः क्यप् भवति ।

दृ-आदृत्यः । वृग्-प्रावृत्यः । वृङस्तु वार्या-ऋत्विजः । स्तु-स्तुत्यः, अवश्यस्तुत्यः । जुष्-जुष्यः । एतीति इणिकोर्ग्रहणम् । इत्यः, अधीत्यः । अयतेरिङश्च न भवति उपेयम्,

अध्येयम् । इकोऽप्यध्येयमित्येके । ईयतेरप्युपेयमिति भवति । शास्-शिष्यः, आशासेस्तु ``आशास्यमन्यत् पुनरुक्तभूतम्'' (रघुवंशे) इति । कथम् ``अनिवार्यो गजैरन्यैः स्वभाव इव देहिनाम् ।'' इति, संभक्तेरन्यत्रापि वृङ् ।।40।।

न्या०स०–दृवृग्-इणिकोर्ग्रहणमिति-इङस्तु परस्मैपद्यादादिकसाहचर्यात् निरासः । आशास्यमन्यदिति-आङः क्वावेवेति नियमान्न शिषादेशः ।

ऋदुपान्त्यादकृपि-चृदृचः ।। 5. 1. 41. ।।

ऋकारोपान्त्याद् धातोः कृपि-चृति-ऋचिवर्जितात् क्यप् भवति ।

वृत्यम्, वृध्यम्, गृध्यम्, शृध्यम् । अकृपि-चृदृच इति किम् ? कल्प्यम्, चर्त्यम्, अर्च्यम् ।।41।।

कृ-वृषि-मृजि-शंसि-गुहि-दुहि-जपो वा ।। 5. 1. 42. ।।

एभ्य क्यप् वा भवति ।

कृत्यम्, कार्यम्, वृष्यम्, वर्ष्यम्, मृज्यम्, मार्ग्यम्, शस्यम्, शंस्यम्, गुह्यम्, गोह्यम्, दुह्यम्, दोह्यम् । जप्यम्, जाप्यम्, जपेरपि क्यबभावपक्षे घ्यण् विकल्पसामर्थ्यात् ।।42।।

न्या०स०–कृवृषि-क्यबऽभावपक्षे घ्यणिति–``शकितकि'' (5-1-29) इति य प्रत्यये तु विशेषाऽभावः ।

जि-विपू-न्यो हलि-मुञ्ज-कल्के ।। 5. 1. 43. ।।

जयतेविपूर्वाभ्यां च पू-नीभ्यां यथासंख्यं हलि-मुञ्ज-कल्केषु कर्मसु वाच्येषु क्यप् प्रत्ययो भवति ।

महद्धलं हलिः । मुञ्जस्तृणविशेषः । कल्कस्त्रिफलादीनाम् । जीयते निपुणेनेति जित्या जित्यो वा हलिः । पूङ् पूग् वा-विपवितव्यो विपूयो मुञ्जः । पूगो नेच्छन्त्येके । विनेतव्यस्तैलादिना मध्ये इति-विनीयः कल्कः । हलि-मुञ्ज-कल्क इति किम् ? जेयम्, विपव्यम्, विनेयम् ।।43।।

न्या०स०–जिबिपून्यो०–तैलादिना मध्ये इति-तैलादिना कर्त्रात्मनो मध्ये विनेतव्यः, कोऽर्थः ? प्रापयितव्यः, यद्वा मध्ये वर्त्तमानेन तैलादिना उत्कर्ष विनेतव्यः ।

पदा-ऽस्वैरि-बाह्या-पक्ष्ये ग्रहः ॥ 5. 1. 44. ॥

विभक्त्यन्तं पदम्, अस्वैरी परतन्त्रः, बाह्या बहिर्भवा, पक्ष्यो वर्ग्यः, एष्वर्थेषु ग्रहः क्यप् भवति, घ्यणोऽपवादः ।

प्रगृह्यते-विशेषेण ज्ञायते प्रगृह्यं पदम्, यत् स्वरेण न संधीयते-अग्नी इति । अवगृह्यते-नानावयवसात् क्रियते अवगृह्यं पदम् । अस्वैरिणि-गृह्याः कामिनः, रागादिपरतन्त्रा इत्यर्थः । बाह्यायां-ग्रामगृह्या श्रेणिः, नगरगृह्या सेना, बाह्येत्यर्थः, स्त्रीलिङ्गनिर्देशो लिङ्गान्तरेऽनभिधानख्यापनार्थः । पक्ष्येत्वद्गृह्यः, मद्गृह्यः, ``गुणगृह्या वचने विपश्चितः'' (किराते), तत्पक्षाश्रिता इत्यर्थः । एष्विति किम् ? ग्राह्यं वचः ॥44॥

न्या०स०—पदास्वैरि०-प्रगृह्यं पदमिति-परैः स्वरेणाऽसंधीयमानस्य पदस्य प्रगृह्यमिति संज्ञा विहिता । *नानावयवसात्क्रियते इति*-यथा पचतीत्यत्र पच् शव् तिव् इत्यऽवयवाः ।

भृगोऽसंज्ञायाम् ॥ 5. 1. 45. ॥

भृगो धातोरसंज्ञायां क्यप् भवति ।

भ्रियते-भृत्यः, पोष्य इत्यर्थः । असंज्ञायामिति किम् ? भार्यो नाम क्षत्रियः, भार्या पत्नी । ननु च संज्ञायामपि स्त्रियां ``भृगो नाम्नि'' (5-3-98) इति क्यबस्ति, यथाकुमारभृत्या ? न-तस्य भाव एव विधानात् ॥45॥

न्या०स०—भृगोसं०-कुमारपोषणप्रतिपादकं शास्त्रमप्युपचारात् *कुमारभृत्या* ।

समो वा ॥ 5. 1. 46. ॥

संपूर्वाद् भृगः क्यप् वा भवति । संभृत्यः, संभार्यः ॥46॥

ते कृत्याः ॥ 5. 1. 47. ॥

ते—`घ्यण् तव्य अनीय य क्यप्' इत्येते प्रत्ययाः कृत्यसंज्ञा भवन्ति । कृत्यप्रदेशाः- ``तत् साप्याऽनाप्यात् कर्म-भावे कृत्य-क्त-खलर्थाश्च'' (3-3-21) इत्यादयः ॥47॥

णक-तृचौ ॥ 5. 1. 48. ॥

धातोः परौ णक-तृचौ प्रत्ययौ भवतः, कृत्वात् कर्तरि ।

पाचकः, पक्ता; पाठकः पठिता । णकारो वृद्ध्यर्थः, चकारः ``अन्त्यस्वरादेः'' (7. 4. 43.) इत्यत्र सामान्यग्रहणाविघातार्थः ॥48॥

न्या०स०—णकतृ-सामान्यग्रहणाविघातार्थ इति-अन्यथा ❊ निरनुबन्धा० ❊ इति न्यायात् तृच् एव ग्रहः स्यात् न तु तृनः ।

अच् ॥ 5. 1. 49. ॥

धातोरच् प्रत्ययो भवति, कृत्वात् कर्तरि । करः, हरः, पचः, पठः उद्वहः । चकारः ``अचि'' (3-4-15) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥49॥

लिहादिभ्यः ॥ 5. 1. 50. ॥

लिहादिभ्यो धातुभ्योऽच् प्रत्ययो भवति, पृथग्योगो बाधकबाधनार्थः ।

लेहः, शेषः, सेवः, देवः, मेथः, मेषः, मेघः, देहः, प्ररोहः, न्यग्रोधः, कोपः, गोपः, सर्पः, नर्तः, दर्शः, एषु नाम्युपान्त्यलक्षणं कं दृशेस्तु वा शं बाधते । `अनिमिष' इति बहुलाधिकारात् कोऽपि भवति । श्वपचः, पारापतः, कद्वदः, यद्वदः, अरीन् व्रणयतीत्यरिव्रणा शक्तिः, जारभरा, कन्यावरः, रघूद्वहः, रसावहः, एष्वणं बाधते । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । नदी, भषी, प्लवी, गरी, चरी, तरी, दरी, स्तरी, सुदी, देवी, सेवी, चोरी, गोही' एतेऽजन्ता गौरादौ द्रष्टव्याः ॥50॥

न्या०स०—लिहादिभ्यः पृथग्योग इति-पूर्वेण सिद्धेऽस्यारम्भादित्यर्थः । *वा शं बाधते इति*-यदि हि नित्यं लिहाद्यऽच् स्यात्तदा दृशः शविधानमऽनर्थकं स्यादिति । *कद्वद इति*-कुत्सितं वदति ``रथवदे'' (3-2-131) कदादेशः ।

आकृतिग्रहणार्थमिति-तेन वशा, अमर, क्षम, रण, श्लेष, अजगर इत्यादयोऽर्शिता अपि ज्ञेयाः । *गौरादौ द्रष्टव्या इति*-अन्यैर्नदीइत्यादीनां ङ्यर्थं टित्त्वं कृतं तत् स्वमते कथम् ? इत्याह-नदीत्यादीनां सामान्योऽनेन वाऽच् भवतु, भरतस्तु गौरादौ ।

ब्रुवः ॥ 5. 1. 51. ॥

ब्रुवो धातोरचि ब्रुव इति निपात्यते । ब्राह्मणमात्मानं ब्रूते-ब्राह्मणब्रुवः । अण्वचादेश-

गुणबाधनार्थं निपातनम् ।।51।।

नन्द्यादिभ्योऽनः ।। 5. 1. 52. ।।

नन्द्यादिभ्यो धातुभ्यो नामगणे दृष्टेभ्योऽनः प्रत्ययो भवति । नन्द्यादयो नन्दन-रमणेत्यादिनामगणशब्देभ्योऽपोद्धृत्य वेदितव्याः, स च सप्रत्ययपाठो विशिष्टविषयार्थो रूपनिग्रहार्थश्च ।

नन्दि-वाशि-मदि-दूषि-साधि-बर्धि-शोभि-रोचिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायाम्—नन्दनः, वाशनः, मदनः, दूषणः, साधनः, वर्धनः, शोभनः, रोचनः । सहि-रमि-दमि-रुचि-कृति-तपि-तृदि-दहि-यु-पू-लूभ्यः संज्ञायामेवाण्यन्तेभ्यः- सहते-सहनः, एवं-रमणः, दमनः, रोचनः विरोचनः, विकर्तनः, तपनः, प्रतर्दनः, दहनः, यवनः, पवनः, लवणः, निपातनाण्णत्वम् । समः क्रन्दि-कृषि-हृषिभ्यः संज्ञायामेव-संक्रन्दनः, संकर्षणः संहर्षणः । कर्मणो दमि-दि-नाशि-सूदिभ्यः सर्वदमनः, जनार्दनः, वित्तविनाशनः मधुसूदनः, असंज्ञायामपि-रिपुदमनः, कुलदमनः, परार्दनः, रोगनाशनः, अरिसूदनः । नर्दि-भीषि-भूषि-दृपि जल्पिभ्यः-नर्दयति नर्दनः, विभीषयते-विभीषणः। भूषयति-भूषणः, दृप्यति-दर्पणः, जल्पति-जल्पनः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।52।।

न्या०स०—नन्द्यादिभ्यो—सप्रत्ययपाठ इति-अथ प्रकृतय एव पठ्यन्तां किं सप्र-त्ययपाठेनेत्याह-*विशिष्टविषयार्थ इति*-तेन ये निरुपसर्गयदुपपदोपसर्गाः पठ्यन्ते ते तथा गृह्यन्ते इत्यर्थः ।

ग्रहादिभ्यो णिन् ।। 5. 1. 53. ।।

ग्रहादिभ्यो नामगणदृष्टेभ्यो णिन् प्रत्ययो भवति ।

ग्राही, स्थायी, उपस्थायी, मन्त्री, संमर्दी । उपा—ऽवाभ्यां रुधः-उपरोधी, अवरोधी । अपाद् राधः-अपराधी । उदः सहि-दसि-भासिभ्यः-उत्साही उद्दासी, उद्भासी । नेः श्रु-शो-विश-वस-वप-रक्षिभ्यः-निशृणोति-निश्रावी, निशायी, निवेशी, निवासी, निवापी, निरक्षी । नञो व्याहृ-संव्याहृ-संव्यवहृ-याचि-व्रज-वद-वासिभ्यः- न व्याहरति-अव्याहारी, असंव्यावहारी, अयाची, अव्राजी, अवादी, अवासी । नञ्पूर्वात् स्वरान्तादचित्तवत्कर्तृकात् अकारी धर्मस्य बालातपः, अहारी शीतस्य शिशिरः, चित्तवत्कर्तृकान्न भवति-अकर्ता कटस्य चैत्रः । केचिदनञ्पूर्वादिच्छन्ति-कारी, हारी । व्यभिभ्यां भुवोऽतीते विभवति स्म-विभावी, अभिभावी । वि-परिभ्यां भुवो ह्रस्वश्च वा-विभवति-विभावी, विभवी; परिभावी, परिभवी । वेः शीङ्-षिगोर्देशे

ह्रस्वश्च-गुणैश्चित्ते विशेते विसिनोति वा-विशयीविषयी च प्रदेशः, निपातनात् षत्वम् । ग्रहादिराकृतिगणः ॥53॥

नाम्युपान्त्य-प्री-कृ-गृ-ज्ञः ॥ 5. 1. 54. ॥

नाम्युपान्तेभ्यो धातुभ्यः 'प्री कृ गृ ज्ञा' इत्येतेभ्यश्च कः प्रत्ययो भवति, ककारः कित्कार्यार्थः ।

विक्षिपः, विलिखः, बुध, युधः, कृशः, वितृदः । प्रीणातीति-प्रियः, किरतीति-किरः, उत्किरः, गिलतीति-गिलः, निगिलः, जानातीति-ज्ञः । काष्ठभेद इति परत्वादण् ॥54॥

न्या०स०—नाम्युपान्त्य०- युध इति- युध्यतेः योधवाचकस्तु णिगि योधयतीति अचि । गिलः, निगिल इति-``नवा स्वरे'' (2-3-102) इत्यत्र व्यवस्थितविभाषाश्रयणान्नित्यं लत्वम् ।

गेहे ग्रहः ॥ 5. 1. 55. ॥

गेहेऽभिधेये ग्रहेः को भवति । गृहम्, गृहाणि; गृहाः । पुंसि बहुवचनान्त एव । उपचाराद् द्वारा गृहाः ॥55॥

*न्या०स०—ग्रेहे ग्र-बहुवचनान्त एवेति-*दुर्गस्त्वेकवचनान्तमेवाह ।

उपसर्गादातो डोऽश्यः ॥ 5. 1. 56. ॥

उपसर्गात् परात् श्यैङ्वर्जितादाकारन्तात् धातोर्डः प्रत्ययो भवति ।

आह्वयतीति-आह्वः, प्रह्वः, संव्यः, परिव्यः, प्रज्यः, अनुज्यः, प्रस्थः, सुग्लः, सुम्लः, सुत्रः, व्यालः, सुरः । केनैव सिद्धे डविधानं ख्वृन्निषेधार्थम् । उपसर्गादिति किम् ? णे-दायः, धायः । आत इति किम् ? आहर्ता । अश्य इति किम् ? णे-अवश्यायः, प्रतिश्यायः । ❈ पूर्वेऽपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❈ इति णो बाध्यते नाण्, तेन 'गोसंदाय वडवासंदाय' इत्यणेव ॥56॥

व्याघ्रा-ऽऽघ्रे प्राणि-नसोः ॥ 5. 1. 57. ॥

'व्याघ्र आघ्रा' इत्येतौ शब्दौ जिघ्रतेर्यथासंख्यं प्राणिनि नासिकायां चार्थे डप्रत्ययान्तौ निपात्येते ।

विविधम् आजिघ्रति-व्याघ्रः प्राणी, आजिघ्रति-आघ्रा नासिका । शस्यापवादः ।57।

न्या०स०—व्याघ्राघ्रे-व्याघ्र इति-अनेकार्थत्वाच्छिङ्घनपूर्वके हिंसने वर्त्तते । यत्क्षीरः विविधमाजिघ्रन् हिनस्तीति ।

घ्रा-ध्मा-पा-ट्धे-दृशः शः ॥ 5. 1. 58. ॥

एभ्यः शः प्रत्ययो भवति ।

घ्रा-जिघ्रतीति-जिघ्रः, विजिघ्रः, उज्जिघ्रः । ध्मा-धमः, विधमः, उद्धमः । घ्रादिसाहचर्यात् 'पा' इति पिबतेर्ग्रहणं न पातेः— पिबः, निपिबः, उत्पिबः, पायतेस्तु लाक्षणिकत्वान्न भवति । ट्धे-धयः विधयः, उद्धयः । दृशं - पश्यः, विपश्यः, उत्पश्यः । ट्धेष्टकारो ङ्यर्थः- उद्धयी, विधयी । उपसर्गादेवेच्छन्त्यन्ये । शकारः शित्कार्यार्थः ।।58।।

साहि-साति-वेद्यु देजि-धारि-पारि-चेतेरनुपसर्गात् ॥ 5. 1. 59. ॥

एतेभ्य उपसर्गरहितेभ्यो ण्यन्तेभ्यः शः प्रत्ययो भवति ।

साहि-साहयतीति-साहयः । सातिः सौत्रो धातुः— सातयः वेदि वेदयः, उदेजि-उदेजयः, धारि-धारय, पारि पारयः, चेति-चेतयः । अनुपसर्गादिति किम् ? प्रसाहयिता । छत्रधार इति परत्वादणेव ।।59।।

लिम्प-विन्दः ॥ 5. 1. 60. ॥

अनुपसर्गाभ्यां लिम्प-विन्दिभ्यां शो भवति । लिम्पतीति-लिम्पः, विन्दतीति विन्दः । अनुपसर्गादित्येव ? प्रलिपः ।।60।

*न्या०स०—लिम्पविन्दः—*लिम्पिसाहचर्यात् विन्देस्तौदादिकस्य ग्रहः, न तु विदु अवयवे इत्यस्य ।

नि-गवादेर्नाम्नि ॥ 5. 1. 61. ॥

यथासंख्यं निपूर्वात् लिम्पेर्गवादिपूर्वाच्च विन्देर्नाम्नि-संज्ञायां शो भवति ।

निलिम्पन्तीति-निलिम्पा नाम देवाः । गा विन्दतीति-गोविन्दः, कुविन्दः, अरविन्दः कुरुविन्दः, उरविन्दः । नाम्नीति किम् ? निलिपः ।।61।।

न्या०स०—निगवादेर्नाम्नि-अरविन्द इति—चक्रावयव विशेषः, अब्जे तु क्लीबत्वम्, कश्चित्त्वऽब्जेऽपि पुंस्त्वमाह, राजा च ।

वा ज्वलादि-दु-नी-भू-ग्रहा-ऽऽस्त्रोर्णः ।। 5. 9. 62. ।।

ज्वलादेर्गणात् दु-नी-भू-ग्रहिभ्य आङ्-पूर्वाच्च स्त्रवतेरनुपसर्गाण्णो वा भवति, षहि- पर्यन्ता ज्वलादयो वृत्करणात् । ज्वलः, ज्वालः । चलः, चालः । 'निपातः, उत्क्रोशः' इति बहुलाधिकारात् । दवः, दावः । नयः, नायः । दुनीभ्यां नित्यमेवेत्येके । भवः, भावः । व्यवस्थितविभाषेयम्, तेन-ग्राहो मकरादिः, ग्रहः सूर्यादिः । आस्त्रवः, आस्त्रावः । अनुपसर्गादित्येव ? प्रज्वलः, प्रदवः, प्रणयः, प्रभवः, प्रग्रहः, प्रस्त्रवः । 1 ज्वल 2 कुच, 3 पत्लृ, 4 पथे, 5 क्वथे, 6 मथे, 7 षद्लृं, 8 शद्लृं, 9 बुध, 10 टुवमू, 11 भ्रमू, 12 क्षर, 13 चल, 14 जल, 15 टल, 16 ट्वल, 17 ष्टल, 18 हल, 19 णल्, 20 बल, 21 पुल, 22 कुल, 23 पल, 24 फल, 25 शल, 26 हुल, 27 क्रुशं, 28 कस, 29 रुहं, 30 रमिं, 31 षहि वृत् इति ज्वलादिः ।।62।।

न्या०स०—वा ज्वलादि०-बहुलाधिकारादिति—सोपसर्गादपीत्यर्थः ।

अवह्-सा-संस्त्रोः ।। 5. 1. 63. ।।

अवपूर्वाभ्यां ह्-साभ्यां संपूर्वाच्च स्त्रवतेर्णः प्रत्ययो भवति ।
अवहारः, अवसायः, संस्त्रावः । संस्त्रव इत्यपि कश्चित् ।।63।।

तन्-व्यधीण्-श्वसातः ।। 5. 1. 64. ।।

'तन् व्यधि इण् श्वस्' इत्येतेभ्य आदन्तेभ्यश्च धातुभ्यो णः प्रत्ययो भवति ।

तानः, उत्तानः, अवतानः । व्याधः, प्रत्यायः, अत्यायः, अन्तरायः । अतिपूर्वादेवेण इत्येके । श्वासः, आश्वासः । आदन्त अवश्यायः, प्रतिश्यायः; ग्लायः, म्लायः । कथं ददः दधः ? ददिदध्योरचा सिद्धम् ।।64।।

नृत्-खन्-रञ्जः शिल्पिन्यकट् ॥ 5. 1. 65. ॥

नृति-खनि-रञ्जिभ्यः शिल्पिनि कर्तर्यकट् प्रत्ययो भवति ।
शिल्पं कर्मकौशलम्, तद्वान् शिल्पी । नर्तकः, नर्तकी; खनकः, खनकी; रजकः, रजकी । शिल्पिनीति किम् ? नर्तिका, खानकः, रञ्जकः । टकारो ङ्यर्थः ॥65॥

गस्थकः ॥ 5. 1. 66. ॥

गायतेः शिल्पिनि कर्तरि थकः प्रत्ययो भवति । गाथकः । गाङः प्रत्यये शिल्पी न गम्यत इति गायतेर्ग्रहणम् ॥66॥

न्या०स०—गस्थकः-शिल्पी न गम्यत इति-शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् ।

टनण् ॥ 5. 1. 67. ॥

गायतेः शिल्पिनि कर्तरि टनण् प्रत्ययो भवति । गायनः, गायनी । टकारो ङ्यर्थः । णकार ऐकारार्थः । योगविभाग उत्तरार्थः । एतौ प्रत्ययावशिल्पिन्यपीत्येके ॥67॥

न्या०स०—टनण्-एके इति—तन्मते गामादाग्रहणे सामान्यग्रहणमिति न्यायात् गायतेर्गाङश्च ग्रहः ।

हः काल-व्रीह्योः ॥ 5. 1. 68. ॥

जहातेर्जिहीतेर्वा कालव्रीह्योः कर्त्रोष्टनण् प्रत्ययो भवति । जहाति जिहीते वा भावान्-हायनः संवत्सरः, जहत्युदकं दूरोत्थानात् जिहते वा द्रुतंहायना नाम व्रीहयः । काल-व्रीह्योरिति किम् ? हाता ॥68॥

प्रु-सृ-ल्वोऽकः साधौ ॥ 5. 1. 69. ॥

'प्रु सृ लू' इत्येतेभ्यो धातुभ्यः साधुत्व-विशिष्टेऽर्थे वर्तमानेभ्योऽकः प्रत्ययो भवति । साधु प्रवते इति-प्रवकः, एवं-सरकः, लवकः । साधाविति किम् ? प्रावकः, सारकः, लावकः ॥69॥

आशिष्यकन् ॥ 5. 1. 70. ॥

इष्टस्य प्रार्थनमाशीः, तस्यां गम्यमानायां धातोरकन् प्रत्ययो भवति ।

जीवतादित्याशास्यमानो जीवक, एवं नन्दकः, भवकः । आशिषीति किम् ? जीविका, नन्दिका, भाविका । नकार ``इच्चापुंसोऽनित्क्याप्परे'' (2-4-107) इत्यत्र व्युदासार्थः, तेन-जीवका, नन्दका, भवका ॥70॥

तिक्कृतौ नाम्नि ॥ 5. 1. 71. ॥

आशिषि विषये संज्ञायां गम्यमानायां धातोस्तिक् कृतश्च सर्वे प्रत्यया भवन्ति । शम्यात्-शान्तिः, तन्यात्-तन्तिः, सन्यात्-सन्तिः, रमतामित्येवमासंशितः–रन्तिः । कृत्–वीरो भूयादिति वीरभूः, मित्रभूः, क्विप् । अग्निरस्य भूयात्-अग्निभूतिः, देवभूतिः, अश्वभूतिः, सोमभूतिः । कुमारोऽस्य दुरितानि नयतामित्याशंसितः कुमारनीतिः, मित्रमेनं वर्द्धिषीष्ट-मित्रवृद्धिः, क्तिः । देवा एनं देयासुर्देवदत्तः, यज्ञदत्तः, विष्णुरेनं श्रूयादितिविष्णुश्रुतः क्तः । शर्व एनं वृषीष्ट-शर्ववर्मा, मन् । गङ्गा एनं मिद्यात्-गङ्गामित्रः, त्रक् । वर्धिषीष्ट–वर्धमानः ॥71॥

न्या०स०–तिक्कृतौ नाम्नि-वीरभूरिति-वीरादेः शब्दात् भवत्यादेर्धातोरनेन प्रत्ययविधिः, ततो यद्यपि साक्षात् ङस्युक्तता नास्ति तथापि संज्ञायां प्रत्ययविधानात् सूचितेति ``ङस्युक्तम्'' (3-1-49) इति सः, ``नामनाम्ना'' (3-1-18) इति वा । अग्निभूतिरिति-कृत्त्वात् कर्त्तयेव प्राप्तौ बहुलाधिकारात् संबन्धादावपि प्रत्ययः ।

कर्मणोऽण् ॥ 5. 1. 72. ॥

निर्वर्त्य-विकार्य-प्राप्यरूपात् कर्मणः परस्माद्धातोरण् प्रत्ययो भवति, अजाद्यपवादः । निर्वर्त्यात्–कुम्भकार. नगरकारः । विकार्यात्-काण्डलावः शरलावः । प्राप्यात्वेदाध्यायः, चर्चापारः, भारहारः, सूत्रधारः, भारवाहः, द्वारपालः, उष्ट्रप्रणायः, कमण्डलुग्राहः ।

`आदित्यं पश्यति, हिमवन्तं श्रृणोति, ग्रामं गच्छति इत्यादौ प्राप्यात् कर्मणोऽनभिधानान्न भवति, महान्तं घटं करोतीति सापेक्षत्वात्, अनभिधानाच्च । तथा च बहुलाधिकारः । निर्वर्त्यं-विकार्याभ्यामपि क्वचिन्न भवति–संयोगं जनयतिः, स्त्रजं विरचयति, वृक्षं छिनत्ति, कन्यां मण्डयति । णकारो वृद्ध्यर्थः ॥72॥

न्या०स०—कर्मणोऽण्-सापेक्षत्वादिति-अगमकत्वमनपेक्ष्य सापेक्षत्वमात्रमुत्तरम् । अनभिधानाच्चेति-विवक्षितार्थाप्रतिपादनात्, अणि हि सति महतो घटकारस्य प्रतीतिः ।

शीलि-कामि-भक्ष्या-ऽऽचरीक्षि-क्षमोः णः ॥ 5. 1. 73. ॥

कर्मणः परेभ्यः `शीलि, कामि, भक्षि, आचरि, ईक्षि, क्षम्' इत्येतेभ्यो धातुभ्यो णः प्रत्ययो भवति ।

धर्म शीलयति-धर्मशीलः, धर्मशीला, धर्मकामः, धर्मकामा, वायुभक्षः, वायुभक्षा, आङ्पूर्वश्चरिः-कल्याणाचारः, कल्याणाचारा। सुखप्रतीक्षः, सुखप्रतीक्षा, बहुक्षमः बहुक्षमा । अल्घञन्तैः शीलादिभिर्बहुव्रीहौ सति धर्मशीलादयः सिध्यन्ति, अण्बाधनार्थं तु वचनम्, अणि हि स्त्रियां ङीः स्यात्, तथा च धर्मशीलीत्याद्यनिष्टं रूपं स्यात् । एवंप्रायेषु च बहुव्रीह्याश्रयणे अम्भोऽतिगमेति स्यात्, अम्भोतिगामी चेष्यते । कामीति ण्यन्तस्योपादानादण्यन्ता-दणेव-पयस्कामीति, ण्यन्तस्य तु णे सति पयःकामेति भवति । अत एव च ण्यन्तनिर्देशा- दण्यन्तनिर्देशे ``अतः कृ-कमि-कंस०'' (2-3-5) इत्यादौ केवलस्यैव कमेर्ग्रहणम्, तेन-णे सति सकारादेशो न भवति ॥73॥

न्या०स०—शीलिकामि०-अल्घञन्तैरिति-ण्यन्तेभ्योऽलि अण्यन्तेभ्यस्तु घञि । *अम्भोतिगमेति स्यादिति*-अतिगम्यते ``युवर्ण'' (5-3-28) इत्यलि बहुव्रीहौ नः चैतदिष्यते, स्थिते तु अम्भः कर्म्म अतिगच्छति ``कर्मणोऽण्'' (5-1-72) ।

गायोऽनुपसर्गाट्टक् ॥ 5-1-74 ॥

कर्मणः परादनुपसर्गाद् गायतेष्टक् प्रत्ययो भवति । वक्रं गायति-वक्रगः, वक्रगी; सामगः, सामगी । अनुपसर्गादिति किम् ? वक्रसंगायः, खरुसंगायः । वक्रादयो गीतविशेषाः । गायतिनिर्देशो गाङ् निवृत्त्यर्थः ॥74॥

सुरा-शीधोः पिबः ॥ 5. 1. 75. ॥

सुरा-शीधुभ्यां कर्मभ्यां परादनुपसर्गात् पिबतेष्टक् भवति । सुरां पिबति-सुरापः, सुरापी; शीधुपः शीधुपी ।

सुराशीधोरिति किम् ? क्षीरपा बाला । पिब इति किम् ? सुरां पाति-सुरापा । कथं संज्ञायां सुरापा सुरापीति ? पाति-पिबत्योर्भविष्यति । न च धात्वर्थभेदः, संज्ञासु धात्वर्थस्य

व्युत्पत्तिमात्रार्थत्वात् ।।75।।

न्या०स०–सुराशीधो०–कथमिति-अत्र ङीविकल्पः कथमित्याशङ्का ।

आतो डोऽह्वा-वा-मः ।। 5. 1. 76. ।।

कर्मणः परादनुपसर्गात् ह्वा-वा-मावर्जितादाकारान्ताद् धातोर्डः प्रत्ययो भवति । गां ददाति-गोदः, कम्बलदः, पार्ष्णित्रम्, अङ्गुलित्रम्, ब्रह्मज्यः, वपुर्वीतवान्-वपुर्व्यः । अह्वा-वा-म इति किम् ? स्वर्गह्वायः, तन्तुवायः, धान्यमायः, अणेव । कथं मित्रह्वः ? ``क्वचित्'' (5-1-171) इत्यनेन डः । अनुपसर्गादित्येव ? गोसंदायः, वडवासंदायः । उपसर्गैर-व्यवधानतैवेत्यण् ।।76।।

न्या०स०–आतो डो-अनिर्द्दिष्टार्थास्त्रिष्वपि कालेषु भवन्तीति वपुर्व्य इत्यत्र भूतेऽपि ङः । *तन्तुवाय इति*-वातिवायत्योरकर्मकत्वान्नग्रहणम् । *धान्यमाय इति*-धान्यं माति मिमीते मयते वा । *अव्यवधानतैवेति*-नन्वणपि ना प्राप्नोति कर्मण उपसर्गेण व्यवहितत्वादित्याह-*इत्यण् इति* ।एतत् कुतो लभ्यते । ``गायोऽनुपसर्गाट्टक्'' (5-1-74) सूत्रे उपसर्गवर्जनात्, अन्यथा कर्म्मणः परात् उपसर्गव्यवधाने न प्राप्नोत्येव ।

समः ख्यः ।। 5. 1. 77. ।।

कर्मणः परात् संपूर्वात् ख्या इत्येतस्मात् डो भवति । गां संख्याति संचष्टे वागोसंख्यः, पशुसंख्यः । उपसर्गार्थ वचनम् ।।77।।

दश्चाङः ।। 5. 1. 78. ।।

कर्मणः परादाङ्पूर्वाद् ददातेः 'ख्या' इत्येतस्माच्च डो भवति । दायमादत्ते-दायादः, स्त्रियमाचष्टेस्त्र्याख्यः, प्रियाख्यः । इदमुत्तरं चोपसर्गार्थं वचनम् ।।78।।

प्राज्ज्ञश्च ।। 5. 1. 79. ।।

कर्मणः परात् प्रपूर्वाज्जानातेर्दारूपाच्च डो भवति । पथिप्रज्ञः, प्रपाप्रदः । इह पूर्व-सूत्रे च दारूपं गृह्यते, न संज्ञा ज्ञा-ख्यासाहचर्यात् । पूर्वसूत्रे तु दाग एव ग्रहणं तस्यैवाङा

योगात् तेन स्तनौ प्रधयति-स्तनप्रधायः ॥79॥

न्या०स०—प्राज्ज्ञश्च०-दारुपं गृह्यते इति-तेन दांव्दैवोरपि ग्रहस्तेन केदारप्रदो भाजनप्रदश्चेति सिद्धम् ।

आशिषि हनः ॥ 5. 1. 80. ॥

आशिषि गम्यमानायां कर्मणः पराद्धन्तेर्डो भवति । शत्रुं वध्यात्-शत्रुहः, पापह, दुःखहः । गतावपीति कश्चित्, क्रोशं हन्ति-क्रोशहः ॥80॥

क्लेशादिभ्योऽपात् ॥ 5. 1. 81. ॥

क्लेशादिभ्यः कर्मभ्यः परादपपूर्वाद्धन्तेर्डो भवति, अनाशीरर्थ आरम्भः ।

क्लेशमपहन्ति-क्लेशापहः, तमोपहः, दुःखापहः, ज्वरापहः, दर्पापह, दोषापहः, रोगापहः, वातपित्तकफापहः विषाग्निदर्पापहः । बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येभ्योऽपि भवति । कथं `दार्वाघाटः, चार्वाघाटः ? घटतेरणि संज्ञायां भविष्यति । चारु आहन्तीति-चार्वाघातो हन्तेरेव । दार्वाघातोऽपि तर्हि स्यात्, असंज्ञायामिष्यत एव । एवमसंज्ञायां संपूर्वाभ्यां घटिहनिभ्यां—`वर्णसंघाटः, वर्णसंघातः, पदसंघाटः, पदसंघातः' इत्यादि सिद्धम्, हन्तेरेव वा पृषोदरादित्वाद् वर्णविकारः ॥81॥

न्या०स०—क्लेशादिभ्यो-कथं दार्वाघाट इत्यादि-दारावाडो हन्तेरण् अन्तस्य च टः संज्ञायां चारौ तु ड इति परेषां सूत्रद्वयमत्र तत् स्वमते कथमित्याह-*घटतेरणीति*-दारुः सारसः, चारुस्तु जीवभेदस्तमाघटते संबध्नाति ।

कुमार-शीर्षाण्णिन् ॥ 5. 1. 82. ॥

कुमार-शीर्षाभ्यां कर्मभ्यां पराद्धन्तेर्णिन् प्रत्ययो भवति । कुमारं हन्ति-कुमार-घाती, शीर्षघाती । अत एव निपातनाच्छिरसः (शीर्षभावः), शीर्षशब्दोऽकारान्तः प्रकृयन्तरं वा । तथा च ``शीर्षे स्थितं पृष्ठतः'' इति ॥82॥

अचित्ते टक् ॥ 5. 1. 83. ॥

कर्मणः पराद्धन्तेरचित्तवति कर्तरि टक् प्रत्ययो भवति ।

वातं हन्ति-वातघ्नं तैलम्, पित्तघ्नं घृतम्, श्लेष्मघ्नं मधु, रोगघ्नमौषधम्, जायाघ्ना: तिलकालका: पतिघ्नी पाणिरेखा, सर्वकर्मघ्नी शैलेशी, स्त्रुघ्नो नगरम्, शतघ्नी आयुधविशेष:, हस्तघ्नो ज्याघा-तत्रो वर्ध्रपट्ट: । बहुलाधिकारात् स्त्रुघ्नादय: संज्ञायाम् । अचित्त इति किम् ? पापघातो यति:, चौरघातो राजा, आखुघातो बिडाल:, मत्स्यघातो बक:, सस्यघातो वृषभ: ।।83।।

न्या०स०—अचित्ते टक् तिलकालका इति-तिलानां तुल्यास्तिलका अलका इवाल- कास्ते च ते अलकाश्च, येषां लोके मित्र इति प्रसिद्धि: । *शैलेशीति*-शिलानामीश: शिले- शस्तस्येयं निष्प्रकम्पत्वात् ।

जाया-पतेश्चिह्नवति ।। 5. 1. 84. ।।

जाया-पतिभ्यां कर्मभ्यां पराद्धन्तेश्चिह्नवति कर्तरि टक् भवति । चिह्नं शरीरस्थं शुभाशुभसूचकं तिलकालकादि । जायाघ्नो ब्राह्मण:, पतिघ्नी कन्या, अपलक्षणयुगित्यर्थ: । चित्तवदर्थ आरम्भ: ।।84।।

ब्रह्मादिभ्य: ।। 5. 1. 85. ।।

ब्रह्मादिभ्य: कर्मभ्य: पराद्धन्तेष्टक् प्रत्ययो भवति । ब्रह्म हन्ति-ब्रह्मघ्न:, कृतघ्न:, शत्रुघ्न:, वृत्रघ्न:, भ्रूणघ्न:, बालघ्न:, शशघ्नी पक्षिजाति:, गां हन्ति-गोघ्न: पातकी । बहुलाधिकारात् संप्रदानेऽपि-गां हन्ति यस्मै आगताय दातुं स-गोघ्नोऽतिथि: । बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येभ्योऽपि भवति । चित्तवदर्थ आरम्भ: ।।85।।

हस्ति-बाहु-कपाटाच्छक्तौ ।। 5. 1. 86. ।।

एभ्य: कर्मभ्य: पराद्धन्ते: शक्तौ गम्यमानायां टक् भवति, चित्तवदर्थ आरम्भ: ।

हस्तिनं हन्तुं शक्त: हस्तिघ्नो मनुष्य:, बाहुघ्नो मल्ल:, कपाटघ्नश्चौर: । शक्ताविति किम् ? हस्तिनं हन्ति विषेण-हस्तिघ्रातो रसद: ।।86।।

नगरादगजे ।। 5. 1. 87. ।।

नगरात् कर्मण: पराद्धन्तेर्गजवर्जिते कर्तरि टक् भवति, चित्तवदर्थ आरम्भ: । नगरघ्नो व्याघ्र: । अगज इति किम् ? नगरघातो हस्ती ।।87।।

राजघः ।। 5. 1. 88. ।।

राज्ञः कर्मणः पराद्धन्तेष्टक् प्रत्ययो घादेशश्च निपात्यते । राजानं हन्तिराजघः ।।88।।

पाणिघ-ताडघौ शिल्पिनि ।। 5. 1. 89. ।।

पाणि-ताडाभ्यां कर्मभ्यां पराद्धन्तेः शिल्पिनि कर्तरि टक् घादेशश्च निपात्यते । पाणिं हन्ति पाणिघः, ताडवः शिल्पी । पाणिना ताडेन च हन्तीति करणादपि केचित् । शिल्पिनीति किम् ? पाणिघातः, ताडघातः ।।89।।

कुक्ष्यात्मोदराद् भृगः खिः ।। 5. 1. 90. ।।

एभ्यः कर्मभ्यः पराद् भृगो धातोः खिः प्रत्ययो भवति । कुक्षिमेव बिभर्ति-कुक्षिंभरिः, आत्मंभरिः, उदरंभरिः । उदरात् केचिदेवेच्छन्ति । खकारो मागमार्थः ।।90।।

अर्होऽच् ।। 5. 1. 91. ।।

कर्मणः परादर्हतेरच् प्रत्ययो भवति, अणोऽपवादः । पूजामर्हति-पूजार्ह, साधुः, पूजार्हा प्रतिमा ।।91।।

धनु-र्दण्ड-त्सरु लाङ्गला-ङ्कुशर्ष्टि-यष्टि-शक्ति-तोमर घटाद् ग्रहः ।। 5. 1. 92. ।।

एभ्यः कर्मभ्यः पराद् ग्रहेरच् प्रत्ययो भवति । धनुर्गृह्णाति-धनुर्ग्रहः, दण्डग्रहः, त्सरुग्रहः, लाङ्गलग्रहः, अङ्कुशग्रहः, ऋष्टिग्रहः यष्टिग्रहः, शक्तिग्रहः, तोमरग्रहः, घटग्रहः, ❇ नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ❇ इति-घटीग्रहः । अणपीत्येके–'धनुर्ग्राहः, दण्डग्राहः' इत्यादि चोदाहरन्ति ।।92।।

सूत्राद्धारणे ।। 5. 1. 93. ।।

सूत्रं कर्पासादिमयं लक्षणसूत्रं वाऽविशेषेण गृह्यते । सूत्रात् कर्मणः पराद् ग्रहेर्ग्रहण-पूर्वके धारणेऽर्थे वर्तमानादच् प्रत्ययो भवति ।

सूत्रं गृह्णाति-सूत्रग्रहः प्राज्ञः सूत्रधारो वा, सूत्रमुपादाय धारयतीत्यर्थः । अन्ये त्ववधारणे एवेच्छन्ति, तन्मते-सूत्रग्रहः प्राज्ञ एवोच्यते । धारण इति किम् ? सूत्रग्राहः, यो हि सूत्रं

गृह्णाति न तु धारयति स एवमुच्यते ।।93।।

न्या०स०—सूत्राद्धारणे-अन्ये त्ववधारण एवेति-तन्मते यः सूत्रं धारयत्येव तत्रैवाच्, सूत्रधारस्तु प्रयोजने एव गृह्णाति न तु सर्वकालम् ।

आयुधादिभ्यो धृगोऽदण्डादेः ।। 5. 1. 94. ।।

दण्डादीन् वर्जयित्वा आयुधादिभ्यः कर्मभ्यः पराद् धृगो धातोरच् भवति । धनु-र्धरति-धनुर्धरः, शक्तिधरः, चक्रधरः, वज्रधरः, शूलधरः, हलधरः । आदिग्रहणाद् भूधरः, जलधरः, विषधरः, शशधरः विद्याधरः, श्रीधरः, जटाधरः, पयोधरः । बहुवचनाद् यथा-दर्शनमन्येभ्योऽपि भवति । अदण्डादेरिति किम् ? दण्डधारः, कुण्डधारः, काण्डधारः, कर्णधारः, सूत्रधारः, छत्रधारः ।।94।।

न्या०स०—आयुधादि-दण्डादीनां वर्ज्जनात्तेभ्योऽण् निर्णिन्ये, अन्यथा युधादिद्वारोऽच् प्रत्ययोऽपि स्यादिति संदेहः स्यात् ।

हृगो वयोऽनुद्यमे ।। 5. 1. 95. ।।

कर्मणः पराद्धरतेर्वयसि अनुद्यमे च गम्यमाने अच् भवति । प्राणिनां कालकृतावस्था वयः, उद्यम उत्क्षेपणम्, आकाशस्थस्य वा धारणम्, तदभावोऽनुद्यमः । अस्थिहरः— श्वशिशुः, कवचहरः क्षत्रियकुमारः । अंशहरो दायादः, अनुद्यमे मनोहरः प्रासादः, मनोहरा माला । संज्ञायां टोऽपीति कश्चित्-मनोहरी विषहरी मणिः । वयो-ऽनुद्यम इति किम् ? भारहारः । वयसि क्रियमाणः संभाव्यमानो वोद्यम उच्यमानो वयो गमयतीति उद्यमार्थं वयोग्रहणम् ।। 95 ।।

न्या०स०—हृगो वयो-क्रियमाण इति-क्रियमाणतया संभाव्यमान इत्यर्थः । *संभाव्यमानो वेति*-अकुर्व्वन्नपि, ततः कर्मास्मिन्, कर्मणि अयं शक्त इत्येवं संभाव्यमान इत्यर्थः । *वयोग्रहणमिति* नन्वत्र वयोग्रहणं किमर्थम् ? इत्याह-*उद्यमार्थमिति*, अयमर्थो यत्र वयस्तत्रोद्यमेऽसत्यपि भवतीत्यर्थ, यथा कवचहर इत्यादौ ।

आङः शीले ।। 5. 1. 96. ।।

कर्मणः परादाङ्पूर्वाद्धरतेः शीले गम्यमानेऽच् प्रत्ययो भवति, शीलं स्वाभाविकी प्रवृत्तिः ।

पुष्पाण्याहरतीत्येवंशीलः-पुष्पाहरः, फलाहरः, सुखाहरः, पुष्पाद्याहरणे स्वाभाविकी फलनिरपेक्षा वृत्तिरस्येत्यर्थः । आङ इति किम् ? पुष्पाणि हर्ता, तृन् । शील इति किम् ? पुष्पाहारः । 'सुखाहरः' इत्यशीलेऽनुद्यमेऽर्थे पूर्वेणाच् । लिहादिप्रपञ्चः प्रकरणमिदम् ।।96।।

न्या०स०—आङः शीले-ननु लिहादिगणे एव धातूपपदार्थनियमः क्रियतां, किममीभिः सूत्रैः ? इत्याह-लिहादिप्रपञ्च इति ।

दृति नाथात् पशाविः ।। 5. 1. 97. ।।

आभ्यां कर्मभ्यां पराद्धरतेः पशौ कर्तरि 'इः' प्रत्ययो भवति । दृतिं हरति-दृति-हरिः श्वा, नाथहरिः सिंहः । पशाविति किम् ? दृतिहारो व्याधः, नाथहारी गन्त्री ।।97।।

रजः-फले-मलाद् ग्रहः ।। 5. 1. 98. ।।

एभ्यः कर्मभ्यः पराद् ग्रहेरिर्भवति । रजोग्रहिः कञ्चुकः, फलेग्रहिर्वृक्षः, सूत्रनिर्देशादेत्वम्; मलग्रहिः कम्बलः । रजो-मलाभ्यां केचिदेवेच्छन्ति ।।98।।

देव-वातादापः ।। 5. 1. 99. ।।

देव-वाताभ्यां कर्मभ्यां परादापेर्धातोरिः प्रत्ययो भवति । देवानाप्नोति-देवापिः, वातापिः ।।99।।

शकृत् स्तम्बाद् वत्स-व्रीहौ कृगः ।। 5. 1. 100. ।।

शकृत्-स्तम्बाभ्यां कर्मभ्यां पराद् कृगो यथासंख्यं वत्से व्रीहौ च कर्तरि 'इः' प्रत्ययो भवति । शकृत्करिर्वत्सः, स्तम्बकरिर्व्रीहिः । वत्स-ब्रीहाविति किम् ? शकृत्कारः, स्तम्बकारः ।।100।।

किं-यत्-तद् बहोरः ।। 5. 1. 101. ।।

एभ्यः कर्मभ्यः परात् करोतेरः प्रत्ययो भवति । किं करोति-किंकरः, किंकरा, यत्करः, यत्करा, तत्करः, तत्करा, चौर्ये-तस्करः । बहुकरः, बहुकरा; बहुकरीति संख्या-वचनादुत्तरेण टः । जातिरिदानीं किंकरीति हेत्वादौटः ।।101।।

संख्या-ऽ-ह-र्दिवा-विभा-निशा-प्रभा-भाश्चित्र-कर्त्राद्यन्ता-ऽनन्त-कार-बाह्वरु-र्धनु-र्नान्दी-लिपि-लिवि-बलि-भक्ति-क्षेत्र-जङ्घा-क्षपा-क्षणदा-रजनि-दोषा-दिन-दिवसाट्टः ॥ 4. 1. 102. ॥

संख्येत्यर्थप्रधानमपि, तेनैकादिपरिग्रहः, एभ्यः कर्मभ्यः परात् करोतेष्टः प्रत्ययो भवति। अहेत्वाद्यर्थ आरम्भः।

संख्यां करोति-संख्याकरः, एककरः, द्विकरः, त्रिकरः। अहस्करः, दिवाकरः, विभाकरः, निशाकरः, प्रभाकरः, भास्करः, चित्रकरः, कर्तृकरः, आदिकरः, अन्तकरः, अनन्तकरः कारकरः, बाहुकरः, अरुष्करः, धनुष्करः, नान्दीकरः, लिपिकरः, लिविकरः, बलिकरः, भक्तिकरः, क्षेत्रकरः, जङ्घाकरः, क्षपाकरः, क्षणदाकरः, रजनिकरः, रजनीकरः, दोषाकरः, दिनकरः, दिवसकरः। टकारो ङ्यर्थः—संख्याकरी ॥102॥

हेतु-तच्छीला-ऽनुकूलेऽशब्द-श्लोक कलह-गाथा-वैर-चाटु-सूत्र-मंत्र-पदात् ॥ 5. 1. 103. ॥

हेतुः प्रतीतशक्तिकं कारणम्, तच्छीलं तत्स्वभावः, अनुकूल आराध्यचित्तानुवर्त्ती, एषु कर्तृषु शब्दादिवर्जितात् कर्मणः परात् करोतेष्टः प्रत्ययो भवति।

हेतौ-यशः करोति-यशस्करी विद्या, शोककरी कन्या, कुलकरं धनम्। तच्छीले-क्रीडाकरः, श्राद्धकरः। अनुकूले-प्रेषणाकरः, वचनकरः। हेत्वादिष्विति किम् ? कुम्भ- कारः। शब्दादिनिषेधः किम् ? शब्दकारः, श्लोककारः, कलहकारः, गाथाकारः, वैरकारः, चाटुकारः, सूत्रकारः, मन्त्रकारः, पदकारः। तच्छीले ताच्छीलिकश्च प्रत्यय उदाहार्यः ॥103॥

भृतौ कर्मणः ॥ 5. 1. 104. ॥

कर्मन्शब्दात् कर्मणः परात् करोतेर्भृतौ गम्यमानायां टो भवति, भृतिर्वेतनं कर्म- मूल्यमिति यावत्।

कर्मकरो भृतकः, कर्मकरी दासी। भृताविति किम् ? कर्मकारः। पुनः कर्मग्रहणं शब्दरूपकर्म प्रतिपत्त्यर्थम् ॥104॥

क्षेम-प्रिय-मद्र-भद्रात् खा-ऽण् ॥ 5. 1. 105. ॥

एभ्यः कर्मभ्यः परात् करोतेः 'ख अण्' इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः। क्षेमं करोति क्षेमंकरः, क्षेमकारः। प्रियंकरः, प्रियकारः। मद्रंकरः, मद्रकारः। भद्रंकरः, भद्रकारः। भद्रात् केचिदेवेच्छन्ति। एभ्य इति किम्? तीर्थकरः, हेत्वादिषु टः। 'तीर्थंकरः, तीर्थकारः' इत्यपि कश्चित्। खो वेति सिद्धे अण्ग्रहणं हेत्वादिषु टबाधनार्थम्।

कथं योग-क्षेमकरी लोकस्येति? उपपदविधिषु तदन्तविधेरनाश्रयणात्, अत एव ''संख्या'' (5-1-102) इति सूत्रेऽन्तग्रहणे सत्यप्यनन्तग्रहणम्, उत्तरत्र च भयग्रहणेऽप्य-भयग्रहणम् ॥105॥

मेघर्ति-भया-ऽभयात् खः ॥ 5. 1. 106. ॥

एभ्यः कर्मभ्यः परात् करोतेः खप्रत्ययो भवति। मेघान् करोति मेघंकरः। ऋति-र्गतिः सत्यता वा, ऋतिंकरः, भयंकरः, अभयंकरः। हेत्वादिविवक्षायां टमपि बाधते पर-त्वात्-भयंकरं श्मशानम् ॥106॥

प्रिय-वशाद् वदः ॥ 5. 1. 107. ॥

आभ्यां कर्मभ्यां पराद् वदेः खो भवति। प्रियं वदति-प्रियंवदः, वशंवदः ॥107॥

द्विषन्तप-परन्तपौ ॥ 5. 1. 108. ॥

द्विषत्-परशब्दाभ्यां कर्मभ्यां परात् ण्यन्तात् तपेः खः प्रत्ययो ह्रस्वत्वं द्विषत्तकारस्य मकारश्च निपात्यन्ते। द्विषतस्तापयति-द्विषन्तपः, परंतपः। निपातनस्येष्टविषयत्वात् स्त्रियामनभिधानम्-द्विषतीतापः। अण्यन्तस्य च तपेर्न भवति-द्विषतः परांश्च तपतिद्विषत्तापः, परतापः ॥108॥

परिमाणार्थ-मित-नखात् पचः ॥ 5. 1. 109. ॥

सर्वतो मानं परिमाणम्, तदर्थाः प्रस्थादयः शब्दाः, एभ्यो मित-नखाभ्यां च कर्मभ्यां परात् पचेः खः प्रत्ययो भवति। प्रस्थंपचा स्थाली, द्रोणंपचा दासी, अल्पंपचा मुनयः, ''पान्तावल्पंपचान् मुनीन्'', मितंपचा ब्राह्मणी, नखंपचा यवागूः ॥109॥

कूला-ऽभ्र-करीषात् कषः ॥ 5. 1. 110. ॥

एभ्यः कर्मभ्यः परात् कषेः खः प्रत्ययो भवति । कूलंकषा नदी, अभ्रंकषो गिरिः, करीषंकषा वात्या ॥110॥

सर्वात् सहश्च ॥ 5. 1. 111. ॥

सर्वशब्दात् कर्मणः परात् सहेः कषेश्च खः प्रत्ययो भवति । सर्वं सहते-सर्वसहो मुनिः, सर्वंकषः खलः ॥111॥

भृ-वृ-जि-तॄ-तप-दमेश्च-नाम्नि ॥ 5. 1. 112. ॥

कर्मणः परेभ्य एभ्यः सहश्च खो भवति, नाम्नि-संज्ञायाम् । विश्वं बिभर्ति-विश्वंभरा वसुधा । वृ-पतिंवरा कन्या । जि-शत्रुञ्जयः पर्वतः, धनंजयः पार्थः । तॄ-रथंतरं साम । तप-शत्रुंतपो राजा । दमिरन्तर्भूतण्यर्थो ण्यन्तश्च गृह्यते, बलिं दाम्यति दमयति वा-बलिं-दमः कृष्णः, अरिंदमः, सह-शत्रुंसहः, एतौ राजानौ । नाम्नोति किम् ? कुटुम्बं बिभर्तिकुटुम्बभारः । केचित् तु-रथेन तरति रथंतरं सामेत्यकर्मणोऽपीच्छन्ति ॥112॥

धारेर्धर् च ॥ 5. 1. 113. ॥

कर्मणः पराद् धारयतेः संज्ञायां खः प्रत्ययो भवति, 'धर्' इत्ययमादेशश्च । वसु धारयति-वसुंधरा पृथ्वी । युगंधरः, सीमंधरः, तीर्थकरावेतौ । संज्ञायामित्येव-छत्र-धारः ॥113॥

पुरंदर-भगंदरौ ॥ 5. 1. 114. ॥

एतौ संज्ञायां खप्रत्ययान्तौ निपात्येते । पुरो दारयति-पुरंदरः शक्रः, भगं दारयति-भगंदरो व्याधिः । दारयतेर्ह्रस्वः पुरोऽमन्तता च निपात्यते । पुरशब्दपूर्वस्य तु पुरदार इति भवति ॥114॥

न्या०स०—पुरन्दर०-पुरशब्दपूर्वस्येति-निपातनस्येष्टविषयत्वात् ।

वाचंयमो व्रते ॥ 5. 1. 115. ॥

वतं शास्त्रीयो नियमः, तस्मिन् गम्यमाने वाचः कर्मणः पराद् यमेर्धातोः खो वाच-श्चामन्तता निपात्यते । वाचं यच्छति नियमयति वा-वाचंयमो व्रती । व्रत इति किम् ? वाग्यामोऽन्यः ॥115॥

न्या०स०—वाचंयमो-शास्त्रीयो नियम इति-शास्त्रं संजातमस्य उपदेशकतया, शास्तुः सकाशात् इतः प्राप्तो वा, यद्वा शास्तारं कर्मतापन्नमितः प्राप्तः ।

मन्याण्णिन् ॥ 5. 1. 116. ॥

कर्मणः परान्मन्यतेर्णिन् प्रत्ययो भवति । पण्डितं मन्यते बन्धुं-पंडितमानी बन्धोः । दर्शनीयां मन्यते भार्यां दर्शनीयमानी भार्याया । श्यनिर्देश उत्तरार्थः ॥116॥

न्या०स०—मन्या०-उत्तरार्थ इति—मनुतेर्निवृत्त्यर्थश्च ।

कर्तुः खश् ॥ 5. 1. 117. ॥

प्रत्ययार्थात् कर्तुः कर्मणः परान्मन्यतेः खश् प्रत्ययो भवति । यदा प्रत्ययार्थ कर्ता आत्मानमेव दर्शनीयत्वादिना धर्मेण विशिष्टं मन्यते तदाऽयं कर्म, तत्रायं विधिः ।

पण्डितमात्मानं मन्यते-पण्डितंमन्यः, पट्वीमात्मानं मन्यते पट्विंमन्या, विद्वन्मन्यः, विदुषिंमन्या । असरूपत्वाण्णिन्नपि-पण्डितमात्मानं मन्यते-पण्डितमानी पटुमानिनी; विद्वन्मानी, विद्वन्मानिनी । कर्तुरिति किम् ? दर्शनीयमानी चैत्रस्य, पूर्वेणात्र णिन्नेव । शकारः शित्कार्यार्थः ॥117॥

एजेः ॥ 5. 1. 118. ॥

कर्मणः परादेजयतेः खश् भवति । अङ्गान्येजयति-अङ्गमेजयः, जनमेजयः, अरिमेजयः ॥118॥

शुनी-स्तन-मुञ्ज-कूला-ऽऽस्य-पुष्पाट्ट्धेः ॥ 5. 1. 119. ॥

एभ्यः कर्मभ्यः परात् टधेः खश् भवति । शुनीं धयति-शुनिंधयः, स्तनंधयः, मुञ्जंधयः, कूलंधयः, आस्यंधयः, पुष्पंधयः । मुञ्जाविभ्यः केचिदेवेच्छन्ति । ट्धेष्टकारो ङ्यर्थः- शुनिंधयी स्तनंधयी सर्पजातिः ॥119॥

न्या०स०—शुनीस्तन०-शुनिंधयीति-क्रियावाचकत्वात् जातिद्वारा ङीर्न प्राप्त इति टकरणम् ।

नाडी-घटी-खरी-मुष्टि-नासिका वाताद् ध्मश्च ॥ 5. 1. 120. ॥

एभ्यः कर्मभ्यः पराद् धमतेष्ट्धेश्च खश् भवति । नाडीं धमति धयति वा-नाडिंधमः,

नाडिंधयः । घटिंधमः, घटिंधयः । खरिंधमः, खरिंधय । मुष्टिंधमः, मुष्टिंधयः । नासिकंधमः, नासिकंधयः । वातंधमः, वातंधयः ।

ङ्यन्तनिर्देशस्तदभावे खश्प्रत्ययनिवृत्त्यर्थः नाडिं धमति धयति वा-नाडिध्मः, नाडिधः, घटध्मः, घटधः, खरध्मः खरधः ॥120॥

पाणि-करात् ॥ 5. 1. 121. ॥

आभ्यां कर्मभ्यां पराद् धमतेः खश् प्रत्ययो भवति । पाणिं धमति पाणिंधमः, करंधमाः । पाणि-करात् ट्धेरपीति कश्चित्-पाणिंधयः, करंधयः । पाणिंधमाः, करंधमाः, नाडिंधमाः पन्थान इति तद्योगाद्, यथा-मञ्चाः क्रोशन्तीति ॥121॥

न्या०स०—पाणिकरात् पाणिंधमा इति-पाणिंधमपुरुषयोगात् पथां ताच्छब्द्यं, अधिकरणे वा ``बहुलम्'' (5. 1. 2.) इति खश् इति पारायणम् ।

कूलादुद्रुजोद्वहः ॥ 5. 1. 122. ॥

कूलात् कर्मण पराभ्याम् `उद्रुज् उद्वह्' इत्येताभ्यां परः खश् भवति । कूलमुद्रुजो गजः, कूलमुद्वहा नदी ॥122॥

वहा-ऽभ्राल्लिहः ॥ 5. 1. 123. ॥

वहा-ऽभ्राभ्यां कर्मभ्यां पराल्लिहेः खश् भवति । वहं लेढि-वहंलिहो गौः, अभ्रंलिहः प्रासादः ॥123॥

बहु-विध्वरुस् तिलात् तुदः ॥ 5. 1. 124. ॥

एभ्यः कर्मभ्यः परात् तुदेः खश् भवति । बहुं तुदति बहुन्तुदं युगम्, विधुंतुदो राहु, अरुंतुदः पीडाकरः, तिलंतुदः काकः । बहोः केचिदेवेच्छन्ति ॥124॥

न्या०स०—बहुविध्वरु०-अरुंतुद इति-``मोन्ते संयोगस्य'' (2-1-88) इति स लोपः ।

ललाट-वात-शर्धात् तपा-ऽज-हाकः ॥ 5. 1. 125. ॥

ललाटादिभ्यः कर्मभ्यः परेभ्यो यथासंख्यं `तप् अज् हाक्, इत्येतेभ्यः खश् भवति। ललाटं तपति ललाटंतपः सूर्यः, वातमजन्ति-वातमजा मृगाः, शर्धजहति शर्धजहा माषा.। खशः शित्त्वादजेर्वी आदेशो न भवति। हाकः ककारो हाङो निवृत्यर्थः ॥125॥

असूर्योग्राद् दृशः ॥ 5. 1. 126. ॥

असूर्योग्राभ्यां कर्मभ्यां परात् दृशेः खश् भवति। सूर्यमपि न पश्यन्ति-असूर्यपश्या राजदाराः, दृशिनां संबद्धस्य नञः सूर्येण सहासामर्थ्येऽपि गमकत्वात् समासः। उग्रं पश्यति-उग्रंपश्यः ॥126॥

न्या०स०—असूर्यो०-गमकत्वादिति-वाक्यार्थप्रतिपादकत्वादित्यर्थः।

इरंमदः ॥ 5. 1. 127. ॥

कर्मण इति निवृत्तम्, इरापूर्वान्माद्यतेः खश् श्याभावश्च निपात्यते। इरा-सुरा, तया माद्यतीतिइरंमदः ॥127॥

न्या०स०—इरंमदः-कर्मण इति निवृत्तमिति-निपातनात् धातोरकर्मकत्वाद् वा।

नग्न-पलित-प्रिया-ऽन्ध-स्थूल सुभगा-ऽऽढ्य-तदन्ताच्च्व्यर्थेऽच्वे-र्भुवः खिष्णु खुकञ् ॥ 5. 1. 128. ॥

नग्नादिभ्यः केवलेभ्यस्तदन्तेभ्यश्चाच्व्यन्तेभ्यश्च्व्यर्थे वर्तमानेभ्यः पराद् भवतेः खिष्णु-खुकञौ प्रत्ययौ भवतः।

अनग्नो नग्नो भवति-नग्नंभविष्णुः, नग्नंभावुकः, पालितंभविष्णुः, पालितंभावुकः; प्रियंभविष्णुः, प्रियंभावुकः; अन्धभविष्णु, अन्धंभावुकः स्थूलंभविष्णुः स्थूलंभावुकः; सुभगंभविष्णुः, सुभगंभावुकः; आढ्यंभविष्णुः, आढ्यंभावुकः। तदन्तेभ्यः—अननग्नोऽनग्नो भवति-अनग्नंभविष्णुः, अनग्नंभावुकः, असुनग्नः सुनग्नो भवति-सुनग्नंभविष्णुः, सुनग्नंभावुकः; इत्यादि। च्व्यर्थ इति किम्? नग्नो भविता। अच्वेरिति किम्? आढयीभविता, तृच्। उपपदविधिषु तदन्तविधिरनाश्रित इति तदन्तग्रहणम् ॥128॥

कृगः खनट् करणे ॥ 5. 1. 129. ॥

नग्नादिभ्योऽच्व्यन्तेभ्यश्च्व्यर्थवृत्तिभ्यः परात् करोतेः करणे खनट् प्रत्ययो भवति । करण इति ``कर्तरि'' (5-1-3) इत्यस्यापवादः ।

अनग्नो नग्नः क्रियतेऽनेन नग्नंकरणं द्यूतम् । एवं पलितंकरणं तैलम्, प्रियंकरणं शीलम्, अन्धंकरणः शोकः, स्थूलंकरणं दधि, सुभगंकरणं रूपम्, आढ्यंकरणं वित्तम् । तदन्तेभ्योऽपि-अननग्नोऽनग्नः क्रियतेऽनेन-अनग्नंकरणः पटः, सुनग्नंकरणः, अपलितंकरणो रस इत्यादि । च्व्यर्थ इत्येव ? नग्नं करोति द्यूतेन, नात्र प्रकृतिविकारभावो विवक्ष्यते । अच्वेरित्येव ? नग्नीकुर्वन्त्यनेन अत्र खनट्प्रतिषेधसामर्थ्यादनडपि न भवति, नहि नग्नी-करणमित्यत्रानट्-खनटो रूपे समासे स्त्रियां वा विशेषोऽस्ति । केचित् तु च्व्यन्तपूर्वादपि खनटमिच्छन्ति-नग्नीकरणं द्यूतम् ॥129॥

न्या०स०—कृगः खनट्-*विशेषोऽस्तीति* च्व्यन्तत्वादव्ययत्वं ``खित्यनव्यय'' (3-2-111) इति मोन्तोऽपि न भवति ।

भावे चाऽशिताद् भुवः खः ॥ 5. 1. 130. ॥

आशितशब्दात् पराद् भवतेर्भाव करणे चाभिधेये खः प्रत्ययो भवति । आशितेन तृप्तेन भूयते भवता-आशितंभवो वर्तते भवतः; आशितो भवत्यनेन-आशितंभव ओदनः, आशितो भवत्यनया-आशितंभवा पञ्चपूली । असरूपत्वादनडपि-आशितस्य भवनम्, न घञ् सरूपत्वात् । आशित इति निर्देशादश्नातेः कर्तरि क्तो दीर्घत्वं च । आङ्पूर्वाद् वा अविवक्षितकर्मकात् कर्तरि क्तः ॥130॥

न्या०स०—भावे चाशिता—कर्त्तरि क्त इति-शील्यादित्वात् *अविवक्षितकर्मकादिति*-``गत्यर्थाकर्म्मक'' (5-1-11) इत्यनेन ।

नाम्नो गमः खड्-डौ च विहायसस्तु विहः ॥ 5. 1. 131. ॥

नाम्नः परात् गमेः ``खड् ड'' इत्येतौ खश्च प्रत्यया भवन्ति, विहायस्शब्दस्य च विहादेशो भवति ।

खड्-तुरो गच्छति-तुरंगः, भुजेन भुज इव वा गच्छति-भुजंगः, प्रवेण प्लवेन गच्छति-प्रवङ्गः, प्लवङ्ग, पतो गच्छति-पतंगः, विहायसा गच्छति—विहंगः । ड-तुरगः, भुजगः,

प्लवगः, विहगः, अत्यन्तगः, सर्वगः, सर्वत्रगः, अनन्तगः, परदारगः, ग्रामगः, गुरु-तल्पगः, प्रतीपगः पुरोगः, पीठगः, तीरगः। अग्रादिभ्यस्तदन्तेभ्योऽपि-अग्रगः, सेनाग्रगः, आदिगः, पङ्क्त्याद्यादिगः, मध्यगः गृहमध्यगः, अन्तगः, शाखान्तगः, अध्वगः, नगराध्वगः, दूरगः, अदूरगः, पारगः, वेदपारगः, अगारगः, स्त्र्यगारगः, इत्यादि।

अथ संज्ञायाम् खे गच्छति-खगः पक्षी, न गच्छति-अगो वृक्षः पर्वतश्च, एवं-नगः, उरसा गच्छति-उरगः, पृषोदरादित्वात् सलोपः। पतो गच्छति-पतगः पक्षी। पद्भ्यां न गच्छति-पन्नं गच्छति वा पन्नगः सर्पः। आपमब्धिं गच्छत्यापगा नदी। आशु गच्छति-आशुगः शरः। निम्नगा, समुद्रगा, सततगा, इत्यादि। अगो वृषलः शीतेनेत्यसंज्ञायामपि। अथ खः-सुतं सुतेन वा गच्छति सुतंगमो नाम मुनिः यस्य सौतंगमिः पुत्रः। मितं गच्छति-मितंगमोऽश्वः, अमितंगमा हस्तिनी, जनंगमश्चण्डालः, पूर्वंगमाः पन्थानः, हृदयंगमा वाचः, तुरंगमोऽश्वः, भुजंगमः सर्पः, प्रवंगमः कपिः, प्लवंगमो भेकः, विहंगमो नभसंगमश्च पक्षी, नभसशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति। उरंगम इत्यपि कश्चित्। बहुलाधिकाराद् यथाप्रयोगदर्शनं व्यवस्था। डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः ॥131॥

न्या०स०—नाम्नो गमः—भूजेनेति-भोजनं स्थादित्वात्कः, भूजेन कौटिल्येन गच्छति। *भूज इवेति* भुज्यतेऽनेन भुजः पाणिस्तद्वद्गच्छति, *पतो गच्छतीति*-क्षीरस्तु पतत्यनेन ``पुन्नाम्नि'' 5-3-130 इति घे पतः पक्षस्तैर्गच्छतीति। *आपमब्धिं गच्छतीति*-आपोऽत्र सन्ति ज्योत्स्नाद्यण्, अपामयमाधारत्वेन तस्येदमण् वा, आप्यते नदीभिरिति वा भावे घञ्।

सुग-दुर्गमाधारे ॥ 5. 1. 132. ॥

सु-दुर्भ्यां पराद् गमेराधारे डः प्रत्ययो निपात्यते। सुखेन दुःखेन च गम्यतेऽस्मि-न्निति-सुगः, दुर्गः पन्थाः। आधार इति किम् ? सुगन्ता, दुर्गन्ता। असरूपत्वादनडपि भवति-सुगमनः, दुर्गमनः। सुगमो दुर्गम इति कर्मणि ॥132॥

निर्गो देशे ॥ 5. 1. 133. ॥

निस्पूर्वाद् गमेराधारे देशे डो निपात्यते। निर्गम्यतेऽस्मिन् देशे इति-निर्गो देशः। देश इति किम् ? निर्गमनः ॥133॥

शमो नाम्न्यः ॥ 5. 1. 134. ॥

शमो नाम्नः पराद् धातोर्नाम्नि-संज्ञायामः प्रत्ययो भवति। शमित्यव्ययं सुखे वर्तते, तत्र भवति-शंभवोऽर्हन्। शं करोति-शंकरः, शंगरः, शंवरः, शंवदः। स्वः पश्येत्यादिष्वव्ययानां कर्मत्वदर्शनाच्छमि कर्मणि हेत्वादिष्वपि परत्वात् कृगष्टो बाध्यते-शंकरा नाम परिव्राजिका, शंकरा नाम शकुनिका तच्छीला च। नाम्नीति किम्? शंकरी जिनदीक्षा ॥134॥

न्या०स०—शमो नाम्न्यः—कर्मत्वदर्शनादिति-एकेऽव्ययानां कर्मत्वं न मन्यन्ते तन्मतमाक्षिप्याह *ऊर्ध्वादिभ्यः*—ननु कर्तृ शब्दाद् बहुवचनं प्राप्नोति ऊर्ध्वादिविशेषणत्वात्? सत्यं, सामान्यमिदमित्येकवचनं, यथा-पश्चादौ घुट्।

पार्श्वादिभ्यः शीङः ॥ 5. 1. 135. ॥

पार्श्वादिभ्यो नामभ्यः परात् शीङः 'अः' प्रत्ययो भवति। पार्श्वाभ्यां शेते-पार्श्व- शयः, एवं-पृष्ठशयः, उदरशयः। दिग्धेन सह शेते-दिग्धसहशयः, दिग्धसहात् तृतीयासमासात् शीङोऽकारः, पश्चादुपपदसमासः। बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येभ्योऽपि भवति। अनाधारार्थ आरम्भः ॥135॥

ऊर्ध्वादिभ्यः कर्तुः ॥ 5. 1. 136. ॥

ऊर्ध्वादिभ्यो नामभ्यः कर्तृवाचिभ्यः परात् शीङः 'अः' प्रत्ययो भवति। ऊर्ध्वः शेते-ऊर्ध्वशयः, एवम्-उत्तानशयः, अवमूर्धशयः। बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥136॥

आधारात् ॥ 5. 1. 137. ॥

आधारवाचिनो नाम्नः परात् शीङः 'अ' प्रत्ययो भवति। खे शेते-खशयः, गर्तशयः, गुहाशयः, हृच्छयः, 'बिलेशयः, मनसिशयः, कुशेशयः' इति सप्तम्या अलुप्। गिरिश इति संज्ञायां लोमादित्वाच्छः, क्रियार्थत्वे तु गिरिशय इति भवितव्यम् ॥137॥

न्या०स०—आधारात्-गर्त्तशय इति-फणगर्तेति पुंस्त्रीत्वे गर्त्ते शेते इति वाक्यम्। *कुशेशय इति*-कश्चित्पुमान्, जलजे तु क्लीबत्वं स्यात्। *क्रियार्थत्वे इति*-कलापके क्रियार्थत्वे तिपि साधितं, न तच्छिष्टसम्मतम्।

चरेष्टः ॥ 5. 1. 138. ॥

आधारवाचिनो नाम्नः पराच्चरेष्टः प्रत्ययो भवति । कुरुषु चरति–कुरुचरः, मद्रचरः, वनेचरः, निशाचरः । टकारो ङ्यर्थः–कुरुचरी, मद्रचरी । आधारादित्येव ? कुरुंश्चरति, पञ्चालांश्चरति ॥138॥

न्या०स०–चरेष्टः–कुरूंश्चरतीति-प्राप्यात्कर्म्मणः क्वचिदण् भवतीति यद्यणानीयते तदा समासोऽपि भवति तथा च कुरुचारः पञ्चालचारः इत्यपि ।

भिक्षा-सेना-ऽऽदायात् ॥ 5. 1. 139. ॥

अनाधारार्थ आरम्भः, एभ्यः पराच्चरेष्टो भवति । भिक्षां चरति-भिक्षाचरः, भिक्षाचरी । सेनां चरति-परीक्षते-सेनाचरस्तापसव्यञ्जनः, सेनया वा चरति-सेनाचरः । आदाय-गृहीत्वा चरति आदायचरः, आदानं कृत्वा चरतीत्यर्थः, किमादायेत्यविवक्षैव । एभ्य इति किम् ? कुरूंश्चरति ॥139॥

न्या०स०–भिक्षासे०–तापसव्यञ्जन इति-तपोऽस्यास्ति ज्योत्स्नादित्वादण् तापसः, तस्य व्यञ्जनं चिह्नं यस्य, यद्वा तपस इदं तापसं तत् व्यञ्जनं यस्य, यद्वा तापस इति व्यज्यते प्रकटीक्रियते ज्ञायते तापसव्यञ्जनः, यद्वा तापसे व्यञ्जनं व्याजो यस्येति ।

पुरो-ऽग्रतो-ऽग्रेः सर्तेः ॥ 5. 1. 140. ॥

एभ्यो नामभ्यः परात् सर्त्तेष्टो भवति । पुरः सरति पुरःसरः, पुरः-सरी । अग्रतः सरति-अग्रतःसरः, आद्यादित्वात् तस् । अग्रे सरति-अग्रेसरः सप्तम्यलुप्, एकारान्तमव्ययं वा; सूत्रनिपातनाद् वैकारः, तत्राग्रं सरति अग्रेण वा सरति-अग्रेसर इत्यपि भवति ॥140॥

पूर्वात् कर्तुः ॥ 5. 1. 141. ॥

पूर्वशब्दात् कर्तृ वाचिनः परात् सर्त्तेष्टो भवति । पूर्वः सरति–पूर्वसरः, पूर्वो भूत्वा सरतीत्यर्थः, कस्मात् पूर्व इति अविवक्षैवः पूर्वसरी । कर्तुरिति किम् ? पूर्वं देशं सरति-पूर्वसारः ॥141॥

न्या०स०–पूर्वात्कर्तुः अविवक्षैवेति तेन सापेक्षत्वात् समासो न प्राप्नोतीति न वाच्यम् ।

स्था-पा-स्ना-त्रः कः ।। 5. 1. 142. ।।

नाम्नः परेभ्य एभ्यः कः प्रत्ययो भवति । समे तिष्ठति-समस्थः, विषमस्थः, कूटस्थः, कपित्थः, दधित्थः, महित्थः, अश्वत्थः, कुलत्थः । द्विपः, पादपः, कच्छपः, अनेकपः, कटाहपः । नदीष्णः । आतपत्रम्, धर्मत्रम् । परत्वादयं ``शमो नाम्न्यः'' (5-1-134) इत्यप्रत्ययं बाधते शंस्थो नाम कश्चित् । 'शंस्थाः' इत्यसरूपत्वात् क्विप् ।।142।।

शोकापनुद-तुन्दपरिमृज-स्तम्बेरम-कर्णेजपं-प्रिया-ऽलस-हस्ति-सूचके ।।5. 1. 143. ।।

शोकापनुदादयः शब्दा यथासंख्यं प्रियादिष्वर्थेषु कप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । शोकमपनुदति-शोकापनुदः प्रियः, पुत्रादिरानन्दकर एवमुच्यते । तुन्दं परिमाष्टि-तुन्दपरिमृजोऽलसः, स्तम्बे रमते-स्तम्बेरमो हस्ती, कर्णे जपति-कर्णेजपः सूचकः । एष्विति किम् ? शोकापनोदो धर्माचार्यः, तुन्दपरिमार्ज आतुरः, स्तम्बे रन्ता पक्षी, कर्णे जपिता मन्त्री ।।43।।

मूलविभुजादयः ।। 5. 1. 144. ।।

मूलविभुजादयः शब्दाः कप्रत्ययान्ता नियतार्थधातूपपदा यथाशिष्टप्रयोगं निपात्यन्ते ।

मूलानि विभुजति-मूलविभुजो रथः, उर्व्यां रोहति उर्वीरुहो वृक्षः, कौ मोदते कुमुदं कैरवम्, महीं धरति-महीध्रः शैलः, उषसि बुध्यते-उषर्बुधोऽग्निः, अपो बिभर्तिअब्भ्रं मेघः, सरसि रोहति-सरसिरुहं पद्मम्, नखानि मुञ्चन्ति-नखमुचानि धनूंषि, काकेभ्यो गूहनीयाः–काकगुहास्तिलाः, धर्माय प्रददाति-धर्मप्रदः, एवं-कामप्रदः, शब्दप्रदः । शास्त्रेण प्रजानाति-शास्त्रप्रज्ञः, एवम्-आगमप्रज्ञः ।।144।।

न्या०स०–मूलविभूजा-उर्व्वीरुह इति-``ङस्युक्तम्'' (3-1-49) इति समासार्थमत्र पाठोऽन्यथा ``नाम्युपान्त्य'' (5-1-54) इति सिध्यति, एवं धर्म्मप्रद इत्यत्रापि, अत्र हि ``उपसर्गादातो डोऽश्यः'' (5-1-56) इति डे समासो न स्यात् ।

दुहेर्डुघः ।। 5. 1. 145. ।।

नाम्नः पराद् दुहेर्डुघः प्रत्ययो भवति । कामान् दुग्धे पूरयति-कामदुधा, धर्माय दुग्धे-धर्मदुधा । असरूपत्वात् क्विप्-कांमधुक् । डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः ।।145।।

भजो विण् ॥ 5. 1. 146. ॥

नाम्नः पराद् भजेर्विण् प्रत्ययो भवति । अर्धं भजते-अर्धभाक्, पादभाक्, दूरभाक्, प्रभाक्, विभाक् । णकारो वृद्ध्यर्थः, इकार उच्चारणार्थः, वकारो विण् क्विपोः सारूप्यार्थस्तेनात्र विषये क्विप् न भवति ॥146॥

मन् वन् क्वनिप् विच् क्वचित् ॥ 5. 1. 147. ॥

नाम्नः पराद् धातोरेते प्रत्ययाः क्वचित्-लक्ष्यानुसारेण भवन्ति ।

मन्-इन्द्रं शृणाति-इन्द्रशर्मा, सुशर्मा, सुवर्मा, सुदामा, अश्वत्थामा । क्वचिद्ग्रहणात् केवलादपि–शर्म, वर्म, हेम, दामा, पामा । वन्-भूरिदावा, घृतपावा, अग्रेगावा, विजावा-``वन्याङ् पञ्चमस्य'' (4-2-65) इत्यात्वम् । क्वनिप् प्रातरित्वा, प्रातरित्वानौ; सुधीवा, सुपीवा । केवलादपि-कृत्वा, कृत्वानौ; धीवा, पीवा । विच्-कीलालपाः, शुभंयाः, पाप्मरेट् । केवलादपि-रेट्, रोट्, वेट्, जागः । ककार-पकारौ कित्-पित्-कार्यार्थौ ॥147॥

क्विप् ॥ 5. 1. 148. ॥

नाम्नः पराद् धातोः क्विप् प्रत्ययो भवति क्वचित् । उखेन उखया वा स्रंसते उखास्रत्, वहात् भ्रश्यति-वहाभ्रट्, ``घञ्युपसर्गस्य बहुलम'' (3-2-86) इति बहुलग्रहणादुख-वहयोर्दीर्घः । पर्णानि ध्वंसते-पर्णध्वत् । शकान्-ह्वयति--शकहूः । परिव्ययतिपरिवीः । यवलूः, खलपूः, अक्षद्यूः, मित्रभूः, प्रतिभूः, कटचिकीः ।

केवलादपि-पाः, वाः, की, गीः ऊः, लूः, क्रुङ्, पक् । सदि-सू-द्विष-द्रुह-दुह-युज-विद-भिद-च्छिद-जि-नी-राजिभ्यश्च । दिवि सीदति-दिविषत्, सप्तम्या अलुप्, भीरुष्ठानादित्वात् षत्वं च । द्युसत्, अन्तरिक्षसत्, सभासत्, प्रसीदति प्रसत्, उपसत् । अण्डं सूतेअण्डसूः, शतसूः, प्रसूः । मित्रं द्वेष्टि मित्रद्विट्, 'प्रद्विट् द्विषो जेघ्नीयिषीष्ट वः' । मित्राय द्रुह्यति-मित्रध्रुक् प्रध्रुक् विध्रुक् । गां दोग्धि-गोधुक्, कामधुक् प्रधुक् । अश्वं युनक्ति युज्यते वा-अश्वयुक्, प्रयुक्; युङ्, युञ्जौ, युञ्जः । तत्त्ववित्, वेदवित् प्रवित्, 'निर्विविदे विदां वरः', विदेरविशेषेण ग्रहणम्, लाभार्थान्नेच्छन्त्येके । काष्ठं भिनत्ति-काष्ठभित्, बलभित्, प्रभित्, गोत्रभित्, भिद् । रज्जुं छिनत्ति-रज्जुच्छित्, तमश्छित्, भवच्छित्, प्रच्छित्, छित् । शत्रुं जयति-शत्रुजित्, प्रसेनजित्, कर्मजित्, प्रजित्, अभिजित् । सेनां नयति-सेनानीः, अग्रणीः, ग्रामणीः, प्रणीः; नीः, नियौ, नियः । विश्वस्मिन् राजते–विश्वाराट्, विश्वस्य ``वसु राटोः''

(3-2-81) इति दीर्घः, राजराट, सम्राट्, विराट्, राट्। अञ्चेः—दध्य-ञ्चति-दध्यङ्, देवमञ्चति-देवद्र्यङ्, अदद्र्यङ् विश्वद्र्यङ्, यिर्यङ्, सध्र्यङ, सम्यङ्, प्राङ्, प्रत्यङ्; केवलान्न भवति।

तथा ऋतौ ऋतुम् ऋतवे ऋतुप्रयोजनो वा यजते-ऋत्विग् याजकः, ``ऋत्विज्०'' (2-1-69) इत्यादिसूत्रेण गत्वम्। धृष्णोति-दधृक् प्रगल्भः, दधृगि—(षि) ति निर्देशात् द्वित्वम्। उत्स्निह्यति उन्नह्यति वा—उष्णिक् छन्दः, उष्णिगिति निर्देशात् दलोप-षत्वादि। कथं 'दिश्यते दिक् सृज्यते-स्रक्' ? कृत्संपदादित्वात् क्विप्। ककारः कित्कार्यार्थः। पकारः पित्कार्यार्थः। इकार उच्चारणार्थः ॥148॥

न्या०स०—क्विप्-उखेन उखया वेति-पुते वर्त्तमान उखशब्दः पुंस्त्री स्थाल्यां नित्य-स्त्रीति वैयाकरणा मन्यन्ते *पा इति*—``ईर्व्यञ्जने'' (4-3-97) इत्यत्र साक्षात् व्यञ्जनग्रहणात् क्विप्लोपे ईत्वं न।

स्पृशोऽनुदकात् ॥ 5. 1. 149. ॥

उदकवर्जितान्नाम्नः परात् स्पृशेः क्विप् प्रत्ययो भवति। घृतं स्पृशति-घृतस्पृक्। एवं-मर्मस्पृक्, व्योमस्पृक्। मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक्। कर्मोपपदादेवेच्छन्त्यन्ये।

अनुदकादिति किम् ? उदकस्पर्शः, उदकेन स्पर्ष्टा। अनुदक इति पर्युदासाश्रयणा-दुदकसदृशमनुपसर्गनाम गृह्यते तेनेह न भवति-उपस्पृशति ॥149॥

अदोऽनन्नात् ॥ 5. 1. 150. ॥

अन्नवर्जितान्नाम्नः परादद्‌ेः क्विप् प्रत्ययो भवति। आममत्ति-आमात्, सस्यात्। अनन्नादिति किम् ? अन्नादः। बहुलाधिकारात्-कणादः, पिप्पलादः। क्विप् सिद्धोऽन्नप्रति-षेधार्थं वचनम् ॥150॥

न्या०स०—अदोन-ननु लक्ष्यानुसारेण ``क्विप्'' (5-1-148) इति क्विप् भविष्यति किमनेन ? सत्यं, तस्यैव प्रपञ्चोऽयमिति।

क्रव्यात्-क्रव्यादावाम पक्वादौ ॥ 5. 1. 151. ॥

'क्रव्यात् क्रव्याद' इत्येतौ शब्दौ यथासंख्यं क्विबणन्तौ साधू भवतः, यद्यामात् पक्वाच्चाभिधेयौ भवतः।

क्रव्यमत्ति-क्रव्यात्, आममांसभक्षः, क्रव्यादः पक्वमांसभक्षः। क्रव्याद इति नेच्छन्त्यन्ये। आममांसवाच्यपि क्रव्यशब्दः क्रव्याद इति निपातनसामर्थ्यात् वृत्तौ पक्वमांसे वर्तते। अथवा कृत-विकृत्तशब्दस्य पक्वमांसार्थस्य पृषोदरादित्वात् क्रव्यादेशः। सिद्धौ प्रत्ययौ विषयनियमार्थं वचनम् ॥151॥

न्या०स०—क्रव्यात्-आममांसभक्ष इति-आमं च तत् मांसं चाममांसं तत् भक्षयतीति ``शीलिकामि'' (6-1-73) इति णः। *कृत्तविकृत्तशब्दस्येति*-विशेषेण कृत्तं विकृत्तं, पूर्वं कृत्तं पश्चाद्विकृत्तं कृत्तं च तद्विकृत्तं च कृत्तविकृत्तं तस्य।

त्यदाद्यन्य समानादुपमानाद् व्याप्ये दृशः टक्-सकौ च ॥ 5. 1. 152. ॥

त्यदादेरन्यशब्दात् समानशब्दाच्चोपमानभूताद् व्याप्ये कर्मणि वर्तमानात् परात् दृशेर्व्याप्य एव टक् सकौ क्विप् च प्रत्यया भवन्ति।

त्यदादि-स्य इव दृश्यते त्यादृशः, त्यादृशी, त्यादृक्षः, त्यादृक्षा, त्यादृक्, एवं—तादृशः, तादृशी, तादृक्षः, तादृक्षा, तादृक्। अन्य अन्यादृशः, अन्यादृशी, अन्यादृक्षः, अन्यादृक्षा, अन्यादृक्। समान—सदृशः, सदृशी, सदृक्षः, सदृक्षाः, सदृक्। केचित् सकमपि टितं मन्यते, तन्मते-त्यादृक्षीत्याद्येव भवति।

एभ्य इति किम्? वृक्ष इव दृश्यते। उपमानादिति किम्? स दृश्यते। व्याप्ये वर्तमानादिति किम्? तेनेव दृश्यते, तस्मिन्निव दृश्यते, अस्मिन्निव दृश्यते। व्याप्य एवेति किम्? तमिव पश्यन्तीत्यत्र कर्तरि न भवति। वचनभेदान्न यथासंख्यम् ॥152॥

कर्तुर्णिन् ॥ 5. 1. 153. ॥

कर्तु वाचिन उपामानभूतान्नाम्नः परादधातोर्णिन् प्रत्ययो भवति। कृत्वात् कर्तरि।

उष्ट्र इव क्रोशति-उष्ट्रक्रोशी, ध्वाङ्क्षरावी, खरनादी, सिंहनादी, सिंहनर्दी। कर्तुरिति किम्? शालीनिव कोद्रवान् भुङ्क्ते, उष्ट्र मिवाश्वमारोहति। उपमानभूतादित्येव? उष्ट्रः क्रोशति। अशीलार्थो जात्यर्थश्चारम्भः ॥153॥

अजातेः शीले ॥ 5. 1. 154. ॥

अजातिवाचिनो नाम्नः पराद् धातोः शीलेऽर्थे वर्तमानात् णिन् प्रत्ययो भवति? उष्णं

भुङ्क्ते इत्येवंशीलः–उष्णभोजी, शीतभोजी । अजातेरिति प्रसज्यप्रतिषेधादसत्त्ववाचिनोऽप्युपसर्गाद् भवति । उदासरतीत्येवंशीलः–उदासारी, प्रत्यासारी, प्रस्थायी, प्रतिबोधी, प्रयायी, प्रतियायी । उदाङ्-प्रत्याङ्भ्यां परं सर्तिं वर्जयित्वाऽन्यस्माद् धातोरुपसर्गपरान्नेच्छन्त्यन्ये ।

अजातेरिति किम् ? ब्राह्मणानामन्त्रयिता, शालीन् भोक्ता । प्रभोक्ता, उपभोक्ता, संभोक्ता इति बहुलाधिकारान्न भवति । शील इति किम् ? उष्णभोज आतुरः ॥154॥

न्या०स०–अजातेः–प्रसज्यप्रतिषेधादिति-पर्युदासाश्रयणे तु जातिवाचिनोद्रव्यरूपनिषेधादजातिवाचिनोऽपि द्रव्यवचनादेव स्यात् । *सर्तिं वर्जयित्वेति*-उत्प्रतिभ्यामाङः सर्त्ते- रिति परसूत्रमत्रार्थे ।

साधौ ॥ 5. 1. 155. ॥

नाम्नः परात् साधावर्थे वर्तमानात् धातोर्णिन् प्रत्ययो भवति । अशीलार्थ आरम्भः ।

साधु करोति साधुकारी, साधुदायी, चारुनर्ती, सुष्टुगामी । बहुलाधिकारात् 'साधु वादयति वादको वीणाम्, साधु गायति' इत्यादौ न भवति ॥155॥

ब्रह्मणो वदः ॥ 5. 1. 156. ॥

ब्रह्मन्शब्दात् पराद् वदेर्णिन् प्रत्ययो भवति । ब्रह्म ब्रह्माणं वा वदति-ब्रह्मवादी । अयमप्यशीलार्थ आरम्भः, जात्यर्थोऽसरूपविधिनिवृत्त्यर्थश्च ॥156॥

*न्या०स०–*ब्रह्मणो-निवृत्त्यर्थश्चेति–``कर्मणोऽण्'' (5-1-72) इत्यादेः ।

व्रता-ऽऽभीक्ष्ण्ये ॥ 5. 1. 157. ॥

व्रतं शास्त्रितो नियमः, आभीक्ष्ण्यं पौनः पुन्यम्, तयोर्गम्यमानयोर्नाम्नः पराद् धातोर्णिन् प्रत्ययो भवति ।

व्रते-अश्राद्धं भुङ्क्ते-अश्राद्धभोजी, अलवणभोजी, स्थण्डिलस्थायी, स्थण्डिलवर्ती, वृक्षमूलवासी, पार्श्वशायी, तदन्यवर्जनमिह व्रतं गम्यते । आभीक्ष्ण्ये–पुनः पुनः क्षीरं पिबन्ति-क्षीरपायिण उशीनराः, तक्रपायिणः सौराष्ट्राः, कषायपायिणो गान्धाराः, सौवीरपायिणो बाह्लीकाः ।

व्रता-ऽऽभीक्ष्ण्य इति किम् ? स्थण्डिले शेते—स्थण्डिलशयः । बहुलाधिकारादाभीक्ष्ण्येऽपीह न भवति-कुल्माषखादाश्चोलाः । अशीलार्थं जात्यर्थं च वचनम् ।।157।।

न्या०स०—व्रताभी०-सूत्रत्वात् समाहारः, कर्मधारयो वा । *अश्राद्धभोजीति*-श्राद्धं पितृदेवत्यं कर्म्म तदुद्दिश्य यत् क्रियते पिण्डादिकं तदपि श्राद्धम् । *तदन्यवर्जनमिति*-तस्या-श्राद्धस्यान्यत् श्राद्धं तस्य वर्जनम् ।

उशीनरा इति-उश्यते स्थादित्वात् कः, गौरादित्वात् ङी, उशी नगरी तस्या नराः ।

सौराष्ट्रा इति-सुराष्ट्रशब्द एकवचनान्तोऽपि केषां मते इति ``बहुविषयेभ्यः'' (6-3-45) इति नाकञ् किं त्वणेव । यद्वा सुराष्ट्रा नगरी तस्यां भवाः । *गान्धारा इति*-गन्धारदेशस्येमे तस्येदमण् ।

करणाद् यजो भूते ।। 5. 1. 158. ।।

करणवाचिनो नाम्नः पराद् भूतेऽर्थे वर्तमानाद् यजेर्णिन् प्रत्ययो भवति ।

अग्निष्टोमेनेष्टवान्-अग्निष्टोमयाजी, भवति हि सामान्यविशेषयोर्भेदविवक्षायां सामान्ययजौ विशेषयजिरग्निष्टोमः करणम् । भूत इति किम् ? अग्निष्टोमेन यजते । करणादिति किम् ? गुरूनिष्टवान् ।।158।।

निन्द्ये व्याप्यादिन् विक्रियः ।। 5. 1. 159. ।।

व्याप्यान्नाम्नः परात् विपूर्वात् क्रीणातेर्भूतेऽर्थे वर्तमानात् कुत्सिते कर्तरीन् प्रत्ययो भवति ।

सोमं विक्रीतवान्-सोमविक्रयी, घृतविक्रयी, तैलविक्रयी ब्राह्मणः । निन्द्य इति किम् ! धान्यविक्रायः, घृतविक्रायः, तैलविक्रायो वणिक् । व्याप्यादिति किम् ? ग्रामे विक्रीतवान् । भावेऽलन्तस्य मत्वर्थीयेनेना सिध्यति कुत्सायामण्बाधनार्थं वचनम् ।।159।।

हनो णिन् ।। 5. 1. 160. ।।

व्याप्यान्नाम्नः पराद् भूतेऽर्थे वर्तमानात् हन्तेर्निन्द्ये कर्तरि णिन् प्रत्ययो भवति ।

पितृव्यं हतवान्-पितृव्यघाती, मातुलघाती । असरूपत्वादणपि-पितृव्यघातः, मातुलघातः । केचित् त्वसरूपविधिं नेच्छन्ति । निन्द्य इत्येव ? शत्रुं हतवान् शत्रुघातः, चौरघातः । व्याप्यादित्येव ? —दण्डेन हतवान् । घञन्तान्मत्वर्थीयेनेना सिद्धे भूतकुत्साम्यामन्यत्र

शत्रुघातीत्यादौ मत्वर्थीयनिवृत्त्यर्थं वचनम् । अन्यत्रापीच्छत्यन्यः । एवं पूर्वसूत्रेऽपि ।।160।।

न्या०स०—हनो णि-मत्वर्थीयनिवृत्त्यर्थमिति-हननं घातः घञि पश्चान्मत्वर्थीयो न । *एवं पूर्वसूत्रेऽपीति*-पूर्वसूत्रेऽनुक्तमपि द्वितीयमिदं फलं द्रष्टव्यम्, इह तु इदमेव ततोऽसरूपत्वादणत्रानुज्ञातः, घञन्तादित्याद्यारभ्येच्छत्यन्य इति पर्यन्तं पूर्वसूत्रेऽपीत्यत्र ज्ञेयम् ।

ब्रह्म-भ्रूण-वृत्रात् क्विप् ।। 5. 1. 161. ।।

ब्रह्मादिभ्यः कर्मभ्यः पराद् भूतेऽर्थे वर्तमानाद्धन्तेः क्विप् प्रत्ययो भवति ।

ब्रह्माणं हतवान्-ब्रह्महा, भ्रूणहा, वृत्रहा । ``क्विप्'' (5-1-148) इत्यनेनैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्, चतुर्विधश्चात्र नियमः ।

1—ब्रह्मादिभ्य एव हन्तेर्भूते क्विप् नान्यस्मात्-पुरुषं हतवान्-पुरुषघातः । 'मधुहा, अहिहा, गोत्रहा, हिमहा, तमोपहा, असुरहा, आखुहा' इत्यादिषु वर्तमानभविष्यतोः कालमात्र वा ``क्विप्'' (5-1-148) इत्यनेनैव क्विप् ।

2-तथा ब्रह्मादिभ्यो हन्तेरेव भूते नान्यस्माद् धातोः क्विप्-ब्रह्माधीतवान् ब्रह्माध्याय इत्यणेव न तु क्विप् । ब्रह्मविदादयस्तु भूताविवक्षायाम् ।

3-तथा ब्रह्मादिभ्यो हन्तेर्भूते क्विबेव नान्यः प्रत्ययः—ब्रह्माणं हतवान् ब्रह्महा इति क्विबेव भवति नाण्-णिनौ । ब्रह्मघ्नादयस्तु कालसामान्येन ``ब्रह्मादिभ्यः'' (5-1-85) इति टक् प्रत्यये साधवः । कथं 'वृत्रस्य हन्तुः कुलिशम्' इति ? केवलादेव हन्तेस्तृच् पश्चाद् वृत्रेण सम्बन्धः । ❊ मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❊ इति क्विपाऽणादिरेव बाध्यते न क्त-क्तवतू ।

4-तथा ब्रह्मादिभ्यो हन्तेर्भूत एव काले क्विप् नान्यस्मिन् ब्रह्माणं हन्ति हनिष्यति वा-ब्रह्मघात इत्यणेव । तदेतत् सर्व बहुलाधिकाराल्लभ्यते ।।161।।

न्या०स०—ब्रह्मभ्रू०-कालमात्रे वा क्विबिति-कया रीत्या मधोर्हन्ता कोऽर्थः ? मधुहननयोग्यः काल इति वाक्ये क्विपि मधुहेत्यादि । *ब्रह्मघात इति*- ``ब्रह्मादिभ्यः'' (5-1-85) इति टक् प्रसङ्गेऽपि बहुलमण् ।

कृगः सु पुण्य-पाप-कर्म-मन्त्र-पदात् ।। 5. 1. 162. ।।

सुशब्दात् पुण्यादिभ्यश्च कर्मभ्यः परात् करोतेर्भूतेऽर्थे वर्तमानात् क्विप् भवति ।

सुष्ठु कृतवान्-सुकृत्, पुण्यं कृतवान् पुण्यकृत्, पापकृत्, कर्मकृत्, मन्त्रकृत्, पदकृत् । इदमपि नियमार्थं वचनम् । त्रिविधश्चात्र नियमः ।

1-एभ्यः कृग एव भूते क्विप् नान्यस्माद् धातोः—मन्त्रमधीतवान्—मन्त्राध्याय इत्यण्क्ता एव भवन्ति, न क्विप् । 'मन्त्रवित्, पापनुत्' इत्यादौ तु भूताविवक्षायां क्विप् ।

2-तथा एभ्यः कृगो भूत एव क्विप् । इह न भवति-कर्म करोति करिष्यति वा—कर्मकारः, मन्त्रकारः, पदकारः ।

3-तथा एभ्यः परात् कृगो भूते क्विबेव नान्यः प्रत्ययः, तेन कर्म कृतवान्-कर्मकार इति न भवति । एभ्य एव भूते कृगः क्विबिति धातुनियमो नेष्यते, तेन 'शास्त्रकृत्, तीर्थकृत्, वृत्तिकृत्, सूत्रकृत्, भाष्यकृत्' इत्यादयः सिद्धाः ।।162।।

न्या०स०—कृग सुपुण्य-इत्यण्क्ता एवेति-अण् च क्तौ चाण्क्ताः क्तवतुर्दर्शित एव क्तप्रत्ययस्तु आरम्भे यः क्तः स एव गृह्यते, अन्यस्य भावकर्मणोर्विधानात्, ``गत्यर्थ'' (5-1-11) इत्यस्य तु सकर्मकत्वादप्राप्तिः ।

सोमात् सुगः ।। 5. 1. 163. ।।

सोमात् कर्मणः परात् सुनोतेर्भूतेऽर्थे वर्तमानात् क्विप् भवति ।

सोमं सुतवान्-सोमसुत् । अयमपि नियमार्थो योगः । चतुर्विधश्चात्रापि नियमः । 1-सोमादेवेति नियमात्-सुरां सुतवान् सुरासाव इत्यण् । सुरासुदिति भूताविवक्षायाम् । 2-सुग एवेति नियमात्-सोमं पीतवान्-सोमपा इति विच् । 3-भूत एवेति नियमात्-सोमं सुनोति सोष्यति वा-सोमसाव इत्यण् । 4-क्विबेवेति नियमात्-सोमं सुतवान् इत्यण् न भवति ।।163।।

अग्नेश्चेः ।। 5. 1. 164. ।।

अग्नेः कर्मणः पराच्चिनोतेर्भूतेऽर्थे वर्तमानात् क्विप् भवति ।

अग्निं चितवान्-अग्निचित् । अत्रापि चतुर्विधो नियमः । 1-अग्नेरेवेति नियमात्- कुड्यं चितवान्-कुड्यचाय इत्यण् । 2-चेरेवेति नियमात्-अग्निं कृतवान्--अग्निकारः । 3-भूत एवेति नियमात्-अग्निं चिनोति चेष्यति वा-अग्निचायः । 4-क्विबेवेति नियमात् अग्निं चितवानित्यण् न भवति ।।164।।

कर्मण्यन्यर्थे ।। 5. 1. 165. ।।

कर्मणः पराद् भूतेऽर्थे वर्तमानाच्चिनोतेः कर्मणि कारकेऽग्न्यर्थेऽभिधेये क्विप् भवति।

श्येन इव चीयते स्म-श्येनचित्, एवं कङ्कचित्, रथचक्रचित्, अग्न्यर्थ इष्टकचय उच्यते। बहुलाधिकाराद्रूढिविषय एवायं दृष्टव्यः। केचित् तु संज्ञाशब्दत्वात् कालत्रयेऽप्ययं भवतीत्याहुः—श्येन इव चीयते चितश्चेष्यते वा-श्येनचित् ॥165॥

दृशः क्वनिप् ॥ 5. 1. 166. ॥

कर्मणः परात् दृशो भूतेऽर्थे वर्तमानात् क्वनिप् प्रत्ययो भवति। मेरुं दृष्टवान् मेरुदृश्वा, विश्वदृश्वा, बहुदृश्वा, परलोकदृश्वा। सामान्यसूत्रेण क्वनिपि सिद्धे भूतकाले प्रत्ययान्तरबाधनार्थं वचनम् ॥166॥

न्या०स०—दृशः क्व-प्रत्ययान्तरबाधनार्थमिति—अणादेरित्यर्थः।

सह-राजभ्यां कृग्-युधेः ॥ 5. 1. 167. ॥

सहशब्दात् राजन्शब्दाच्च कर्मणः परात् करोतेर्युधेश्च वर्तमानात् क्वनिप् प्रत्ययो भवति।

सह कृतवान्--सहकृत्वा, सहकृत्वानौ। सहयुद्धवान्-सहयुध्वा, सहयुध्वानौ। राजानं कृतवान् राजकृत्वा। राजानं योधितवान्--राजयुध्वा। युधिरन्तर्भूतण्यर्थः सकर्मकः। कर्मण इत्येव ? राज्ञा युद्धवान्। प्रत्ययान्तरबाधनार्थोऽयमप्यारम्भः ॥167॥

अनोर्जनेर्डः ॥ 5. 1. 168. ॥

कर्मणः परादनुपूर्वाज्जनेर्भूतेऽर्थे वर्तमानाड्डः प्रत्ययो भवति।

पुमांसमनुजातः पुमनुजः, स्त्र्यनुजः, आत्मानुजः। अनुपूर्वो जनिर्जननोपसर्जनायां प्राप्तौ वर्तमानः सकर्मकः ॥168॥

न्या०स०—अनोर्जने-पुमनुज-इति पुमांसमनुजननेन प्राप्तवानित्यर्थः। *जननोपसर्जनायामिति*-जननमुपसर्ज्जनं यस्याः।

सप्तम्याः ॥ 5. 1. 169. ॥

सप्तम्यन्तान्नाम्नः पराद् भूतेऽर्थे वर्तमानात् जनेर्डो भवति।

उपसरे जातः—उपसरजः, मन्दुरायां मन्दुरे वा जातः मन्दुरजः, अप्सु जातम्-अप्सुजम्, अब्जम् ।।169।।

न्या०स०—सप्तम्याः-अप्सुजमिति—``वर्षक्षर'' (3-2-26) इति वाऽलुक् ।

अजातेः पञ्चम्याः ।। 5. 1. 170. ।।

पञ्चम्यन्तादजातिवाचिनो नाम्नः पराद् भूतेऽर्थे जनेर्डो भवति ।

बुद्धेर्जातो-बुद्धिजः संस्कारः, संस्कारजा स्मृतिः, संतोषजं सुखम्, कौशल्याया जातः—कौशल्याजः, संज्ञाशब्दोऽत्रोपपदम् । अजातेरिति किम् ? हस्तिनो जातः, अश्वाज्जातः ।।170।।

न्या०स०—अजातेः प-कौशल्याज इति-कोशलस्यापत्यं स्त्री ``दुनादि'' (6-1-118) इति ञ्यः । ननु गोत्रं च चरणैः सहेति जातित्वे डो न प्राप्नोति अतोऽत्र कथम् ? इत्याह—*संज्ञाशब्द इति ।*

क्वचित् ।। 5. 1. 171. ।।

उक्तादन्यत्रापि क्वचिल्लक्ष्यानुसारेण डो भवति ।

उक्तान्नाम्नोऽन्यतोऽपि-किं जातेन किंजः, केन जातः किंजोऽनिर्ज्ञातपितृकः, अलं जातेनालंजः, द्विर्जातो द्विजः, न जातोऽजः, अधिजातोऽधिजः, उपजः, परिजः, प्रजाताः-प्रजाः, अभिजः । अकर्मणोऽपि-अनुजः । जातेरपि ब्राह्मणजः पशुवधः, क्षत्रियजं युद्धम् स्त्रीजमनृतम् । उक्ताद्धातोरन्यतोऽपि-ब्रह्मणि जीनवान् ब्रह्मज्यः । उक्तान्नाम्नो धातोश्चान्यतोऽपि-वरमाहतवान् वराहः । उक्तान्नाम्नो धातोः कारकाच्चान्यतोऽपि-परिखाता-परिखा, आखाता-आखा, उपखाता-उपखा ।

नाम-धातु-कालान्यत्वे-मित्रं ह्वयति-मित्रह्वः, अणोऽपवादो ङः । धातु-कारका-न्यत्वे-पटे हन्यते स्म-पटहः । धातुकालान्यत्वे-वार्चरति-वार्चो हंसः । नाम-कारकान्यत्वेपुंसानुजातः पुंसानुजः । नामाभावे उक्तधातु-कालान्यत्वे-अटति अतति वा-अः, कायति कामयते वा-कः, भातीति-भं नक्षत्रम् । नामाभावे उक्तधातु-काल-कारकान्यत्वे च खन्यत इति-खम् ।।171।।

*न्या०स०—क्वचित्-*वार्चो हंस इति—``वार्हपत्यादयः'' (1-3-58) इति निषेधात् ``चटते

सद्वितीये'' (1-3-7) इति शो न भवति ।

सु-यजो ङ्वनिप् ॥ 5. 1. 172. ॥

सुनोतेर्यजतेश्च भूतार्थवृत्तेङ्वनिप् भवति ।

सुतवान्—सुत्वा, सुत्वानौ, सुत्वानः । इष्टवान्-यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः । क्वनिप्-वन्भ्यां सिद्धे भूते नियमार्थं वचनम् । मन्नादिसूत्रस्थक्वचिद्ग्रहणस्यैव प्रपञ्चः । ङ्कारो गुणनिषेधार्थः । पकारः पित्कार्यार्थः । इकार उच्चारणार्थः ॥172॥

न्या०स०—सुयजो०-मन्नादिसूत्रस्थक्वचिद्ग्रहणस्यैवेति-ननु तत्रस्थ क्वचिद्ग्रहणादेव नियमो भविष्यतीत्याशङ्का ।

जॄषोऽतृः ॥ 5. 1. 173. ॥

जीर्यतेर्भूतार्थवृत्तेरतृप्रत्ययो भवति । जीर्यति स्म-जरन्, जरती । असरूपत्वात्जीर्णः, जीर्णवान् । ॠकारो दीर्घत्वप्रतिषेधार्थः ॥173॥

क्त-क्तवतू ॥ 5. 1. 174. ॥

धातोर्भूतेऽर्थे वर्तमानात् क्त-क्तवतू प्रत्ययौ भवतः ।

क्रियते स्म-कृतः, करोति स्म-कृतवान् । प्रकृतः कटं देवदत्तः, अत्र समुदायस्या-भूतत्वेऽपि कटैकदेशे कटत्वोपचारात् तस्य च निर्वृत्तत्वाद् भूत एव धात्वर्थ इत्यादिकर्मण्य-प्यनेनैव क्त-क्तवतू सिद्धौ ॥174॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ पञ्चमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥1॥

अगणितपञ्चेषुबलः पुरुषोत्तमचित्तविस्मयं जनयन् ।
रामोल्लासनमूर्तिः श्रीकर्ण कर्ण इव जयति ॥1॥

इत्याचार्यश्री० सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ-शब्दानुशासनबृहद्वृत्तेः पञ्चमाध्यायस्य न्यासतः प्रथमः पादः समाप्तः ।

॥ अर्हम् ॥

अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयपाद:

श्रु-सद-वस्भ्य: परोक्षा वा ॥ 5. 2. 1. ॥

भूत इति अनुवर्तते, श्रुणोत्यादिभ्यो धातुभ्यो भूतार्थवृत्तिभ्य: परोक्षा विभक्तिर्वा भवति।

उपशुश्राव, उपससाद, अनुवास। वावचनात् यथास्वकालमद्यतनी ह्यस्तनी च– उपाश्रौषीत्, उपाश्रृणोत्; उपासदत्, उपासीदत्; अन्ववात्सीत्, अन्ववसत्। एवं-शुश्रुवे, अश्रावि, अश्रूयतेत्यादि।

अन्ये तु श्रवादिभ्यो भूतमात्रे क्वसुमेवेच्छन्ति न परोक्षाम्। ह्यस्तनीमपीच्छत्यन्य:। बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेन भूतानद्यतनेऽपीयं ह्यस्तन्या न बाध्यते। असरूपत्वादेवाद्यतन्या-दिसिद्धौ वावचनं विभक्तिष्वसरूपोत्सर्गविभक्तिसमावेशनिषेधार्थम् ॥1॥

न्या०स०–श्रुसदवस्भ्य:–यथास्वकालमिति-स्वकालस्याऽनतिक्रमेण तथा ह्यद्यतनेऽ- द्यतनी अनद्यतने तु ह्यस्तनी।

ह्यस्तनीमपीच्छत्यन्य इति-न केवलं भूतमात्रे परोक्षां ह्यस्तनीमपीत्यर्थ:। *विभक्तिष्विति*-तेन विभक्तीनामेवान्योन्यमसरूपविधिर्नास्ति, प्रत्ययेन तु विभक्तीनामस्त्येव तेनोपश्रुतवानित्यादि सिद्धम्। *निषेधार्थमिति*-तेन ``अयदि'' (5-2-9) इति सूत्रे वत्र्स्यन्तीविषये ह्यस्तनी न।

तत्र क्वसु-कानौ तद्वत् ॥ 5. 2. 2. ॥

तत्र-परोक्षामात्रविषये धातो: परौ क्वसुकानौ प्रत्ययौ भवत:, तौ च परोक्षावद् व्यपदिश्येते। तत्र क्वसु: परस्मैपदत्वात् कर्तरि, कानस्त्वात्मनेपदत्वाद् भाव-कर्मणोरपि।

शुश्रुवान्, उपशुश्रुवान्; सेदिवान्, उपसेदिवान्, प्रसेदिवान्, आसेदिवान्, निषेदिवान्, ऊषिवान्, अनूषिवान्, अध्यूषिवान्; पेचिवान्, पाचयांचकृवान्, जग्मिवान्, पपिवान्, पेचान:, चक्राण:। परोक्षावद्भावात् द्विर्वचनादि। परोक्षावद्भावादेव कित्त्वे सिद्धे कित्करणं संयोगान्तधात्वर्थम्, तेनाजिवान्, बभज्वान्, सस्वजान:, एषु कित्त्वात् नलोप:। ऋदन्तानां गुणप्रतिषेधार्थं च–शिशीर्वान्, तितीर्वान्, पुपूर्वान्, कर्मणि-शशिराण:, ततिराण:, पपुराण:। भावे-शशिराणमित्यादि।

बहुलाधिकारात् श्रु-सद-वसिभ्य: कानो न भवति। केचित् तु-``एभ्य एव क्वसुर्ना-

न्येभ्यः, कानस्तु प्रत्यय एव नेष्यते'' इत्याहुः । अपरे तु सर्वधातुभ्यः क्वसुमेवेच्छन्ति न कानम् । भूताधिकारेणैवोक्तपरोक्षाविषयत्वे लब्धे तत्र ग्रहणं परोक्षामात्रप्रतिपत्त्यर्थम्, तेन 'पेचिवान्' इत्यादि सिद्धम् ।।2।।

*न्या०स०—तत्र क्वसु-*न लोप इति-अन्यथा ''इन्ध्यसंयोगात्'' (4-3-21) इत्यसंयोगान्तादेव कित्त्वेऽत्र नलोपो न स्यात् । *प्रत्यय एव नेष्यते इति*-तन्मते कानो नास्तीत्यर्थः । *परोक्षामात्रप्रतिपत्त्यर्थमिति*-अन्यथा ''श्रुसद'' (5-2-1) इति विहितपरोक्षाविषय एव स्यात्, तेभ्य एव भूतमात्रे विधानान्न तु ''परोक्षे'' (5-2-12) इति विहितपरोक्षाया विषये । *इत्यादि सिद्धमिति*-भूताधिकारे हि अनुवर्त्तमानेऽपरोक्ष एवातीते स्यात्, परोक्षे तु परत्वात् परोक्षा स्यादित्युभयोरप्यर्थः संगृह्यते, तेन पपाचेति वक्तव्ये पेचिवानित्यादि सिद्धम् ।

वेयिवदनाश्वदनूचानम् ।। 5. 2. 3. ।।

एते शब्दा भूतेऽर्थे क्वसु-कानान्ताः कर्तरि वा निपात्यन्ते ।

इणः क्वसुर्निपात्यते-ईयिवान्, समीयिवान्, उपेयिवान् । तथा नञ्पूर्वादश्नातेः क्वसुरिडभावश्च निपात्यते-अनाश्वान् । तथा वचेर्ब्रूगादेशाद् वाऽनुपूर्वात् कानो निपात्यते-अनूचानः । निपातनस्येष्टविषयत्वात् कर्तुरन्यत्र अनूक्तमित्याद्येव भवति । ब्रूग एवेच्छन्त्यन्ये । वावचनात् पक्षेऽद्यतन्यादयोऽपि—अगात्, उपागात्, उपैत्, उपेयाय; नाऽऽशीत्, नाऽऽश्नात्, नाऽऽश, अन्ववोचत् अन्वब्रवीत्, अन्ववक्, अनूवाच ।।3।।

न्या०स०—वेयिवदना०-''तत्र क्वसु'' (5-2-2) इत्यनेन परोक्षाविषये क्वसुकानौ विहिताविति ह्यस्तन्यादिविषये न स्यातामिति निपातनं, अत एवाऽत्राऽगात् ऐत् इत्याद्यपि वाक्यं क्रियते । *अनुक्तमित्याद्येवेति*-अत्र कानो न भवति । *उपेयायेति*-''नामिनोऽकलिहलेः'' (4-3-51) इति वृद्धौ ''पूर्वस्यास्वे'' (4-1-37) इति पूर्वस्येयादेशे च रूपम् ।

अद्यतनी ।। 5. 2. 4. ।।

भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोरद्यतनी विभक्तिर्भवति । अहार्षीत् अकार्षीत् ।।4।।

विशेषाविवक्षा-व्यामिश्रे ।। 5. 2. 5. ।।

अनद्यतनादिविशेषस्याविवक्षायां व्यामिश्रणे च सति भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोरद्यतनी

विभक्तिर्भवति ।

अकार्षीत्, अहार्षीत्, अगमाम घोषान्, अपाम पयः, अजैषीत् गर्तो हूणान्, रामो वनमगमत् । सतीऽप्यत्र विशेषस्याविवक्षा, यथा-अनुदरा कन्या, अलोमिका एडकेति । व्याभिश्रे-अद्य ह्यो वाऽभुक्ष्महि ।

विशेषाविवक्षेति किम् ? अगच्छाम घोषान्, अपिबाम पयः, अजयद् गर्तो हूणान्, रामो वनं जगाम । ह्यस्तन्यादिविषयेऽप्यद्यतन्यर्थं वचनम् ॥5॥

न्या०स०–विशेषाविवक्षा०–अनद्यतनादिविशेषस्याऽविवक्षायामिति-आदिपदात् परोक्षपरिग्रहः ।

रात्रौ वसोऽन्त्ययामास्वप्तर्यद्य ॥ 5. 2. 6. ॥

रात्रौ भूतेऽर्थे वर्तमानाद् वसतेर्धातोर्ह्यस्तन्यपवादोऽद्यतनी विभक्तिर्भवति, अन्त्य-यामास्वप्तरि-स चेदर्थो यस्यां रात्रौ भूतस्तस्या एवान्त्ययामं व्याप्याऽस्वप्तरि कर्तरि वर्तते, अद्य-तेनैवान्त्ययामेनावच्छिन्नेऽद्यतने चेत् प्रयोगो भवति नाद्यतनान्तरे ।

न्याय्ये प्रत्युत्थाने प्रत्युत्थितं कश्चित् कंचिदाह-क्व भवानुषितः ? स आह-अमुत्रा-वात्समिति । रात्र्यन्त्ययामे तु मुहूर्तमपि स्वापे ह्यस्तन्येव-अमुत्रावसमिति ॥6॥

न्या०स०–रात्रौ वसो०-अमुत्रावात्समिति-उपाध्यायस्त्वाह-रात्रेश्च चतुर्थे यामे यदा वाक्यं प्रयुङ्क्ते तदाऽमुत्रावात्समिति, तस्यातिक्रान्तरात्रिप्रहरत्रयमनद्यतनमिति ह्यस्तनीप्रसङ्गे यदा प्रयोक्ता सकलमतिक्रम्य रात्रिप्रहरत्रयं जागरितवान् तदाऽद्यतनी, यदा सुप्त्वा प्रयुङ्क्ते तदा ह्यस्तन्येव । यत्सूत्रं वसेर्लुङ रात्रिशेषे जागरणसंततावितिं तन्मतसंग्रहार्थमिदं सूत्रं व्याख्येयम् ।

स्वप्तर्यऽद्येति-कोऽर्थः ? अन्त्ययामप्रयोगे क्रियमाणे अन्त्ययामेति लुप्तसप्तम्येकव-चनान्तं पदम् ।

अनद्यतने ह्यस्तनी ॥ 5. 2. 7. ॥

आ न्याय्यादुत्थानादा न्याय्याच्च संवेशनादहरुभयतः सार्धरात्रं वा-अद्यतनः कालः, तस्मिन्नसति भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्ह्यस्तनी विभक्तिर्भवति । अकरोत्, अहरत् । अनद्यतन इति किम् ? अकार्षीत् ॥7॥

ख्याते दृश्ये ॥ 5. 2. 8. ॥

ख्याते-लोकविज्ञाते, दृश्ये प्रयोक्तुः शक्यदर्शने, भूतेऽनद्यतनेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्ह्यस्तनी विभक्तिर्भवति, परोक्षापवादः ।

अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तीन्, अजयत् सिद्धः सौराष्ट्रान् । ख्यात इति किम् ? चकार कटं चैत्रः । दृश्य इति किम् ? जघान कंसं किल वासुदेवः । अनद्यतन इत्येव ? उदगादद्यादित्यः ॥8॥

न्या०स०—ख्याते दृ-प्रयोक्तुः शक्यदर्शने इति-प्रयोक्तुश्च स एव दृश्यः यः प्रयोक्तृकालेऽनतिविप्रकर्षेण वृत्तः स्यात्, प्रयोक्तुश्चान्यत्र व्यासक्तत्वेन तद्दर्शनाऽभावात् परोक्षत्वं, तस्यार्थस्य परं स यदि तत्र व्रजति तदा पश्यत्येव तस्मिन्नर्थे ह्यस्तनी, एवं च यस्मिन् कालेऽर्थो वृत्तस्तत्कालभावी पुरुषः कुर्वन्न दुष्यति, यतोऽर्थभवनकाले तस्य पुरुषस्य तदर्थदर्शनयोग्यतायाः सद्भावात्, तथा जघान कंसं किल वासुदेव इत्यत्रापि यदि वधकालभावी प्रयोक्ता प्रयोगं कुरुते तदा तत्रापि अहन्निति भवति, यतस्तदा तस्यापि दृश्यत्वादिति, तदुक्तं—

परोक्षे लोकविज्ञाने, प्रयोक्तुः शक्यदर्शने ।
ह्यस्तने ह्यस्तनी प्रोक्ता, चैत्रो नृपमहन्निति ॥

अयदि स्मृत्यर्थे भविष्यन्ती ॥ 5. 2. 9. ॥

स्मृत्यर्थे धातावुपपदे सति भूतानद्यतनेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्भविष्यन्ती विभक्तिर्भवति, अयदि-न चेद् यच्छब्दः प्रयुज्यते ।

अभिजानासि देवदत्त ! कश्मीरेषु वत्स्यामः, स्मरसि साधो ! स्वर्गे स्थास्यामः, एवंबुध्यसे चेतयसे अध्येष्यवगच्छसि चैत्र ! कलिङ्गेषु गमिष्यामः । अयदीति किम् ? अभिजानासि मित्र ! यत् कलिङ्गेष्ववसाम ॥9॥

न्या०स०—अयदि-ने चेद्यत् शब्द इति-धात्वर्थवाचकः क्रियाविशेषणरूपो न प्रयुज्यते, यस्मादर्थे तु भविष्यन्त्येवेति न्यासः । *यत्कलिङ्गेष्ववसामेति*-क्रियाविशेषणमेतत्, यद्वसनं न स्मरसीत्यर्थः, यदा तु यस्माद्धेतोः कलिङ्गेषु उषितवन्त इति विवक्ष्यते तत्र भविष्यन्त्येव ।

वाऽऽकाङ्क्षायाम् ।। 5. 2. 10. ।।

अयदीति नानुवर्तते, स्मृत्यर्थे धातावुपपदे सति यद्ययदि वा प्रयुज्यमाने प्रयोक्तु: क्रियान्तराकाङ्क्षायां सत्यां भूतानद्यतनेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्भविष्यन्ती वा भवति ।

स्मरसि मित्र ! कश्मीरेषु वत्स्यामस्तत्रौदनं भोक्ष्यामहे पास्याम: पयांसि च, स्मरसि मित्र ! कश्मीरेष्ववसाम तत्रौदनमभुञ्जमहि; स्मरसि मित्र ! यत् कश्मीरेषु वत्स्यामो यत् तत्रौदनम् भोक्ष्यामहे, स्मरसि मित्र ! यत् कश्मीरेष्ववसाम यत् तत्रौदनमभुञ्जमहि । अत्र वासो लक्षणं भोजनं पानं च लक्ष्यमिति लक्ष्य-लक्षणयो: संम्बन्धे प्रयोक्तुराकाङ्क्षा भवति ।।10।।

कृतास्मरणा-ऽतिनिह्नवे परोक्षा ।। 5. 2. 11. ।।

कृतस्यापि व्यापारस्य चित्तव्याक्षेपादिनाऽस्मरणेऽत्यन्तापह्नवे वा गम्यमाने भूतेऽनद्यतनेऽर्थे वर्तमानाद् धातो: परोक्षाविभक्तिर्भवति, अपरोक्षकालार्थ आरम्भ: ।

सुप्तोऽहं किल विललाप, मत्तोऽहं किल विचचार, चिन्तयन् किलाहं शिर: कम्पयांबभूव, अङ्गुलिं स्फोटयामास । अतिनिह्नवे-कश्चित् केनचिदुक्त:-कलिङ्गेषु त्वया ब्राह्मणो हत:, स तदपह्नु वान आह-क: कलिङ्गान् जगाम को ब्राह्मणं ददर्श, नाहं कलिङ्गान् जगाम, इत्यत्यन्तमपह्नुते । अतिग्रहणादेकदेशापह्नवे ह्यस्तन्येव-न कलिङ्गेषु ब्राह्मणमहमहनम् ।।11।।

परोक्षे ।। 5. 2. 12. ।।

अक्षाणां पर:—परोक्ष:, अत एव निर्देशात् साधु:, अव्युत्पन्नो वा असाक्षात्कारार्थ:, भूतानद्यतने परोक्षेऽर्थे वर्तमानाद् धातो: परोक्षा विभक्तिर्भवति । यद्यपि साध्यत्वेनानिष्पन्नत्वात् सर्वोऽपि धात्वर्थ: परोक्षस्तथापि प्रत्यक्षसाधनत्वेन तत्र लोकस्य प्रत्यक्षत्वाभिमानोऽस्ति, यत्र स नास्ति स परोक्ष: ।

जघान कंसं वासुदेव:, भरतं विजिग्ये बाहुबली, धर्म दिदेश तीर्थंकर: ।।12।।

ह-शश्वद्-युगान्त:प्रच्छ्ये ह्यस्तनी च ।। 5. 2. 13. ।।

पञ्चवर्ष युगं, तस्यान्तर्मध्यं, तत्र पृच्छ्यते य: स युगान्त:प्रच्छ्य: । हे शश्वति च प्रयुज्यमाने, युगान्त:प्रष्टव्ये च भूतानद्यतने परोक्षेऽर्थे वर्तमानाद् धातोह्यस्तनी परोक्षा च विभक्ती भवत: ।

इति हाऽकरोत्, इति ह चकार, शश्वदकरोत्, शश्वच्चकार । प्रच्छ्ये-किम-गच्छस्त्वं मथुराम् ? कि जगन्थ त्वं मथुराम् ? ह-शश्वद्युगान्तः प्रच्छय इति किम् ? जघान कंसं किल वासुदेवः । वेत्येव कृते भूतानद्यतनमात्र भाविन्या ह्यस्तन्याः पक्षे सिद्धौ ह्यस्तनीविधानं स्मृत्यर्थयोगेऽपि ह्यस्तन्येव यथा स्यान्न भविष्यन्तीत्येवमर्थम्, तेन स्मरसि मित्र ! कश्मीरेष्वितिहाध्यैमहि, अभिजानासि चैत्र ! शश्वदध्यैमहि, इत्यादि सिद्धम् । क्रियान्तराकाङ्क्षायां तु ह-शश्वत्प्रयोग एव न संभवतीति नोदाह्रियते ।।13।।

न्या०स०—हशश्वद्यु-इतिहाकरोदिति-निपातसमुदायः प्रवादपारंपर्य इतिहाशब्दो वर्त्तते, यद्वा एतत् ह इति वाक्यालंकारे । *प्रयोग एव न संभवतीति*-नियातानां यथादर्शनं प्रयोगात् ।

अविवक्षिते ।। 5. 2. 14. ।।

भूतानद्यतने परोक्षे परोक्षत्वेनाविवक्षितेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्ह्यस्तनी विभक्तिर्भवतिः ।

अभवत् सगरो राजा, अहन् कंसं वासुदेवः । एवं च परोक्षानद्यतने विवक्षावशाद-द्यतनी-ह्यस्तनी-परोक्षास्तिस्त्रो विभक्तयः सिद्धाः । तथा च—``अन्वनैषीत् ततो वाली न्यक्षिपच्चाङ्गदं सुग्रीवं प्रोचे सद्भावमागतः ।''

`राक्षसेन्द्रस्ततोऽभैषीत् सैन्यं समस्तं सोऽयुयुत्सयत् स्वयं युयुत्सयांचक्रे' । तथा—

``अभूवंस्तापसाः केचित् पाण्डुपत्रफलाशिनः ।
पारिव्राज्यं तदाऽऽदत्त मरीचिश्च तृषार्दितः ।'' इति ।।14।।

न्या०स०—अविवक्षिते-तिस्त्रोऽपि विभक्तय इति-परोक्षत्वेन वा विवक्षिते ``विशेषाविवक्षा'' (5-2-5) इत्यद्यतनी, परोक्षत्वेन त्वऽविवक्षितेऽनेन ह्यस्तनी, उभयसद्भावविवक्षायां तु ``परोक्षे'' (5-2-12) इत्यनेन परोक्षा ।

वाऽद्यतनी पुराऽऽदौ ।। 5. 2. 15. ।।

`परोक्षे' इति निवृत्तम्, भूतानद्यतने परोक्षे चापरोक्षे चार्थे वर्तमानाद् धातोः `पुरा' इत्यादावुपपदेऽद्यतनी विभक्तिर्भवति वा । अपरोक्षे ह्यस्तन्याः परोक्षे तु परोक्षाया अपवादः । वावचनात् पक्षे यथाप्राप्ति ते अपि भवतः ।

अवात्सुरिह पुरा छात्राः, अवसन्निह पुरा छात्राः, ऊषुरिह पुरा छात्राः, तदाऽभा-षिष्ट राघवः, तदाऽभाषत राघवः, बभाषे राघवस्तदा । भूतानद्यतनपरोक्षेऽद्यतनीं नेच्छन्त्यन्ये,

एवमुत्तरसूत्रे पुरादियोगे वर्तमानाम् । हशश्वच्छब्दयोगेऽपि पुरादियोगे परत्वाद् विकल्पेनाऽद्यतनी-इति ह पुराऽकार्षीत्, अकरोत्, चकार, शश्वत् पुराऽकार्षीदकरोच्चकार । भूतमात्रविवक्षया-ऽद्यतन्याः सिद्धौ पुरादियोगे तद्वचनं स्मृत्यर्थ-ह-शश्वत्स्मयोगे सामान्यविवक्षयाऽद्यतनी न भवतीति ज्ञापनार्थम् ।।15।।

न्या०स०—वाद्यतनी-ते अपि भवत इति-वाकरणादऽन्यथा च शब्दं कुर्यात् । *अद्यतन्याः सिद्धाविति*—``अद्यतनी'' (5-2-4) इत्यनेन । *सामान्यविवक्षयेति*-भूतानद्यतनविवक्षायां तु पुरादियोगेऽनेन भवत्येव ।

स्मे च वर्तमाना ।। 5. 2. 16. ।।

भूतानद्यतने परोक्षेऽपरोक्षे चार्थे वर्तमानाद् धातोः स्मशब्दे पुरादौ चोपपदे वर्तमाना विभक्तिर्भवति ।

इति स्मोपाध्यायः कथयति, पृच्छति स्म पुरोधसम्, वसन्तीह पुरा छात्राः, भाषते राघवस्तदा ।

``अथाह वर्णी विदितो महेश्वरः, यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति ।'' (कुमारसम्भवे)

आदिग्रहणमिह पूर्वत्र च प्रयोगानुसरणार्थम् । एवं च पुरादियोगेऽद्यतनी-ह्यस्तनी-परोक्षा-वर्तमानाश्चतस्त्रो विभक्तयः सिद्धाः, स्म-पुरायोगे तु परत्वाद् वर्तमानैव-नटेन स्म पुराऽधीयते । एवं-ह-शश्वत्-स्म-योगेऽपि-इतिह स्मोपाध्यायः कथयति, शश्वदधीयते स्म । त्रययोगेऽप्येवम्-न ह स्म वै पुराऽग्निरपरशुवृक्णं दहतीति ।।16।।

न्या०स०—स्मे च वर्त्तमाना-स्मशब्दोऽतीतकालद्योतकश्चादिः । *पुरादियोगे इति*-ननु पुरादियोगः स्मयोगश्च भवति तदा किं पूर्वेणाद्यतनी उतानेन वर्त्तमाना इत्याह—परत्वादिति ।

ननौ पृष्टोक्तौ सद्वत् ।। 5. 2. 17. ।।

अनद्यतन इति निवृतम्, पृष्टस्य धात्वर्थस्योक्तिः प्रतिवचनं-पृष्टोक्तिः । ननुशब्दे उपपदे पृष्टोक्तौ भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः सद्वत्-वर्त्तमान इव वर्त्तमाना विभक्तिर्भवति । सद्वद्वचनादत्र विषये शत्रानशावपि भवतः ।

किमकार्षीः कटं चैत्र ? ननु करोमि भोः ! ननु कुर्वन्तं कुर्वाणं मां पश्य, किमवोचः किंचिच्चैत्र ? ननु ब्रवीमि भोः ! ननु ब्रुवन्तं ब्रुवाणं मां पश्य । पृष्टोक्ताविति किम् ?

नन्वकार्षीच्चैत्रः कटम् ।।17।।

*न्या०स०—ननौ-अनद्यतन इति निवृत्तमिति-*अपेक्षात इति न्यायात् । *ननु कुर्वन्तं कुर्वाणमिति-*करोमि कुर्वे इति वाक्ये शत्रानशौ, कृतकार्यं मां पश्येत्यर्थः ।

न-न्वोर्वा ।। 5. 2. 18. ।।

'न नु' इत्येतयोः शब्दयोरुपपदयोः पृष्टोक्तौ भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्वा वर्तमाना विभक्तिर्भवति, सा च सद्वत् ।

किमकार्षीः कटं चैत्र ? न करोमि भोः ! न कुर्वन्तं न कुर्वाणं पश्य माम्; नाकार्षम् । कस्तत्रावोचत् ? अहं नु ब्रवीमि, ब्रुवन्तं ब्रूवाणं नु मां पश्य; अहं न्ववोचम् ।।18।।

सति ।। 5. 2. 19. ।।

सन्-विद्यमानो वर्तमान इत्यर्थः, स च प्रारब्धापरिसमाप्तः क्रियाप्रबन्धः, सत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्वर्तमाना विभक्तिर्भवति ।

भवति, अस्ति, घटं करोति, ओदनं पचति । 'जीवं न मारयति, मांसं न भक्षयति' इत्यादौ नियमः प्रारब्धोऽसमाप्तश्च प्रतीयते । 'इहाऽधीमहे, इह कुमाराः क्रीडन्ति' इत्यादौ क्रियान्तरव्यवधानेऽप्यध्ययनादिक्रियायाः प्रारम्भापरिसमाप्तिरस्त्येव । 'चैत्रो भुङ्क्ते' इत्यादावपि हि क्रियान्तरव्यवधानमशक्यपरिहारम्, सोऽपि ह्यवश्यं भुञ्जानो हसति जल्पति पानीयं वा पिबतीति । 'तिष्ठन्ति पर्वताः, स्यन्दन्ते नद्यः' इत्यादौ तु स्फुटैव प्रारम्भापरिसमाप्तिः ।

कथं तर्हि 'तस्थुः स्थास्यन्ति गिरयः' इति ? भूत-भाविनां भरत-कल्किप्रभृतीनां राज्ञां याः क्रिय स्तदवच्छेदेन पर्वतादिक्रियाणामतीतत्वा-ऽनागतत्वोपपत्तेर्न भूत-भाविप्रत्ययानुपपत्तिदोषः । एवं च विद्यानकर्तृकेभ्योऽस्त्यर्थेभ्यो धातुभ्यः सर्वा विभक्तयो भवन्ति कूपोऽस्ति, कूपो भविष्यति, कूपो भविता, कूपोऽभूत्, कूप आसीत्, कूपो बभूव ।।19।।

*न्या०स०—सति-प्रारब्धापरिसमाप्त इति-*पूर्व प्रारब्धः साक्षात् साध्यत्वेन प्रस्तुतो न च परिसमाप्तः फलस्यानिष्पत्तेः, फलार्थं हि उपादीयमानायाः क्रियायाः फलेऽधिगते तस्याः परिसमाप्तिर्भवति, एवं च महताकालेन साध्यते, या क्रिया तस्या अन्तराले क्रियान्तरैर्विच्छिन्नाया अपि प्रारब्धत्वादसमाप्तत्वाच्च वर्त्तमानत्वमस्त्येव ।

*जीवं न मारयतीति-*नन्वत्र निषेधस्याभावरूपत्वात् अभावस्य च प्रारम्भापरिसमाप्ती न

घटेते इत्याह-*प्रारब्ध इत्यादि*-यावत् क्रिया प्रारब्धा न समर्थ्यते तावत्तस्याः क्रियान्तरैर्व्यवहिताया-श्चाप्यसमाप्तिः ।

तदवच्छेदेनेति-तद्विशिष्टत्वेन तयोः क्रिययोर्विभागो भूतो भविष्यन् वा भवतीत्यर्थः । *एवं चेति*-पूर्वोक्तेनैव न्यायेन भूतभविष्यत्-क्रिययोरपेक्षयेत्यर्थः ।

शत्रानशावेष्यति तु सस्यौ ॥ 5. 2 .20. ॥

सत्यर्थे वर्तमानाद् धातोः शत्रानशौ प्रत्ययौ भवत, एष्यति तु-एष्यन्मात्रे भविष्य- न्तीविषयेऽर्थे सस्यौ-स्यप्रत्ययसहितौ शत्रानशौ भवतः । स्योऽपि प्रत्ययत्वाद् धातोरेव ।

यान्, यान्तौ, यान्तः, शयानः शयानौ, शयानाः; निरस्यन्, निरस्यमानः; पचन्, पचमानः । एकविषयत्वाद् वर्तमानाऽपि याति, यातः, यान्ति, एवं सर्वत्र । तथा-सन्, अस्ति; अधीयानः अधीते; विद्यमानः, विद्यते; जुह्वत्, जुहोति; विदन्, वेत्ति; जानन् जानाति ब्राह्मणः ।

तथा तरादौ प्रत्यये-पचत्तरः, पचत्तमः, पचतितरां, पचतितमाम् । पचद्रूपः, पचतिरूपम् । जल्पत्कल्पः, जल्पतिकल्पम् । पश्यद्देश्यः, पश्यतिदेश्यम् । पठद्देशीयः, पठतिदेशीयम् । एवं-पचमानतरः, पचमानतमः, पचतेतरां पचतेतमामित्यादि ।

द्वितीयाद्यन्तपदसामानाधिकरण्य-संबोधन-तरादिवर्जिततद्धितप्रत्ययोत्तरपद-क्रिया-लक्षण-क्रियाहेतुषु वर्तमानाया अन्वयायोगात् शत्रानशावेव-पचन्तं पचमानं पश्य, पचता पचमानेन कृतम्, पचते पचमानाय देहि, पचतः पचमानाद् भीतः, पचतः पचमानस्य स्वम्, पचति पचमाने गतः, संबोधने-हे पचन् ! हे पचमान ! तराद्यन्यतद्धिते-कुर्वतोऽपत्यं कौर्वतः, पाचतः, वैक्षमाणिः, कुर्वत्पाशः, पचत्पाशः; कुर्वच्चरः, पचच्चरः। उत्तरपदे-भज्यत इति भक्तिः, कुर्वन् भक्तिरस्य-कुर्वद्भक्तिः, कुर्वाणभक्तिः; कुर्वत्प्रियः, कुर्वाणप्रियः; ब्रुवन्मा-ठरः, ब्रुवाणमाठरः । क्रियाया लक्षणं ज्ञापकं चिह्नम्, तत्र-तिष्ठन्तोऽनुशासति गणकाः, शयाना भुञ्जते यवनाः, बहुषु मूत्रयत्सु कश्चैत्र इति पृष्टः कश्चिदाह-यस्तिष्ठन् मूत्रयति, एवं-यो गच्छन् भक्षयति, यः शयानो भुङ्क्ते, योऽधीयान् आस्ते । तथा यः पठन् पचति स मैत्रः, एवं-यः पचन् पठति; योऽधीयान आस्ते, य आसीनोऽधीते । तथा–

``फलन्ती वर्द्धते द्राक्षा, पुष्यन्ती वर्द्धतेऽब्जिनी ।
शयाना वर्धते दूर्वा, आसीनं वर्धते बिसम् ॥''

क्रियाया हेतुर्जनकस्तत्र-अर्जयन् वसति, अधीयानो वसति ।

एष्यति तु सस्यौ-यास्यन्, शयिष्यमाणः, पक्ष्यन्, पक्ष्यमाणः; यास्यति, शयिष्यते,

पक्ष्यति, पक्ष्यते । तथा-भविष्यन्, भविष्यति; अध्येष्यमाणः, अध्येष्यते ब्राह्मण इत्यादि । तथा-पक्ष्यत्तरः, पक्ष्यमाणतमः, पक्ष्यतितराम्, पक्ष्यतितमामित्यादि; सर्वेष्वेकविषयत्वाद् भविष्यन्त्यपि । 'पक्ष्यन् व्रजति, पक्ष्यमाणो व्रजति' इति क्रियायां क्रियार्थायाम्, एकविषयत्वाच्च भविष्यन्त्यादयोऽपि-पक्ष्यामीति व्रजति, पाचको व्रजति, पक्तुं व्रजति । पूर्ववदेव च द्वितीयाद्यन्तसामानाधिकरण्यादिषु भविष्यन्त्याः समन्वयाभावादभावः-पक्ष्यन्तं पश्य, पक्ष्यमाणं पश्य । हे पक्ष्यन् ! हे पश्यमाण ! ब्राह्मण ! पाक्ष्यतः, पाक्ष्यमाणिः, पक्ष्यमाणपाशः, पक्ष्यद्भक्तिः, पक्ष्यमाणप्रियः, जल्पिष्यन्तो ज्ञास्यन्ते पण्डिताः, अध्येष्यमाणा वत्स्यन्तीत्यादि । सदेष्यतोरभावे तु श्वः पक्ता ।

बहुलाधिकाराद् द्रव्य-गुणयोर्लक्षणे, हेतुहेतुमद्भावद्योतके त्यादियोगे च न भवतिय: कम्पते सोऽश्वत्थः, यत् तरति तल्लघु, हन्तीति पलायते, वर्षतीति धावति, करिष्यतीति व्रजति, हनिष्यतीति नश्यति, पचत्यतो लभते, विजयतेऽतः पूज्यते । क्रियाया अपि लक्षणे चादियोगे न भवति-यः पचति च पठति च स चैत्रः, योऽधीते चास्ते च स मैत्रः, शकारः शित्कार्यार्थः । ॠकारो ङ्याद्यर्थः ॥20॥

न्या०स०—शत्रानशा०-स्योऽपि प्रत्ययत्वादिति-शत्रानशौ प्रथमं प्रधानत्वात् धातोर्विधीयेते, ततः प्रत्ययत्वादेव स्योऽपि धातोरेवानन्तरं न तु शत्रानश्भ्यां परः ।

द्वितीयाद्यन्तपदेति-शत्रानशोर्वर्त्तमानायाश्च समानविषयत्वेऽपि नातिप्रसक्तिरपि, द्वितीयाद्यन्तेन पदेन द्रव्याभिधायिना वर्त्तमानान्तेन च क्रियाभिधायिना सत्ता पश्येत्यादिक्रियायाः सामानाधिकरण्याऽसंभवात् संबोधने च सिद्धविषयत्वात् साध्यवाचिनि वर्त्तमाना- न्ताऽनुपपन्नत्वा-त्तरादिवर्जिततद्धितप्रत्ययस्योत्तरपदस्य च नामत्वे सति संभवाल्लक्षणहेतुत्वयोरपि सिद्धधर्मत्वात् साध्याभिधायिनाऽन्वयायोग, एतदेव पचन्तमित्यादिना क्रमेण दर्शयति ।

कुर्वन् भक्तिरस्येति-भज्यत इति कर्म्मणि क्तो भक्तिः सेव्य इत्यर्थः, अत्र वाच्ये पुंलिङ्गेऽपि शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् क्त्यन्तस्य स्त्रीलिङ्गतैव । *तिष्ठन्तोऽनुशासति गणका इति*-अत्राऽनुशासनक्रियया गणका लक्ष्यन्ते, सा चाऽनुशासनक्रिया उपविष्ट उर्द्ध्वं गच्छत्युभयविषयत्वेन दुर्लक्षा अतः स्थानक्रियया लक्ष्यते । नन्वनुशासतीत्यत्रापि वर्त्तमाना न प्राप्नोति, यतोऽनयापि गणका लक्ष्यन्ते ? न, क्रियायाः कर्म्मतापन्नाया लक्षणमिति वचनात् द्रव्यादेर्गणकस्य लक्षणे वर्त्तमाना भवत्येव । *चादियोगे न भवतीति* न केवलं द्रव्यगुणयो- र्लक्षणे चादियोगे सति क्रियाया अपि लक्षणे न भवति, यः पचति चेत्यादौ न क्रिययो- र्लक्ष्यलक्षणभावो विवक्षितः, क्रमेण हि प्रतीयमानयोरर्थयोर्लक्ष्यलक्षणभावः स्याज्जन्यजनकभावो वा, अत्र तु तुल्यकालतैव क्रिययोरऽत

एव तद्द्योतकौ च शब्दौ प्रयुज्येते इति । स मैत्र इत्युभयत्र संबध्यते इति द्रव्यलक्षणे न भवति, क्रियालक्षणेऽपि न भवति, तथाहि-कुत्रापि एकस्मिन् प्रमातरि पचनपठनयोर्लक्ष्यलक्षणभावो येन गृहीतः स एवं ब्रवीति, यः पचति च स पठति च, एवं पचनक्रियालक्षणं पठनक्रिया लक्ष्या, चादियोगाऽभावे तु शत्रानशौ भवत एव, यथा पचन् पचमानो वा स पठति ।

तौ माङ्याक्रोशेषु ॥ 5. 2. 21. ॥

माङ्युपपदे आक्रोशे गम्यमाने सति तौ-शत्रानशौ प्रत्ययौ भवतः, बहुवचनादसत्यपि । मा पचन् वृषलो ज्ञास्यति, मा पचमानोऽसौ मर्तुकामः ।

``मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याजननिरेवास्तु, जननीक्लेशकारिणः'' ॥1॥

(शिशुपालवधे, सर्ग-2)

शत्रानशोरनुवृत्तावपि `तौ' ग्रहणमवधारणार्थम्, तेनात्र विषये असरूपविधिनाप्यद्यतनी न भवति । भवतीत्यपि कश्चित् ॥21॥

न्या०स०—तौ माङ्या-बहुवचनादसत्यपीति-तेन ये केचित् सत्यसति वा आक्रोशास्तेषु शत्रानशौ भवत इति व्याख्येयम् । *मा पचन् वृषल इत्यादि*-मा पाक्षीत्, मा पक्त, मा जीवीदित्यादि वाक्यमऽर्थकथनम्, यावता आक्रोशविवक्षायामनेन शत्रानशावेव, असरूपविधिनाप्यत्राद्यतनी नेष्टा । केचिदऽसरूपविधिमिच्छन्ति, तन्मतेन वा वाक्यम् यद्वा मा क्लेदयन्, मा क्लेदयमानः, मा प्राणान् धारयन्नित्यर्थान्तरेण वा वाक्यम् ।

वा वेत्तेः क्वसुः ॥ 5. 2. 22. ॥

सत्यर्थे वर्तमानाद् वेत्तेः क्वसुप्रत्ययो वा भवति, पक्षे यथाप्राप्तम् ।

विद्वान्, साधुस्तत्त्वं विद्वान् विदन् वेत्ति । विदुषा कृतम्, विदता कृतम् । हे विद्वन् !, हे विदन् ! । वैदुषः, वैदतः । विद्वद्भक्तिः । विदद्भक्तिः । विद्वानास्ते, विदन्नास्ते । विद्वाल्लंभते, विदल्लंभते । द्वितीयाद्यन्तपदसामानाधिकरण्यादिषु पूर्ववदनन्वयादेव न वर्तमाना । ककारः कित्कार्यार्थः । उकारो ङ्यर्थः ॥22॥

न्या०स०—वा वेत्तेः—``असरूपोऽपवादेन'' (5-1-16) इत्यनेन विकल्पे सिद्धे वाग्रहणमत्र

प्रकरणे असरूपविधेर्लक्ष्यानुरोधार्थं, अत एव ``वयः शक्ति'' (5-2-14) इत्यत्रानभिधानान्न वाऽसरूपः शतृरित्युक्तम् ।

कित्कार्याद्यर्थ इति-आदिपदात् ``तृन्नुदन्त'' (2-2-90) इत्यादि ।

पूङ् यजः शानः ।। 5. 2. 23. ।।

सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां पवति-यजिभ्यां परः शानः प्रत्ययो भवति, कृत्त्वात् कर्तरि ।

पवते-पवमानः, मलयं पवमानः । यजति यजते वा-यजमानः । आनशा योगे न षष्ठीसमासो, न च यजेरफलवति कर्तरि सोऽस्तीति वचनम्, एवमुत्तरत्रापि । शकारः शित्कार्यार्थः ।।23।।

न्या०स०–पूङ्यजः–मलयं पवमान इति–``तृन्नुदन्त'' (2-2-90) इत्यनेन आनद्वारा कर्मषष्ठीनिषेधे मलयस्य संबन्धी पवमान इति संबन्धषष्ठीसमासः । ननु पूङ् आत्मनेपदित्वात् यजेरप्युभयपदित्वात् फलवत्कर्त्तरि ``शत्रानशौ'' (5-2-20) इत्यनेनैव वानश् सिद्धः किमनेन ? इत्याह–*आनशा योगे न षष्ठीसमासः*-तृप्तार्थेति निषेधात् ।

वयः शक्ति-शीले ।। 5. 2. 24. ।।

सत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्वयः–शक्ति-शीलेषु गम्यमानेषु शानो भवति, वयः–प्राणिनां कालकृता बाल्याद्यवस्था ।

कतीह शिखण्डं वहमानाः, स्त्रियं गच्छमानाः । शक्तिः–सामर्थ्यम्, कतीह हस्तिनं निघ्नानाः, समश्नानाः । शीलं-स्वभावः, कतीहात्मानं वर्णयमानाः, परान्निन्दमानाः । अनभिधानान्न वाऽसरूपः शतृः ।।24।।

धारीङोऽकृच्छ्रेऽतृश् ।। 5. 2. 25. ।।

अकृच्छ्रः–सुखसाध्यः, अकृच्छ्रे सत्यर्थे वर्तमानाद् धारेरिङश्च परोऽतृश् प्रत्ययो भवति ।

धारयन् आचाराङ्गम्, अधीयन् द्रुमपुष्पीयम् । अकृच्छ्र इति किम् ? कृच्छ्रेण धारयति यतिधर्मम्, कृच्छ्रेणाधीते पूर्वगतम् । इङ आनशि प्राप्ते धारेरुभयप्राप्तौ वचनम् । वाऽसरूपोऽपि नेष्यत एव ।।25।।

*न्या०स०–धारीङो–*इङ् इत्यात्मनेपदित्वात् फलवत्कर्त्तरि घोरश्च सामान्यसूत्रेण शतृन

प्राप्नोतीति सूत्रं कर्त्तव्यम्, तथापि प्रत्ययान्तरं मा विधायि शतृरेव विधीयतां सूत्रसामर्थ्यादिङ आत्मनेपदिनोऽपि भविष्यति ? नैवं, इङ आत्मनेपदित्वेऽपि विधानसामर्थ्यात् शतृः स्यात् धारेस्तु फलवत्कर्त्तरि अकृच्छ्र एवार्थे शतृरिति नियमार्थः स्यात्, यद्वा धारीत्युभयपदी ततश्च यद्युभयपदिनामऽकृच्छ्रे शतृः स्यात्, तदा घारेरेवेति नियमः स्यात् ।

आचाराङ्गमिति-आचारप्रतिपादकमङ्गमाचाराङ्गं, आचर्यते शोभनं कर्मानेन ``व्यञ्जनाद् घञ्'' (5-3-132) आचारश्च तदङ्गं चेति वा ।

द्रुमपुष्पीयमिति-द्रुमपुष्पमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, ``शिशुक्रन्दादिभ्य ईयः'' (6-3-200), अथवा द्रुमपुष्पस्य तुल्यं ``काकतालीयादयः'' (7-1-117), अथवा द्रुमपुष्पमत्रास्ति ``सूक्तसाम्नोरीयः'' (7-2-71) ।

कृच्छ्रेण धारयतीति-अत्र शत्रानशावपि भवतः । *यतिधर्ममिति* यमनं यतं तदस्यास्ति इन् यतिनो धर्म्मः, यदा तु यतिधातोरौणादिक इप्रत्ययस्तदा यतेर्द्धर्म्मः ।

सुग्-द्विषा-ऽर्हः सत्रि-शत्रु-स्तुत्ये ।। 5. 2. 26. ।।

सत्यर्थे वर्तमानात् सुनोतेर्द्विषोऽर्हश्च धातोर्यथासंख्यं सत्रिणि शत्रौ स्तुत्ये च कर्तरि अतृश् प्रत्ययो भवति ।

सत्री-यजमानः, सर्वे सुन्वन्तः, यज्ञस्वामिन इत्यर्थः । चौरं द्विषन्, चौरस्य द्विषन्, शत्रुरित्यर्थः । पूजामर्हन्, प्रशस्य इत्यर्थः । एष्विति किम् ? सुरां सुनोति, भार्यां द्वेष्टि परं पश्यन्तीम्, वधमर्हति चौरः ।।26।।

न्या०स०–सुग्द्वि-नन्वेषु शतृप्रत्यये अतृश प्रत्यये वा रूपसाम्यान्न कश्चिद्विशेषः ? उच्यते, प्राकृते शत्रानशौ इति सूत्रे विशेषोऽस्ति ।

तृन् शील-धर्म-साधुषु ।। 5. 2. 27. ।।

शीले धर्मे साधौ च सत्यर्थे वर्तमानाद् धातोस्तृन् प्रत्ययो भवति ।

शीले-कर्ता कटम्, वदिता जनापवादान्, करणं वदनं चास्य शीलमित्यर्थः । धर्मः-कुलाद्याचारः, तत्र-वधूमूढां मुण्डयितारः श्राविष्टायनाः, श्राद्धे सिद्धमन्नमपहतरि आह्वरकाः, मुण्डनादि तेषां कुलधर्म इत्यर्थः । साधौ-गन्ता खेलः, कर्ता विकटः, साधु गच्छति साधु करोतीत्यर्थः ।

नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तृशब्दा औणादिकाः पितृमात्रादिवत्, अत एवैषामार्विधौ

पृथगुपादानम् । शीलादिष्विति किम् ? कर्ता कटस्य । बहुवचनं ``सन्-भिक्षाशंसेरुः'' (5-2-33) इत्यादौ यथासंख्यपरिहारार्थम् । नकारः सामान्यग्रहणविधातार्थः ।।27।।

न्या०स०—तृन्शील-श्राविष्ठायता इति-श्रूयतेऽनेन ``पुन्नाम्नि'' (5-3-130) इति घः, श्रवोऽस्त्यासां श्रववत्यः, अतिशयेन श्रववत्य इति विगृह्य इष्ठप्रत्यये पुंभावे ``विन्मतोः'' (7-4-32) इति लुपि श्रविष्ठा घनिष्ठास्ताभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तः कालः, ``चन्द्रयुक्त'' (6-2-6) इत्यणि लुपि श्रविष्ठास्तासु जाता ``श्रविष्ठाषाढा'' (6-3-105) इति अः, श्रविष्ठाया अपत्यानि वृद्धानि ``अश्वादेरायनञ्'' (6-1-49) ।

भ्राज्यलंकृग्-निराकृग्-भू-सहि-रुचि-वृति-वृधि-चरि-प्रजना-ऽपत्रप इष्णुः ।। 5. 2. 28. ।।

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य इष्णुः प्रत्ययो भवति ।

भ्राजनशीलो भ्राजनधर्मा साधु भ्राजते वा-भ्राजिष्णुः, ``भ्राजिष्णुना लोहितचन्दनेन'', अलंकृग्-अलंकरिष्णुः, निराकृग्-निराकरिष्णुः, भू-भविष्णुः, ``सर्वेषां भविष्णूनां जन्यानां न तु स योग्यः'' । सह्-सहिष्णुः, रुच्-रोचिष्णुः, वृत्-वर्तिष्णुः, वृध्-वर्धिष्णुः, चर्-चरिष्णुः, प्रजन्-प्रजनिष्णुः, अपत्रप्-अपत्रपिष्णुः । भ्राजेर्नेच्छन्त्येके ।।28।।

उदः पचि-पति-पदि-मदेः ।। 5. 2. 29. ।।

उत्पूर्वेभ्य एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य इष्णुर्भवति ।
उत्पचिष्णुः, उत्पतिष्णुः, उत्पदिष्णुः, उन्मदिष्णुः । पदेर्नेच्छन्त्यन्ये ।।29।।

भू-जेः ष्णुक् ।। 5. 2. 30. ।।

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां भू-जिभ्यां ष्णुक् प्रत्ययो भवति । भूष्णुः, जिष्णुः । ककारः कित्कार्यार्थः ।।30।।

स्था-ग्ला-म्ला-पचि-परिमृजि-क्षेः स्नुः ।। 5. 2. 31. ।।

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः स्नुप्रत्ययो भवति ।
स्थास्नुः, म्लास्नुः पक्ष्णुः, परिमार्क्ष्णुः, क्षेष्णुः । म्लादिभ्यः केचिदेवेच्छन्ति ।।31।।

न्या०स०—स्थाग्लाम्ला-परिमाक्ष्णुरिति—``धूगौदितः'' (4-4-38) इत्यनेन विकल्पेनेटि प्रत्यये परिमार्जिष्णुरित्यपि ।

क्षेष्णुरिति—`क्षिंष्श् इत्यस्य न सानुबन्धत्वात् ।

त्रसि-गृधि-धृषि-क्षिपः क्नुः ॥ 5. 2. 32. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य एभ्यः क्नुः प्रत्ययो भवति । त्रस्नुः, गृध्नुः, धृष्णुः, क्षिप्नुः ॥32॥

सन्-भिक्षाऽऽशंसेरुः ॥ 5. 2. 33. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्त्तमानात् सन्प्रत्ययान्ताद् धातोर्भिक्षा-शंसिभ्यां च पर उः प्रत्ययो भवति ।

चिकीर्षुः, जिहीर्षुः, भिक्षुः । `आशंस्' इति ``आङः शसुङ् इच्छायाम्' इत्यस्य ग्रहणम्, न तु ``शंसू स्तुतौ च' इत्यस्य, तत्राङ्योगस्यानियतत्वात् । आशंसुः । स्तुत्यर्थ-स्यापीच्छत्यन्यः ॥33॥

न्या०स०—सन्भिक्षा—गर्गादौ जिगीषुशब्दपाठात् सन्निति सन्प्रत्ययान्तस्य ग्रहः, न भिक्षादिसाहचर्यात् सनतिसनोत्योर्द्धात्वोः प्रत्ययाप्रत्यययोरिति न्यायाद् वां इत्याह-सन्प्रत्ययान्तादिति ।

विन्द्विच्छू ॥ 5. 2. 34. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्त्तमानाद् वेत्तेरिच्छतेश्च उः प्रत्ययो यथासंख्यं नोपान्त्य-छकारा-न्तादेशौ च निपात्यन्ते ।

वेदनशीलो-विन्दुः, एषणशील-इच्छुः । कथमपां विन्दुः ? विन्देरवयवार्थात् औणा-दिक उः । अन्ये त्वस्यैव निपातनं, क्रियानिमित्तस्तु विन्दुरित्यनागमिक एवेत्याहुः । सर्व-विदीनां सर्वेषीणां च निपातनमिदमित्यन्यः ॥34॥

शॄ-वन्देरारुः ॥ 5. 2. 35. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां शॄश-वन्दिभ्यामारुः प्रत्ययो भवति । शृणातीत्येवंशीलः—शरारुः, विशीर्यते-विशरारुः । वन्दते-वन्दारुः ॥35॥

दा-ट्धे-सि-शद-सदो रुः ॥ 5. 2. 36. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो 'दारूप ट्धे सिशद सद' इत्येतेभ्यो रुः प्रत्ययो भवति ।

ददाति, दयते, यच्छति, द्यति, दाति, दायति वेत्येवंशीलो दारुः । कथं द्यति तदिति-दारु काष्ठम् ? औणादिकः कर्मणि रुः । धयति-धारुर्वत्सो मातरम् । सिनोतिसेरुः । शीयते-शद्रुः । सीदति-सद्रुः । एभ्य इति किम् ? दधातीत्येवंशीलो-दधिर्गाः । ट्धेग्रहणाद् दारूपमिह गृह्यते न संज्ञा ॥36॥

शीङ् श्रद्धा-निद्रा-तन्द्रा-दयि-पति गृहि-स्पृहेरालुः ॥ 5. 2. 37. ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य आलुः प्रत्ययो भवति ।

शेते इत्येवंशीलः—शयालुः। श्रत्पूर्वो धाग्, श्रद्धत्ते—श्रद्धालुः । निद्राति निद्रायति वा-निद्रालुः, तत् द्राति द्रायति वा-तन्द्रालुः, निपातनात् तदो दस्य नः, तन्द्रेति सौत्रो वा । दयते-दयालुः । पति-गृहि-स्पृहयोऽदन्ताश्चौरादिकाः, पतिगृही सौत्राविकारान्तौ वा, पत-पति-पतयालुः, गृहयते-गृहयालुः, स्पृहयति-स्पृहयालुः, मृगयतेरपि कश्चित्-मृगयालुः ।

लज्जालुः, ईर्ष्यालुः, शलालुप्रभृतयस्त्वौणादिकाः । कृपालु हृदयालू मत्वर्थीयान्तौ ॥37॥

ङौ सासहि-वावहि-चाचलि-पापति ॥ 5. 2. 38. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानानां सहि-वहि-चलि-पतीनां यङन्तानां ङौ सति यथासंख्य-मेते निपात्यन्ते । अत एव वचनात् ङिरपि ।

सासह्यते इत्येवंशीलः—सासहिः । वावह्यते-वावहिः । चाचल्यते चाचलिः । पनीपत्यते पापतिः, निपातनात् न्यागमाभावः । ङाविति ङकारः ``तृन्नुदन्ताव्ययक्वस्वान०'' (2-2-90) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥38॥

सस्त्रि-चक्रि-दधि-जज्ञि-नेमि ॥ 5. 2. 39. ॥

एते शीलादौ सत्यर्थे कृतद्विर्वचना ङिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ।

सरतीत्येवंशीलः—सस्त्रिः करोति-चक्रिः, दधाति दधिः, जायते जानाति वा जज्ञिः, नमति-नेमिः, द्विर्वचनाभाव एत्वं च निपातनात् ॥39॥

शॄ-कम-गम-हन-वृष-भू-स्थ उकण् ॥ 5. 2. 40. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य एभ्य उकण् प्रत्ययो भवति ।

शृणातीत्येवंशीलः–शारुकः, प्रशारुकः शरः । कामुकः, कामुकी रिरंसुः, कामुका येच्छां विना कामयते, कामुका अन्यस्य स्त्रियो भवन्ति । गामुकः, आगामुकः स्वगृहम् । घातुकः, आघातुको व्याधः । वर्षुकः, प्रवर्षुकः पर्जन्यः । भावुकः, प्रभावुकः क्षत्रियः । स्थायुकः प्रमत्तः, उपस्थायुको गुरुम्, गुणानधिष्ठायुकः ।।40।।

न्या०स०–शृकमगम-कामुका अन्यस्येति–``अकमेरुकस्य'' (2-2-93) इत्यत्र कमिवर्ज्जनान्न षष्ठीनिषेधः ।

लष-पत-पदः ।। 5. 2. 41. ।।

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य एभ्य उकण् प्रत्ययो भवति ।

अपलषतीत्येवंशीलमपलाषुकं नीचसांगत्यम्, अभिलाषुकः । उत्पातुकं ज्योतिः, प्रयातुका गर्भाः । उपपादुका देवाः । योगविभाग उत्तरार्थः ।।41।।

भूषा-क्रोधार्थ-जु-सृ-गृधि ज्वल-शुचश्चानः ।। 5. 2. 42. ।।

भूषार्थेभ्यः क्रोधार्थेभ्यो जु-सृ-गृधि-ज्वलशुचिभ्यो लष-पत-पदिभ्यश्च शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्योऽनः प्रत्ययो भवति ।

भूषार्थे-भूषयतीत्येवंशीलो-भूषणः कुलस्य, मण्डना गगनस्य भाः, प्रसाधनः । क्रोधार्थे-क्रोधनः, कोपनः, रोषणः । जवतिः सौत्रो वेगाख्ये संस्कारे वर्तते, तेन चल्यर्थद्वारेण न सिध्यतीतीहोपादानम् । जवनः । सु-सरणः, गृधू-गर्धनः, ज्वल-ज्वलनः, शुच-शोचनः, लष-अभिलषणः, पत-पतनः । पदेरिदित्त्वादुत्तरेणैव सिद्धे सकर्मकार्थं वचनम् । अर्थस्य पदनः ग्रन्थस्य पदनः; पदनः क्षेत्राणाम् ।

उत्तरत्र सकर्मकेभ्योऽपि विधिरित्येकेषां दर्शनम्, तथा चोकणा बाधितोऽप्यसरूपत्वात् पदेरनः प्रत्ययो भविष्यतीति चेत् ? एवं तर्हि शीलादिप्रत्ययेष्वसरूपत्वेन शीलादिप्रत्ययो न भवतीति ज्ञापनार्थं पदिग्रहणम्, तेन-चिकीर्षिता कटम्, अलंकर्ता कन्यामिति न भवति । कथं तर्हि `गन्ता खेलः, आगामुकः; भविता, भावुकः; जागरिता, जागरूकः, विकत्थनः, विकत्थी; भासनं, भासुरम्; वर्धनः, वर्धिष्णुः; अपलाषुकः, अपलाषी; कम्पना कम्प्रा शाखा; कमना कामुका युवतिः ?' क्वचित् समावेशोऽपि भवति । एतदर्थमेव च ``न ण्यादि०'' (5-2-45) सूत्रे दीपिग्रहणम्, अन्यथा रेणाऽनोऽस्य बाध्येतेति तदनर्थकं स्यात् । अनस्यैव

विषये समावेश इत्येके ।।42।।

न्या०स०—भूषाक्रोधार्थ०-वेगाख्ये इति-स्थिति-स्थापक-भावनादिभेदात् त्रिधा संस्कारः, वेगाख्यस्तु चलनस्य हेतुरेव न तु चलनमित्यर्थः । *अपलाषुक इति*-निरुपसर्गस्य उकणश्चरितार्थत्वमतो न समानविषयता ।

चल-शब्दार्थादकर्मकात् ।। 5. 2. 43. ।।

चलनार्थाच्छब्दार्थाच्च धातोः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानादकर्मकादविवक्षितकर्मकाद् वा परोऽनः प्रत्ययो भवति ।

चलतीत्येवंशीलः—चलनः, कम्पनः, चोपनः, चेष्टनः । शब्दयतीत्येवंशीलः—शब्दनः, रवणः, आक्रोशनः । अकर्मकादिति किम् ? पठिता विधाम् ।।43।।

इङितो व्यञ्जनाद्यन्तात् ।। 5. 2. 44. ।।

व्यञ्जनमादिरन्तश्च यस्य सव्यञ्जनाद्यन्तः । इदनुबन्धात् ङानुबन्धाच्च व्यञ्जनाद्यन्ताद् धातोः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानादनः प्रत्ययो भवति ।

इदित्, ,स्पर्धि-स्पर्धनः । ङित्, वृतूङ्-वर्तनः, वृधूङ-वर्धनः । णेरतश्च विषय एव लोपे व्यञ्जनान्तत्वात् इहापि भवति-चितिण्-चेतनः, गुपि-जुगुप्सनः, मानि-मीमांसनः । इङित इति किम् ? स्वप्ता । व्यञ्जनाद्यन्तादिति किम् ? एधिता, शयिता । अकर्मकादित्येव ? वासिता वस्त्रम्, सेविता विषयान् । कथमुत्कण्ठावर्धनैरिति ? नात्र कर्मषष्ठीसमासो वृधेरकर्मकत्वात्, किन्तु तृतीयासमासः, उत्कण्ठया वर्धनैः, वर्धमानोत्कण्ठाशीलैरिति यावत् । अन्ये त्वत्कर्मकादेवेति नेच्छन्ति ।।44।।

न्या०स०—इङितो-इहापि भवतीति-अन्यथाऽनेकस्वरात् ``निन्दहिंस'' (5-2-68) इति णकः स्यात् । *जुगुप्सन इति*-नन्वत्राकारस्य विषयेऽपि लोपे सन्नन्तस्य ङिदित्त्वाभावादनो न प्राप्नोति ? न, अत्र गुपेः स्वार्थे एव सन् ततश्च गुपिलक्षणे ❊ अवयवे कृतं लिङ्ग समुदायस्याऽपि विशेषकम् ❊ इति न्यायात् गुपिरेव द्रष्टव्यः ।

ननु तथापि सन्नन्तत्वात् ``सन्भिक्ष'' (5-2-33) इत्यादिना उः प्रत्ययः प्राप्नोति ? नैवं, विषयव्याख्यानात्, यद्यकारलोपेऽपि उः प्रत्ययस्तदा विषयव्याख्या फलं न ।

न णिङ्-य-सूद-दीप-दीक्षः ।। 5. 2. 45. ।।

णिङन्तेभ्यो यान्तेभ्यः सूदादिभ्यश्च धातुभ्यः शीलादौ सत्यर्थेऽनः प्रत्ययो न भवति ।

भावयिता, हस्तयिता, उत्पुच्छयिता, क्ष्मायिता, क्रूयिता, दयिता, सूदिता, दीपिता, दीक्षिता । मधुसूदनाऽरिसूदन-बलसूदनादयो नन्द्यादिषु द्रष्टव्याः ।।45।।

न्या०स०—न णिङ्य- भावयितेति-अत्रानेकस्वरत्वात् णिकविषये णिलोपात् व्यञ- नान्तत्वात् अनः प्राप्तः प्रतिषिध्यते, तत इटि सति ``णेरनिटि'' (4-3-83) इत्युक्तेः पुनर्नि- वर्त्तते एवं हस्तयितेत्यादौ भावना ।

द्रम-क्रमो यङः ।। 5. 2. 46. ।।

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां यङन्ताभ्यां द्रमि-क्रमिभ्यामनः प्रत्ययो भवति ।

कुटिलं द्रमति क्रामतीत्येवंशीलः—दन्द्रमणः, चङ्क्रमणः । सकर्मकार्थं वचनम्, य इति प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थं च । ``अतः'' (4-3-82) इति हि लुक् प्रत्यये विषयभूतेऽपि भवति ।।46।।

न्या०स०—द्रमक्रमो-सकर्मकार्थमिति-``इङितः'' (5-2-44) इत्यनेन तु अकर्म्मकाद्विहितः । *प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थमिति*-ननु यदि सकर्म्मकार्थमारम्भस्तदा न विधेयः, यतोऽविवक्षितकर्मका- भ्यामाभ्यां ``इङितः'' (5-2-44) इत्यनेन भविष्यतीत्याह-*य इतीति*-ननु यङोऽकारान्तत्वात् कथं यान्तत्वमित्याह-*अत इतीति । विषयेभूतेऽपीति*-अनेकस्वरत्वाण्णकस्य ।

यजि-जपि-दंशि-वदादूकः ।। 5. 3. 47. ।।

एभ्यो यङन्तेभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य ऊकः प्रत्ययो भवति ।

भृशं पुनः पुनर्वा यजतीत्येवंशीलो-यायजूकः, जंजपूकः, दन्दशुकः, वावदूकः । अन्येभ्योऽपीति केचित्-दंदहूकः, पापयूकः, निजागदूकः, नानशूकः, पंपशुकः ।।47।।

जागुः ।। 5. 2. 48. ।।

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाज्जागर्तेरूकः प्रत्ययो भवति, यङ इति निवृत्तम् । जागर्ती- त्येवंशीलो-जागरूकः ।।48।।

न्या०स०–जागु: यङ इति निवृत्तमिति-अनेकस्वरत्वेनासंभवात् ।

शमष्टकाद् घिनण् ॥ 5. 2. 49. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः शमादिभ्योऽष्टाभ्यो धातुभ्यो घिनण् प्रत्ययो भवति ।

शाम्यतीत्येवंशीलः–शमी, दमी, तमी, श्रमी, क्षमी, प्रमादी, उन्मादी क्लमी । घञन्तान्मत्वर्थीयेन सिद्धयति तृन्बाधनार्थ तु वचनम् । अष्टकादिति किम् ? असिता । णकारो वृद्धयर्थः । घकार उत्तरत्र कत्व-गत्वार्थः । अभिधानात् घिणन् अकर्मकेभ्यस्तेनेह न भवति-अरण्यं भ्रमिता, सकर्मकेभ्यस्तु यथादर्शनं दर्शयिष्यामः ॥49॥

युज-भुज-भज-त्यज-रञ्ज-द्विष-दुष-द्रुह-दुहा-ऽभ्याहनः॥5.2.50.॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः घिनण् भवति ।

युज्यते युनक्ति वा इत्येवंशीलो-योगी । भुङ्क्ते भुनक्ति भुजतीति वा-भोगी, भागी, कल्याणभागी, त्यागी, प्राणत्यागी, रागी ``अकट्घिनोश्च रञ्जेः'' (4-2-60) इति न लोपः । द्वेषी, दोषी, द्रोही, दोही, अभ्याघाती । अकर्मकादित्येव ? गां दोग्धा, शत्रूनभ्याहन्ता ॥50॥

आङः क्रीड-मुषः ॥ 5. 2. 51. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यामाङः पराभ्यामाभ्यां घिनण् भवति ।

आक्रीडत इत्येवंशीलः आक्रीडी, आमोषी। शीलादिप्रत्ययान्ताः प्रायेण रूढिप्रकारा यथादर्शनं प्रयुज्यन्त इति उपसर्गान्तराधिक्ये न भवति । एवमुत्तरत्रापि ॥51॥

न्या०स०–आङः क्रीडमुषः–शीलादिप्रत्ययान्ता इति–ननु पूर्वे आङ्माङ्यसाङ्मुषाक्रीडेति पठित्वा घिनण्माहुस्तेषां विशिष्टस्वरूपोपादानान् नोपसर्गान्तराधिक्ये भवति । इह तु आङः पराभ्यामित्युच्यमाने उपात्तोपसर्गात् पूर्वमन्यस्मिन्नुपसर्गे सत्यपि व्यवधानाभावात् ततः परत्वस्य संभवादुपसर्गान्तराधिक्येऽपि भवतीत्याह-*शीलादिप्रत्ययान्ता इत्यादि*-शीलधर्म्मसाधुषु अर्थेषु ये प्रत्ययास्तदन्ता इमे प्रायेण रूढिशब्दप्रकारा यथा रूढिशब्दा रूढिविषय एव प्रवर्त्तन्ते तत्र च नियतरूपस्तथा इमेऽपि ये यथा प्रयोगे दृश्यन्ते यद्यदुपसर्गाः सोपसर्गा अनुपसर्गा वा ते तथैव प्रयोगानुसारेण प्रयोक्तव्याः, तथाहि–कामुक इति अनुपसर्ग एव प्रयुज्यते न सोपसर्गः, एवमागामुकः इति आङुपसर्गपूर्व एव, न त्वनुपसर्गोऽन्योपसर्गपूर्वो वा इत्येवमन्यदपि द्रष्टव्यमिति नोपसर्गान्तराधिक्ये भवति ।

प्राच्च यम-यसः ॥ 5. 2. 52. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां प्रादाङश्च पराभ्यामाभ्यां घिनण् भवति । प्रयच्छतीत्येवंशीलः—प्रयामी, आयामी; प्रयासी, आयासी ॥52॥

न्या०स०—प्राच्च यम-यथासंख्यं यद्यभिप्रेतं स्यात्तदा प्राङ इति क्रियेत ।

मथ-लपः ॥ 5. 2. 53. ॥

प्रात् पराभ्यामाभ्यां शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां घिनण् भवति । प्रमथतीत्येवंशीलः—प्रमाथी, प्रलापी ॥53॥

वेश्च: द्रोः ॥ 5. 2. 54. ॥

वेः प्राच्च पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् द्रवतेर्घिनण् भवति । विद्रवतीत्येवंशीलो-विद्रावी, प्रद्रावी ॥54॥

वि-परि-प्रात् सर्त्तेः ॥ 5. 2. 55. ॥

वि-परि-प्रेभ्यः पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानात् सर्त्तेर्घिनण् भवति । विसरतीत्येवंशीलो-विसारी, परिसारी, प्रसारी ॥55॥

समः पृचैप्-ज्वरेः ॥ 5. 2. 56. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यां समः पराभ्यां पृणक्ति-ज्वरिभ्यां घिनण् भवति ।

संपृणक्तीत्येवंशीलः—संपर्की । पिन्निर्देशादादादिकस्य न ग्रहणम्-संपर्चिता । संज्वरतीत्येवंशीलः—संज्वारी । केचिद् ण्यन्तादपीच्छन्ति-संज्वरी । त्वरयतेरपि कश्चिद्-संत्वरी । अकर्मकादित्येव ? संपृणक्ति शाकम् ॥56॥

सं-वेः सृजः ॥ 5. 2. 57. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानात् सं-विभ्य परात् सृजेर्घिनण् भवति । संसृजतीत्येवंशीलः संसृज्यते वा-संसर्गी, विसर्गी ॥57॥

सं-परि-व्यनु-प्राद् वदः ॥ 5. 2. 58. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानात् सं–परि-व्यनुप्रेभ्यः पराद् वदेर्घिनण् भवति ।

संवदतीत्येवंशीलः–संवादी, परिवादी, विवादी, अनुवादी, प्रवादी । परिपूर्वाण्ण्यन्तादपीति केचित् ॥58॥

वेर्विच-कत्थ-स्रम्भू-कष-कस-लस-हनः ॥ 5. 2. 59. ॥

एभ्यो विपूर्वेभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो घिनण् भवति ।

विविनक्तीत्येवंशीलो-विवेकी । विकत्थी, विस्रम्भी, विकाषी, विकासी, विलासी, विघाती ॥59॥

व्यपा-ऽभेर्लषः ॥ 5. 2. 60. ॥

व्यपा-ऽभिभ्यः पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाल्लषेर्घिनण् भवति ।

विलषतीत्येवंशीलो-विलाषी, अपलाषी, अभिलाषी ॥60॥

सं-प्राद् वसात् ॥ 5. 2. 61. ॥

सं-प्राभ्यां पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् वसतेर्घिनण् भवति ।

संवसतीत्येवंशीलः–संवासी, प्रवासी । शव्निर्देशाद् वस्तेन भवति ॥61॥

समत्यपा–ऽभि–व्यभेश्चरः ॥ 5. 2. 62. ॥

'समु, अति, अप, अभि, व्यभि' इत्येतेभ्यः पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाच्चरेर्घिनण् भवति ।

संचरतीत्येवंशीलः–संचारी, अतिचारी, अपचारी, अभिचारी, व्यभिचारी ॥62॥

समनु–व्यवाद् रुधः ॥ 5. 2. 63. ॥

'सम्, अनु, वि, अव' इत्येतेभ्यः पराच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानात् रुधोर्घिनण् भवति ।

संरुन्धे इत्येवंशीलः–संरोधी, अनुरोधी, विरोधी, अवरोधी ॥63॥

वेर्दहः ॥ 5. 2. 64. ॥

विपूर्वाच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् दहेर्घिनण् भवति । विदहतीत्येवंशीलो-विदाही ॥64॥

परेर्देवि-मुहश्च ॥ 5. 2. 65. ॥

देवीति देवृधातोरण्यन्तस्य ण्यन्तस्य च ग्रहणम् । परिपूर्वाभ्यां शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यामाभ्यां दहश्च घिनण् भवति ।

परिदेवते परिदेवयति वा-परिदेवी । ण्यन्तान्नेच्छन्त्यन्ये । परिमोही, परिदाही ॥65॥

न्या०स०–परेर्देवि-देवृधातोरिति–लाक्षणिकत्वात् दीव्यतेर्ण्यन्तस्य न ग्रहणम् ।

क्षिप-रटः ॥ 5. 2. 66. ॥

परिपूर्वाभ्यामाभ्यां शीलादौ वर्तमानाभ्यां घिनण् प्रत्ययो भवति ।

परिक्षिप्यति परिक्षिपति वा-परिक्षेपी, परिक्षेप्यम्भसाम्, परिराटी ॥66॥

वादेश्च णकः ॥ 5. 2. 67. ॥

परिपूर्वाच्छीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् वादयतेः क्षिप-रटिभ्यां च णकः प्रत्ययो भवति ।

परिवादयतीत्येवंशीलः–परिवादकः । वदेरपि केचित् । परिक्षेपकः । परिराटकः । असरूपत्वात् ``णक-तृचौ'' (5-1-48) इति सिद्धे पुनर्विधानं शीलादिप्रत्ययेष्वशीलादिकृत्प्रत्ययोऽसरूपविधिना न भवतीति ज्ञापनार्थम्, तेनालंकारकः, परिक्षिपः, परिरट इत्यादि शीलाद्यर्थे न भवति । बाहुलकात् क्वचिद् भवत्यपि–

``काम-क्रोधो मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव'' । अत्र णकविषये तृच् ॥67॥

निन्द-हिंस-क्लिश-खाद-विनाशि व्याभाषा-ऽसूया-ऽनेकस्वरात् ॥ 5. 2. 68. ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो णको भवति ।

निन्दतीत्येवंशीलो-निन्दकः, हिंसकः, क्लिश्नाति क्लिश्यते वा-क्लेशकः, खादकः, विनाशयति-विनाशकः, व्याभाषकः । असूयः कण्ड्वादौ-असूयकः, दरिद्रायकः, चकासकः,

गणकः, चुलुम्पकः । अनेकस्वरत्वादेव सिद्धेऽसूयग्रहणं कण्ड्वादिनिवृत्यर्थम्, तेन-कण्डूयिता, मन्तूयिता, तृन्नेव । विनाशिग्रहणं तु अन्यस्य ण्यन्तस्य निवृत्त्यर्थम् कारयिता । अनेकस्वरान्नेच्छन्त्यन्ये । क्लिशेर-विशेषेण ग्रहणाद् दैवादिकादिदित्त्वेऽपि अनो न भवति ।।68।।

न्या०स०—निन्दहिंस-अन्यस्य ण्यन्तस्येति—कथं तर्हि गणकः, अत्रेदं व्याख्यानं कर्त्तव्यं, यत् विनाशीति णिगन्तस्योपादानं करोति तत् ज्ञापयति अन्यस्यापि, णिगन्तस्य । वर्ज्जनं तेन णिजन्तस्य भवत्येव ।

उपसर्गाद् देवृ-देवि-क्रुशः ।। 5. 2. 69. ।।

उपसर्गात् परेभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य एभ्यो णको भवति ।

आदेवत इत्येवंशीलः—आदेवकः, परिदेवकः । देवीति दीव्यतेर्देवतेर्वा ण्यन्तस्य ग्रहणम्, आदेवयतीति-आदेवकः, परिदेवकः, आक्रोशकः, परिक्रोशकः । उपसर्गादिति किम् ? देवनः, देवयिता, क्रोष्टा । देवतेर्ण्यंन्तादेवेति कश्चित् ।।69।।

न्या०स०—उपसर्गाद्देवृ-ण्यन्तस्य ग्रहणमिति-लक्षणप्रतिपदेत्यस्य न्यायस्यानित्यत्वात् अथवा भिन्नदेवृग्रहणात् अन्यथा देवग्रहणमेव कुर्यात् ।

वृङ्-भिक्षि-लुण्टि-जल्पि-कुट्टाट्टाकः ।। 5. 2. 70. ।।

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यष्टाकः प्रत्ययो भवति ।

वृणीते इत्येवंशीलो-वराकः, वराकी । भिक्षाकः, भिक्षाकी । लुण्टाकः, लुण्टाकी । जल्पाकः, जल्पाकी । कुट्टाकः, कुट्टाकी । टकारो ङ्यर्थः ।।70।।

प्रात् सू-जोरिन् ।। 5. 2. 71. ।।

प्रात् पराभ्यां सुवति-जुभ्यां शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाभ्यामिन् प्रत्ययो भवति ।

'सू' इति निरनुबन्धग्रहणात् सुवतेर्ग्रहणम्, न सूति-सूयत्योः । प्रसुवतीत्येवंशीलः—प्रसवी । प्रजवी ।।71।।

जीण्-दृ-क्षि-विश्रि परिभू-वमा-ऽभ्यमाऽव्यथः ।। 5. 2. 72. ।।

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य इन् भवति ।

जि-जयतीत्येवंशीलो-जयी, इण्-अत्ययी, उदयी, दृ-आदरी, क्षीति क्षिं-क्षितोर्ग्रहणम्, क्षयी, विश्रि-विश्रयी, परिभू-परिभवी, वम्-वमी, अभ्यम्-अभ्यमी, अव्यथ्-न व्यथते इति-अव्यथी ॥72॥

न्या०स०—जीण् दृक्षि क्षिंक्षितोरिति क्षिष्श् इत्यस्य तु सानुबन्धत्वान्न ग्रहः ।

सृःघस्यदो मरक् ॥ 5. 2. 73. ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो मरक् प्रत्ययो भवति ।
सरतीत्येवंशीलः—सृमरः, घस्मरः, अद्मरः ॥73॥

भञ्जि-भासि-मिदो घुरः ॥ 5. 2. 74. ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो घुरः प्रत्ययो भवति ।

भज्यते स्वयमेवेत्येवंशीलं—भङ्गुरं काष्टम् । भासते-भासुरं वपुः, मेद्यति मेदते वा-मेदुरः । घकारो गत्वार्थः ॥74॥

न्या०स०—भञ्जिभासि—''व्याप्ये घुरकेलिम'' (5-1-4) इति घुरप्रत्ययस्य व्याप्ये कर्त्तरि विधानादित्याह-*भज्यते स्वयमेवेत्यादि*-भासिमिदिविदां तु कर्त्तर्येव घुरोऽकर्म्मकत्वेन कर्म्मकर्तुरसंभवात् ।

वेत्ति-छिद-भिदः कित् ॥ 5. 2. 75. ॥

एभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः किद् घुरः प्रत्ययो भवति ।

वेत्तीत्येवंशीलो-विदुरः, छिद्यते भिद्यते स्वयमेव—छिदुरः, भिदुरः, कित्वाद् गुणो न भवति । वेत्तीति तिव्निर्देश इतरविदित्रयव्युदासार्थः ॥75॥

भियो रु रुक लुकम् ॥ 5. 2. 76. ॥

शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् बिभेते 'रु रुक लुक' इति प्रत्ययत्रयं किद् भवति ।

बिभेतीत्येवंशीलो-भीरुः, भीरुकः भीलुकः । ऋफिडादित्वात् लत्वं प्रयोगानुसारणाद् गरीय इति लाघवार्थं लुकवचनम् ॥76॥

सृ-जीण्-नशष्ट्वरप् ।। 5. 2. 77. ।।

एभ्य: शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्य: कित् ट्वरप् प्रत्ययो भवति ।

सरतीत्येवंशील:—सृत्वर:, सृत्वरी, जित्वर:, जित्वरी । इण् इत्वर:, इत्वरी । क्रूरकर्मणि पथिके नीचे दुर्विधे। नश्वर:, नश्वरी । टकारो ङ्यर्थ: । पकारस्तागमार्थ: ।।77।।

गत्वर: ।। 5. 2. 78. ।।

ग्रमेष्ट्वरप् मकारस्य च तकारो निपात्यते । गत्वर:, गत्वरी ।।78।।

स्म्यजस-हिंस-दीप-कम्प-कम-नमो र: ।। 5. 2. 79. ।।

स्म्यादिभ्य: शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो र: प्रत्ययो भवति ।

स्मयत इत्येवंशीलं-स्मेरं मुखम् । अजसिति ``जसूच् मोक्षणे'' नञ्पूर्व:, न जस्यति-अजस्रं श्रवणम्, अजस्रा प्रवृत्ति:, अजस्र: पाक:, अजस्रं पचति । अजस्रशब्दोऽयं स्वभावात् सातत्यविशिष्टां क्रियामाह, तेन धात्वर्थ एव कर्तरि र: प्रत्ययोऽन्यथा क्रियाभिधानानुपपत्ते:, तेनाजस्रो घट इति न भवति । अजस्रमित्यव्ययमपि नित्यार्थं क्रियाविशेषणमस्ति । हिंस्हिंस्रो व्याध: । दीप्-दीप्रो दीप: । कम्प् कम्प्र: । कम्-कामयते कम्रा युवति: ।

बहुलाधिकारात् कर्मण्यपि, कम्यते-कम्र:, तत एव कमितेत्यपि । नम्-नमतीति-नम्र: । अजसि-कमि-नमिभ्य: कर्मकर्तर्येवेच्छन्त्येके ।।79।।

न्या०स०—स्म्यजस-जसूच् मोक्षणे इति-अन्येषामणिजन्तानां साहचर्याच्चुरादिणिजन्तो न गृह्यते । *धात्वर्थ एव कर्त्तरीति*-अन्यस्य धातोरर्थं इत्यर्थ:, यथाऽजस्र: पाक: इत्यत्र पचिधातो:—पाकलक्षणेऽर्थे ।

तृषि-धृषि-स्वपो नजिङ् ।। 5. 2. 80. ।।

तृषि-धृषि-स्वपिभ्य: शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो नजिङ् प्रत्ययो भवति ।

तृष्यतीत्येवंशील:—तृष्णक् तृष्णजौ । धृष्णक्, धृष्णजौ । स्वप्नक्, स्पप्नजौ । ङकारो गुणप्रतिषेधार्थ:, इकार उच्चारणार्थ: । धृषो नेच्छन्त्येके ।।80।।

स्थेश-भास-पिस-कसो वर: ।। 5. 2. 81. ।।

स्थादिभ्यः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानेभ्यो वरः प्रत्ययो भवति ।

तिष्ठतीत्येवंशीलः—स्थावर, स्थावरा । ईश्वरः, ईश्वरा । कथमीश्वरी ? ``अश्नो-रीच्चादेः'' (442) इत्यौणादिके वरटि भवति । भास्वरः, भास्वरा । पेस्वरः, पेस्वरा । विकस्वरः, विकस्वरा । प्रमदेरपीति कश्चित्-प्रमाद्यति-प्रमद्वर ।।81।।

यायावरः ।। 5. 2. 82. ।।

यातेर्धातोः शीलादौ सत्यर्थे वर्तमानाद् यङन्तात् वरः प्रत्ययो निपात्यते ।

कुटिलं यातीत्येवंशीलो-यायावरः ।।82।।

न्या०स०—यायावर इति-``य्वोः'' (4-4-121) इति यलुप्, ``योऽशिति'' (4-3-80) इति न व्यञ्जनादित्यधिकारात् ।

दिद्यु-दहद्-जगज्जुहू-वाक्-प्राट्-धी श्री-द्रु-स्रू-ज्वायतस्तू-कटप्रू-परिव्राड्-भ्राजादयः क्विपः ।। 5. 2. 83. ।।

एते शब्दाः क्विबन्ताः शीलादौ सत्यर्थे निपात्यन्ते ।

द्योतते इत्येवंशीलो-दिद्युत्, विद्युतौ, दृणातीति-दृदत्, ददृतौ, गच्छतीति-जगत्, जुहोतीति-जुहूः, एषु द्वित्वम्, दृणाति-जुहोत्योर्ह्रस्वत्वदीर्घत्वे च । वक्तीति-वाक् । पृच्छतीति-प्राट्, प्राशौ; शब्दप्राट्, तत्त्वप्राट् । दधाति ध्यायति वा-धीः, श्रयतीति-श्रीः । शतं द्रवतीति-शतद्रूः, स्रवतीति स्रुः । जवतीति-जूः । आयतं स्तौतीति-आयतस्तूः, कटं प्रवते-कटप्रूः, परिव्रजतीति-परिव्राट्, परिव्राजौ, एषु दीर्घत्वम् दधातेराकारस्य ध्यायतेर्याशब्दस्य चेकारः ।

बहुलाधिकारादशीलादावपि । धीः सुधीः प्रधीः, आधीः । भ्राजादि-विभ्राजत इति-विभ्राट्, विभ्राजौ । भासत इति-भाः, भासौ, भासः । पिपर्तीति-पूः, पुरौ, पुरः । धर्वतीति-धः, धूरौ, धूरः । विद्योतत इति-विद्युत्, विद्युतौ । ऊर्जयतीति ऊर्क्—ऊर्जौ, ऊर्जः । ग्रावाणं स्तौति-ग्रावस्तुत्, ग्रावस्तुतौ । पचतीति-पक् । शक्नोतीति-शक् । भिनत्तीति-भित् । वेत्तीति-वित् । शोकच्छित् । ``भुवः संज्ञायामेव ।'' भूः पृथिवी, शंभूः—शिवः, आत्मभूः-कामः, मनोभूः-स एव, स्वयंभूर्ब्रह्मा, स्वभूर्विष्णुश्च । मित्रभूनाम कश्चित्, प्रतिभूः—उत्तमणधिमर्णयोरन्तरस्थः, दृन्भूः-व्यसनसहायः, कारभूः-पण्यमूल्यादिनिर्णेता, वर्षाभूर्दर्दुर औषधिश्च, पुनर्भूः- पुनरूढा औषधिश्च, संज्ञायाम्, अन्यत्र-भविता ।

शीलादिषु असरूपविधिनास्ति, तेन-सामान्यलक्षणः क्विप् न प्राप्नोतीति पुनर्विधीयते। शीलादिप्रत्ययानां पूर्णोऽवधिः। केचित् तु संज्ञाशब्दानां शीलाद्यर्थेषु कामचारस्ते यथाकथंचिद् व्युत्पादनीया इति मन्यन्ते ॥83॥

न्या०स०—दिद्युद्दद्यत्-जगदिति-क्रियाशब्दोऽयं तेन जगतौ जगत इति। विष्टप- वाचकस्तु गमेर्डिद् द्वे चेति साधुस्तस्य च जगती जगन्तीति द्विवचनबहुवचने सति भवतः। *वाक् इति*-निपातनात् कर्मण्यपि। *पूरिति*-पिपर्तीति पॄश् इत्यस्य धात्वन्तरेण वाक्यं तच्चार्थकथनमेव, पृणातीत्येवंशीला इति तु कार्यम्। *शीलादिष्विति*-ननु वृन्नादीनां पक्षेऽ- सरूपत्वात् सामान्यक्विप् भविष्यति किमनेन ? इत्याह—*असरूपविधिर्नास्तीति-सामान्य-लक्षणः क्विबिति*-भ्राजादिभ्य इति शेषः, दिद्युदादयस्तु निपातनीया एवाऽनेन सूत्रेण तेषां ``क्विप्'' (5-1-148) इत्यनेन सिद्ध्यऽभावात्।

शं-सं-स्वयं-विप्राद् भुवो डुः ॥ 5. 2. 84. ॥

एभ्यः पराद् भुवः सत्यर्थे वर्तमानाड्डुः प्रत्ययो भवति।

शं सुखं तत्र भवति-शंभुः शंकरः, संभुर्जनिता, स्वयंभुः, विभुर्व्यापकः, प्रभुः स्वामी। बहुलाधिकारात् शंभुः संज्ञायाम्। अन्ये त्वसंज्ञायामपि। मिताद्र्वादयस्त्वौणादिकाः ॥84॥

पुव इत्रो दैवते ॥ 5. 2. 85. ॥

सामान्यनिर्देशात् पवतेः पुनातेश्च दैवते-देवतायां कर्तरि सत्यर्थे इत्रः प्रत्ययो भवति। पुनाति पवते वा-पवित्रोऽर्हन्, स मां पुनातु। करणेऽप्यन्ये ॥85॥

ऋषि-नाम्नोः करणे ॥ 5. 2. 86. ॥

सत्यर्थे वर्तमानात् पुवः करणे इत्रो भवति, ऋषौ संज्ञायां च।

पूयतेऽनेनेति-पवित्रोऽयमृषिः। नाम्नि-दर्भः पवित्रः, बर्हिः पवित्रम्, यज्ञोपवीतं पवित्रम्, ओघोपकरणं पवित्रम्, पवित्रा नदी। दर्भादीनां पवित्रमिति संज्ञा। ऋषौ कर्तर्यपि केचित् ॥86॥

न्या०स०—ऋषिनाम्नोः—ओघोपकरणमिति-वहति प्रापयति निरवद्यां सर्वसावद्य- विरतिमिति अचि ``न्यङ्कूद्ग'' (4-1-112) इति साधुः, यद्वा उङ् शब्दे ऊयते शब्द्यते उपादेयतया लोकोत्तरे मघाघेति घः।

लू-धू-सू-खन-चर-सहाऽर्तेः ॥ 5. 2. 87. ॥

एभ्यः सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः करणे इत्रो भवति ।

लुनात्यनेन-लवित्रम्, ध्रुवत्यनेन ध्रुवित्रम्, धूनोतेरपि कश्चित्-धवित्रम्, सुवत्यनेन-सवित्रम्, निरनुबन्धनिर्देशात् धूग्-सूङोर्न भवति । खनित्रम्, चरित्रम्, सहित्रम्, ऋच्छतीयर्ति वा-ऽनेनारित्रम् । वहेरपि कश्चित्-वहित्रम् ॥87॥

नी-दाव्-शसू-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-पा-नहस्त्रट् ॥ 5. 2. 88. ॥

एभ्यः सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः करणे त्रट् प्रत्ययो भवति ।

नयत्यनेन-नेत्रम्, दांव्, दान्त्यनेन-दात्रम्, शसू-शस्त्रम्, यु-योत्रम्, युज्-योक्त्रम्, स्तु-स्तोत्रम्, तुद्-तोत्रम्, सि-सेत्रम्, सिच्-सेक्त्रम्, मिह-मेढ्रम्, पत्-पत्रम्, पा-पात्रम्, पात्री, नह्-नद्ध्रः, नद्ध्री । टकारो ङ्यर्थः ॥88॥

हल-क्रोडाऽऽस्ये पुवः ॥ 5. 2. 89. ॥

आस्यं मुखम्, पुवो धातोः सत्यर्थे हलास्ये क्रोडास्ये च करणे त्रट् प्रत्ययो भवति ।

पुनाति पवते वाऽनेन-पोत्रम्, हलस्य सूकरस्य च मुखमुच्यते ॥81॥

दंशेस्त्रः ॥ 5. 2. 90. ॥

दंशेः सत्यर्थे वर्तमानात् करणे त्रः प्रत्ययो भवति ।

दशत्यनया-दंष्ट्रा । प्रत्ययान्तरकरणमावर्थम् ॥90॥

धात्री ॥ 5. 2. 91. ॥

ट्धेर्दधातेर्वा कर्मणि त्रट् प्रत्ययो निपात्यते ।

धयन्ति तामिति-धात्री स्तनदायिनी । दधति तां भैषज्यार्थमिति धात्री आमलकी ॥91॥

ज्ञानेच्छा-ऽर्चार्थ-ञीच्छील्यादिभ्यः क्तः 5. 2. 92. ॥

ज्ञानार्थेभ्य इच्छार्थेभ्योऽर्चा पूजा तदर्थेभ्यो ञीद्भ्यः शील्यादिभ्यश्च धातुभ्यः सत्यर्थे वर्तमानेभ्यः क्तः प्रत्ययो भवति । पूर्ववच्चास्य कर्तृ-कर्माद्यर्थनिर्देशः ।

ज्ञानार्थ-राज्ञां ज्ञातः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां विदितः, राज्ञामवगतः । इच्छार्थ-राज्ञामिष्टः, राज्ञां मतः । अर्चार्थ-राज्ञामर्चितः, राज्ञां पूजितः । ञीत्- ञिमिदा-भिन्नः, क्ष्विण्णः, स्विन्नः, धृष्टः, तूर्णः, सुप्तः, भीतः, इद्धः, तृषितः, फुल्लः । शील्यादि–

शीलितो रक्षितः क्षान्त, आक्रुष्टो जुष्ट उद्यतः ।
संयतः शयितस्तुष्टो रुष्टो रुषित आशितः ।।1।।
कान्तोऽभिव्याहृतो हृष्टस्तृप्तः सृप्तः स्थितो भृतः ।
अमृतो मुदितः पूर्तः शक्तोऽक्तः आन्त-विस्मितौ ।।2।।
संरब्धाऽऽरब्ध-दयिता दिग्धः स्निग्धोऽवतीर्णकः ।
आरूढो मूढ आयस्तः, क्षुधित-क्लान्त-व्रीडिताः ।।3।।
मत्तश्चैव तथा क्रुद्धः, श्लिष्टः सुहित इत्यपि ।
लिप्त-दृप्तौ च विज्ञेयौ सति लग्नादयस्तथा ।।4।।

बहुलाधिकाराद् यथाभिधानमेभ्यो भूतेऽपि क्तो भवति, तथा च तद्योगे तृतीयासमासोऽपि सिद्धः–``अर्हद्भ्यस्त्रिभुवनराजपूजितेभ्यः'' इति, एवं-शीलितो मैत्रेण, रक्षितो मैत्रेणाऽऽक्रुष्टश्चैत्रेणेत्यादावपि द्रष्टव्यम् । वर्तमानक्ते तु षष्ठ्येव–``कान्तो हरिश्चन्द्र इव प्रजानाम्'' इति । अन्ये तु-ज्ञानाद्यर्थेभ्यः ❊ तक्रकौण्डिन्य ❊ न्यायेन भूते क्तस्य बाधनात् वर्तमानक्तेन च योगे कर्तरि षष्ठीविधानात् `त्वया ज्ञातो मया ज्ञातः' इत्यादिरपशब्द इति मन्यन्ते ।।92।।

न्या०स०–ज्ञानेच्छा-पूर्ववच्चास्येति-कर्त्तरि कर्म्मणि भावे च यथा यस्य प्रत्ययोऽ- भिहितस्तस्य तथैव केवलं वर्तमानकाल एव । ननु ``गत्यर्थ'' (5-1-11) इति ``क्तक्तवतु'' (5-1-174) इत्यनेन च सामान्येन विधानादमीषामपि सिद्धौ इत्याह- *तत्रकौण्डिन्यन्यायेनेति* ।

उणादयः ।। 5. 3. 93. ।।

बहुलमिति वर्तते, सत्यर्थे वर्तमानाद् धातोरुणादयः प्रत्यया बहुलं भवन्ति ।

करोतीति-कारुः, वायुः, पायुः । बहुलवचनात् प्रायः संज्ञाशब्दाः, केचित्त्वसंज्ञा शब्दा इति अनुक्ता अपि प्रत्यया भवन्ति । ऋफिडः, ऋफिड्डः । तथा सति विहिता उणादयः क्वचिद् भूतेऽपि दृश्यन्ते-भसितं तदिति भस्म, कषितोऽसौ-कषिः, ततोऽसौ-तनिः वृत्तं तदिति-वर्त्म, चरितं तदिति चर्म, अद्भ्यः सरन्ति स्म-अप्सरसः । उक्तं च–

``संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।।
कार्यानुबन्धोपपदं विज्ञातव्यमुणादिषु ।।1।।''

तथा–

``बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् ।
कार्यसशेषविधेश्च तदूह्यं, नैगम-रूढिभवं हि सुसाधु ।।2।।
नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं, प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ।।3।। इति ।।93।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ पञ्चमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अकृत्वाऽऽसननिर्बन्धमभित्त्वा पावनीं गतिम् ।
सिद्धराजः परपुरप्रवेशवशितां ययौ ।।1।।

न्या०स०–उणादयः-प्रायसमुच्चयनादपीति-प्रायेण अकृत्स्नबहुत्वेन समुच्चयनं राशीकरणम् । *कार्यसशेषविधेश्चेति*-काक इत्यादिसिद्ध्यर्थं सूत्रान्तरं न प्रारेभे इति सविशेषविधित्वम् ।

इत्याचार्यश्री सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ–शब्दानुशासनवृहद्वृत्तेः पञ्चमाध्यायस्य न्यासतः द्वितीयः पादः समाप्तः ।

॥ अर्हम् ॥

अथ पञ्चमाध्याये तृतीयपादः

वर्त्स्यति गम्यादिः ॥ 5. 3. 1. ॥

गम्यादयः शब्दा वर्त्स्यति–भविष्यति धात्वर्थे इन्नादिप्रत्ययान्ताः साधवो भवन्ति, अनेन सामान्यतः सिद्धानां प्रत्ययानां भविष्यद्धात्वर्थता विधीयते ।

गमिष्यतीति-गमी ग्रामम्, इन्नौणादिकः सति प्राप्तो वर्त्स्यति भवति । आगामी, भावी, प्रस्थायी, एभ्य औणादिको णिन् । प्रयायी, प्रतियायी, प्रबोधी, प्रतिबोधी, प्रतिरोधी एभ्योऽजातेः शीले आवश्यके वा णिन् सिद्धो भविष्यति नियम्यते । कथं श्वो ग्रामं गमी ? भविष्यत्सामान्ये पदं निष्पाद्य पश्चाच्छ्वःशब्देन योगः कार्यः ॥1॥

न्या०स०–वर्त्स्यति-सामान्यतः सिद्धानामिति-ननु गमेरिन्नित्यादीनां सत्यधिकारे विहितत्वात् कथं सामान्यतः सिद्धता ? सत्यं,–एकदेशेन, गम्यादिगणे हि प्रयायीत्यादौ ``अजातेः शीले'' (5-1-154) इत्यादिभिर्णिन्, ते चानिर्दिष्टकालत्वात् सामान्यतः सिद्धाः । उणादिप्रत्ययानां सत्यर्थे विधानात् अप्राप्तौ वर्त्स्यत्यर्थे विधिः, अन्येषां च सामान्यविधानात् वर्त्स्यत्येवेति नियम इति सिद्धम् । कथमिति-अनद्यतने श्वस्तनी प्राप्नोति, न णिन्नित्या-शङ्कार्थः ।

वा हेतुसिद्धौ क्तः ॥ 5. 3. 2. ॥

हेतुः-कारणं तस्य सिद्धिः-निष्पत्तिः, वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्धात्वर्थे हेतोः सिद्धौ सत्यां क्तः प्रत्ययो वा भवति ।

किं ब्रवीषि वृष्टो देवः संपन्नास्तर्हि शालयः संपत्यस्यन्त इति वा, प्राप्ता नौस्तीर्णा तर्हि नदी तरिष्यत इति वा ॥2॥

कषोऽनिटः ॥ 5. 3. 3. ॥

कषेः–कृच्छ्र-गहनयोरनिट्त्वमुक्तम्, तस्माद् वर्त्स्यति वर्तमानात् क्तो भवति ।

कषिष्यतीति–`कष्टम्, कष्टा दिशस्तमसा । सत्यपि कश्चित्, कषति-कष्टम् । अनिट

इति किम् ? कषिताः शत्रवः शूरेण ।।3।।

न्या०स०—कषोऽनिटः—कषिष्यतीति-अर्थकथनमिदं यावता कष्टगहने वर्त्स्यति क्त एव भवति, असरूपविधिरपि नेष्टः, पूर्वत्र वाग्रहणात् । *कषिताः शत्रव इति*-अत्र भविष्य- त्तापि नास्तीति द्व्यङ्गविकलतेति नाशङ्कनीयं यतोऽनिट इति विशेषणे सति वर्त्स्यतीति वाच्यं स्थितेष्वेतत्समर्थनमिति न्यायात् ।

भविष्यन्ती ।। 5. 3. 4. ।।

वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोः परा भविष्यन्ती विभक्तिर्भवति । गमिष्यति, भोक्ष्यते ।।4।।

अनद्यतने श्वस्तनी ।। 5. 3. 5. ।।

न विद्यतेऽद्यतनो यत्र तस्मिन् वर्त्स्यति धात्वर्थे वर्तमानाद् धातोः श्वस्तनी विभक्तिर्भवति ।

कर्ता श्वः, कर्ता । अनद्यतन इति बहुव्रीहिः किम् ? व्यामिश्रे भविष्यन्ती मा भूत् अद्य श्वो वा गमिष्यति । कथं श्वो भविष्यति ? मासेन गमिष्यति ? पदार्थे भविष्यन्ती पश्चात् श्वःशब्देन योगः ।।5।।

न्या०स०—अनद्यतने श्वस्तनी-पदार्थे भविष्यन्तीति-पदं गमिष्यति क्रिया सार्थो यस्य धात्वर्थस्य तस्मिन् ।

परिदेवने ।। 5. 3. 6. ।।

परिदेवनमनुशोचनम्, तस्मिन् गम्यमाने वर्त्स्यति धात्वर्थे वर्तमानाद् धातोः श्वस्तनी विभक्तिर्भवति । अनद्यतनार्थ आरम्भः ।

इयं नु कदा गन्ता यैवं पादौ निदधाति, अयं नु कदाऽध्येता य एवमनभियुक्तः । विशेषविधानात् कदा-कर्हिलक्षणा विभाषा बाध्यते ।।6।।

न्या०स०—परिदेवने-विभाषा बाध्यते इति-``कदाकर्ह्यानवा'' (5-3-8) इत्यर्थः ।

पुरा-यावतोर्वर्त्तमाना ।। 5. 3. 7. ।।

पुरा-यावतोर्निपातयोरुपपदयोर्वर्त्स्यति धात्वर्थे वर्तमानाद् धातोर्वर्तमाना विभक्तिर्भवति ।

पुरा भुङ्क्ते, यावद् भुङ्क्ते । भविष्यदनद्यतनेऽपि परत्वाद् वर्तमानैव-पुरा श्वो भुङ्क्ते, यावच्छ्वो व्रजति । लाक्षणिकत्वादिह न भवति-महत्या पुरा जेष्यति ग्रामम्, यावद् दास्यते तावद् भोक्ष्यते, यत्परिमाणमित्यर्थः ।।7।।

न्या०स०—पुरायावतो-पुराभुङ्क्ते इति-पुरेति क्रियाविशेषणं कालविशेषणे वा सप्तमी ``कालाध्व'' (2-2-23) इति कर्म्मसंज्ञायामऽम् वा कर्तृविशेषणे प्रथमा वा ।

कदा-कर्ह्योर्नवा ।। 5. 3. 8. ।।

कदा-कर्ह्योरुपपदयोर्वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्वर्तमाना वा भवति, पक्षे भविष्यन्ती-श्वस्तन्यावपि भवतः ।

कदा भुङ्क्ते, कदा भोक्ष्यते, कदा भोक्ता; कर्हि भुङ्क्ते, कर्हि भोक्ता, कर्हि भोक्ष्यते; इति । कर्हिशब्दस्यानद्यतनार्थवृत्तित्वान्न प्राप्नोति, श्वो गमिष्यतीत्यादिवत् तु भविष्यति । भूते तु नित्यं परोक्षादयः—कदा बुभुजे, कदा भुक्तवान्; कर्हि बुभुजे, कर्हि भुक्तवान् ।।8।।

न्या०स०—कदाकर्ह्यो-अनद्यतनार्थवृत्तित्वादिति-अनद्यतन एव र्हिप्रत्ययविधानात् । भूते तु नित्यमिति-ये कदाकर्हियोगे सर्वेषु कालेषु वर्त्तमानामिच्छन्ति तन्मतमऽपास्यमित्याह ।

किंवृत्ते लिप्सायाम् ।। 5. 3. 9. ।।

विभक्त्यन्तस्य डतर-डतमान्तस्य च किमो वृत्तं—किंवृत्तमिति वैयाकरणसमयः, तेन किंतरां किंतमामिति न किंवृत्तम् । तस्मिन्नुपपदे प्रष्टुर्लिप्सायां गम्यमानायां वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्वर्तमाना वा भवति, पक्षे भविष्यन्ती-श्वस्तन्यावपि भवतः । लब्धुमिच्छा-लिप्सा ।

को भवतां भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा, के के भवन्तो भोजयन्ति भोजयिष्यन्ति भोजयितारो वा, कतरो भवतोर्भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा, कतमो भवतां भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा । किंवृत्त इति किम् ? भिक्षां दास्यति । लिप्सायामिति किम् ? कः सिद्धपुरं यास्यति ।।9।।

लिप्स्यसिद्धौ ।। 5. 3. 10. ।।

लब्धुमिष्यमाण ओदनादिर्लिप्स्यस्तस्मात् सिद्धौ-स्वर्गाद्यवाप्तिलक्षणायां गम्यमानायां वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्वा वर्तमाना भवति, पक्षे भविष्यन्ती-श्वस्तन्यावपि भवतः । अकिंवृत्तार्थोऽयमारम्भः ।

यो भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा स स्वर्गलोकं याति यास्यति याता वा, लिप्स्याद् भक्तात् स्वर्गसिद्धिमाचक्षाणो दातारं प्रोत्साहयति ॥10॥

न्या०स०—लिप्स्यसिद्धौ-यो भिक्षां ददातीति-अत्रोभयोर्वाक्ययोर्मिलितयोर्लिप्स्य-सिद्धिरवगम्यते तेनोभयत्राप्यनेनैव वर्त्तमाना सिद्धा ।

पञ्चम्यर्थ हेतौ ॥ 5. 3. 11. ॥

पञ्चम्यर्थः प्रैषादिस्तस्य हेतुर्निमित्तमुपाध्यायागमनादि तस्मिन्नर्थे वर्त्स्यति वर्तमानाद् धातोर्वर्तमाना वा भवति, पक्षे भविष्यन्ती-श्वस्तन्यावपि भवतः ।

उपाध्यायश्चेदागच्छति आगमिष्यति आगन्ता वा, अथ त्वं सूत्रमधीष्व, अथ त्वमनुयोगमादत्स्व; अत्र भविष्यदुपाध्यायागमनमध्ययनादिविषयस्य प्रैषस्यातिसर्गस्य प्राप्तकालतायाश्च हेतुर्भवति ॥11॥

न्या०स०—पञ्चम्यर्थहे-प्रैषस्येत्यादि-न्यक्कारपूर्वं प्रेषणं प्रैषः, अनुमतादेशदानमतिसर्गः, अवसरः प्राप्तकालता ।

सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्त्तिके ॥ 5. 3. 12. ॥

ऊर्ध्वं मुहूर्ताद् भव ऊर्ध्वमौहूर्त्तिकः ``नाम नाम्ना०'' (3-1-18) इति समासः, उत्तरपदवृद्धिस्त्वस्मादेव निर्देशात् । पञ्चम्यर्थहेतौ ऊर्ध्वमौहूर्त्तिके वर्त्स्यर्थे वर्तमानाद् धातोः सप्तमी चकाराद् वर्तमाना च विभक्तिर्वा भवति, पक्षे भविष्यन्ती-श्वस्तन्यावपि भवतः ।

ऊर्ध्वं मुहूर्तादुपरि मुहूर्तस्य परं मुहूर्तादुपाध्यायश्चेदागच्छेत् आगच्छति आगमिष्यति आगन्ता वा, अथ त्वं तर्कमधीष्व, अथ त्वं सिद्धान्तमधीष्व ॥12॥

न्या०स०—सप्तमी चो-ऊर्ध्वं मुहूर्त्तादिति-ऊर्ध्वमुपाध्यायागमनक्रियाविशेषणम् । परं मुहूर्त्तादिति-परमुपाध्यायागमनम् अव्ययं वा ।

क्रियायां क्रियार्थायां तुम् णकच् भविष्यन्ती ॥ 5. 3. 13. ॥

वेति निवृत्तम्, यस्माद् धातोस्तुमादिस्तद्वाच्या या क्रिया साऽर्थः प्रयोजनं यस्याः सा क्रियार्था, तस्यां क्रियायामुपपदे वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोस्तुम्-णकच्-भविष्यन्तीप्रत्यया भवन्ति ।

कर्तुं व्रजति, कारको व्रजति, करिष्यमीति व्रजति; भोक्तुं व्रजति, भोजको व्रजति, भोक्ष्ये इति व्रजति । क्रियायामिति किम् ? भिक्षिष्ये इत्यस्य जटाः । क्रियार्थायामिति किम् ? धावस्ते पतिष्यति वासः, अत्रास्ति धावनक्रियोपपदं न त्वसौ पतनार्थमुपात्तेति न भवति । ``णक-तृचौ'' (5-1-48) इति सामान्येन सिद्धे क्रियार्थोपपदभाविन्या भविष्यन्त्या बाधा मा भूदिति णकज्विधानम्, असरूपविधिना णकोऽपि भविष्यतीति चेत् ? एवं तर्हि असरूपविधिना तृजादयो मा भूवन्निति पुनर्णकज्विधानम्, तेनौदनस्य पाचको व्रजति, पक्ता व्रजति, पचो व्रजति; विक्षिपो व्रजतीत्यादि न भवति ॥13॥

न्या०स०—क्रियायां क्रियार्थायां-वेति निवृत्तमिति-केवलविभक्तिविधानप्रस्तावे विकरयोस्तुम्णकचोर्विधानात् । *धावतस्ते पतिष्यति वास इति*-भिन्नकर्तृकत्वेऽपि सूत्रस्य प्रवृत्तिरिति प्राप्नोति, अत्र हि धावनक्रियाया देवदत्तः कर्त्ता, पतनक्रियायास्तु वासः ।

कर्मणोऽण् ॥ 5. 3. 14. ॥

क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे कर्मणः पराद् वर्त्स्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोरण् प्रत्ययो भवति ।

कुम्भकारो व्रजति, काण्डलावो व्रजति । ``कर्मणोऽण्'' (5-1-72) इति सामान्येन विहितोऽण् णकचाऽनेन बाध्येतासरूपविधिश्च नास्तीति पुनर्विधीयते, सोऽपवादत्वाण्णकच बाधते, परत्वात् सामान्यस्याणो बाधकान् टगादीनपि, तेन-वक्रगायो व्रजति, सुरापायो व्रजति, गोदायो व्रजति । बहुलाधिकाराण्णकच्-भविष्यन्त्यावपि भवतः-कटं कारको व्रजति, ओदनं भोजको व्रजति, काण्डानि लविष्यामीति व्रजति, कम्बलं दास्यामीति व्रजति ॥14॥

न्या०स०—कर्मणोऽण्-सामान्येन विहित इति-अनेन क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे वर्त्स्यत्यर्थे च विधानं पूर्वेण तु सामान्येन कर्म्मणः परादित्यर्थः ।

भाववचनाः ॥ 5. 3. 15. ॥

भाववचना घञ्-क्त्यादयस्ते क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे वत्स्यर्त्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्भवन्ति । क्रियार्थोपपदेन तुमा मा बाधिषतेति वचनम्, असरूपविध्यभावस्य ज्ञापितत्वात् ।

पाकाय व्रजति, पक्तये व्रजति, पचनाय व्रजति, पाचनायै व्रजति । वचनग्रहणाद् यो यथा विहितः स तथा भवति । ``तुमोऽर्थे भाववचनात्'' (2-2-61) इति चतुर्थी ॥15॥

न्या०स०—भाववचनाः-वचनग्रहणादिति-यदि भावे इति क्रियेत तदा भावमात्र एव ये विहितास्त एव लभ्येरन् न सर्वे, वचनग्रहणे तु ये केचिद् भावं ब्रुवन्ति ते येन केनापि प्रकारेण भावं ब्रुवाणा गृह्यन्ते एव ।

पद-रुज-विश स्पृशो घञ् ॥ 5. 3. 16. ॥

एभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति, कृत्वात् कर्तरि । वत्स्यर्तीत्यादि निवृत्तम् ।

पद्यते पत्स्यते अपादि पेदे वा-पादः, एवं रागः, वेशः, स्पर्शो व्याधिविशेषः, स्पर्शो देवदत्तः कम्बलस्य, घकारः कत्वगत्वार्थः । ञकारो वृद्ध्यर्थः ॥16॥

न्या०स०—पदरुज-वत्स्यर्तीत्यादि निवृत्तमिति-``पदरूज'' (5-2-16) इत्यादि–प्रकृतिनियंत्रित-प्रत्ययोपादानात्, आदिशब्दात्क्रिया क्रियार्थोपपदं च । केचिदुपतापे एव स्पृशेर्घञमिच्छन्ति तन्मतव्युदासार्थं स्पृशेरुदाहरणद्वयम् ।

सर्तेः स्थिर-व्याधि-बल-मत्स्ये ॥ 5. 3. 17. ॥

सर्तेरेषु कर्तृषु घञ् भवति ।

स्थिरे-सरति कालान्तरमिति सारः स्थिरः पदार्थः, सालसारः, खदिरसारः, कार्ष्यसारः । व्याध्यादौ-अतीसारो व्याधिः, सारो बलम्, विसारो मत्स्यः ॥17॥

भावा-ऽकर्त्रोः ॥ 5. 3. 18. ॥

भावे वाच्ये कर्तृवर्जिते कारके च सर्वधातुभ्यो घञ् भवति ।

पचनं पाकः, एवं-रागः, त्यागः; प्रकुर्वन्ति तमिति-प्राकारः, एवं प्रासः, प्रसेवः, समाहारः, कारः, करणाधिकरणयोरनट् तदपवादश्च व्यञ्जनान्तेभ्यो घञ् वक्ष्यते । दाशन्ते-ऽस्मा इति-दाशः, तालव्योपान्त्योऽयम् । आहरन्त्यस्मादित्याहारः । असंज्ञायामपिदायो दत्तः, लाभो लब्धः । `कृतः कटो हृतो भारः' इत्यादौ बहुलाधिकारान्न भवति । अकर्त्रिति पर्युदासेन

कारकाश्रयणात् संबन्धे न भवति देवदत्तस्य पच्यते ।

भावा-ऽकर्त्रोरिति किम् ? पचः । भावो भवत्यर्थः साध्यरूपः क्रियासामान्यं धात्वर्थः, स धातुनैवोच्यते तत्रैव च त्यादयः क्त्वातुममस्तव्यानीयादयश्च भवन्ति । यस्तु भावो धात्वर्थधर्मः सिद्धता नाम लिङ्गसंख्यायोगी स द्रव्यवद् धात्वर्थादन्यः, तत्रायं घञादिविधिः, तेन तद्योगे लिङ्गवचनभेदः सिद्धो भवति-पाकः पाकौ पाकाः, पचनं पचने पचनानि, पक्तिः पक्ती पक्तय इति ॥18॥

न्या०स०—भावाकर्त्रोः-केचित्तु अत्र संज्ञायामित्याहुस्तन्निराकरणार्थमाह-*असंज्ञा- यामपीति-करकाश्रयणादिति*-भावग्रहणाच्च, यदि हि भावग्रहणमपनीयाऽकर्त्तरीति कृत्वा प्रसज्य नञ् व्याख्यायते तदापि भाववत्संबन्धेऽपि घञ् स्यादिति संबन्धे घञ् निवृत्त्यर्थं भावग्रहणम् । *क्रियासामान्यमिति*-क्रियाणां साधारणं रूपमित्यर्थः, तथाहि-सर्वासु क्रियासु सत्त्वमिति भवत्यर्थः साधारण एव, स च धात्वर्थः, अत एव धातुनैवोच्यते, स न प्रत्ययैः । यः पुनः सिद्धता नाम स धात्वर्थस्य धर्म्म एव न धात्वर्थः, अत एव प्रत्ययैरेवोच्यते, स न धातुना, तदुक्तम्—

आख्यातसाध्यैरर्थोऽसावन्तर्भू तोऽभिधीयते ।
नाम शब्दाः प्रवर्त्तन्ते, संहरन्त इव क्रमम् ॥1॥

इङोऽपादाने तु टिद् वा ॥ 5. 3. 19. ॥

इङो धातोर्भावाऽकर्त्रोर्धञ् भवति, अपादाने तु कारके वा टिद् भवति ।

अध्ययनमध्यायः, अधीयत इति-अध्यायः, उपेत्याधीयतेऽस्मादिति-उपाध्यायः । टिद्विधानसामर्थ्यात् स्त्रियां क्तिर्बाध्यते-उपाध्यायी उपाध्याया ॥19॥

न्या०स०—इङोपादाने-क्तिर्बाध्यत इति-टित्त्वस्य हि स्त्रियां ङी प्रत्ययः फलं, ततो यदि स्त्रियां क्तिर्भविष्यति तदा किं टिद्विधानेन ।

श्रो वायु-वर्ण-निवृते ॥ 5. 3. 20. ॥

'शॄ' इत्यस्माद् भावाऽकर्त्रोर्वाय्वादिष्वर्थेषु घञ् भवति ।

शीर्यते औषधादिभिरिति-शारो वायुः, मालिन्येन शीर्यते इति-शारो वर्णः, निवृतं निवरणं प्रावरणमित्यर्थः, निशीर्यते शीताद्युपद्रवो येन तत्-नीशारो निवृतम्, ``गौरिवाकृत-नीसारः प्रायेण शिशिरे कृशः'' निवृता द्यूतोपकरणमिति कश्चित्, 'नियमेन वृता' इत्य-

न्वर्थात्, शारैरिव क्रीडितम् । एष्विति किम् ? शरः ॥20॥

*न्या०स०–श्रो वायु-नीशार इति-*बाहुलकात् परमप्यऽनटं घं वा बाधते घञ् प्रत्ययः ।

निरभेः पू-ल्वः ॥ 5. 3. 21. ॥

'पू' इति पूग्-पूङोः सामान्येन ग्रहणम्, निरभिपूर्वाभ्यां यथासंख्यं पू-लूभ्यां परो भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

निष्पूयते-निष्पावः, अभिलावः ॥21॥

रोरुपसर्गात् ॥ 5. 3. 22. ॥

उपसर्गपूर्वाद् रौतेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

संरवणं-संरावः, उपरावः, विरावः । उपसर्गादिति किम् ? रवः । सांराविणमित्यत्र ञिन् बाधकः । कथं रावः ? बहुलाधिकारात् ॥22॥

*न्या०स०–रोरुपस०-सांराविणमिति-*समंताद्रावः ``अभिव्याप्तौ'' (5-3-90) इति ञिन् तत स्वार्थे ``नित्यं ञञनोऽण्'' (7-3-58) ``नो पदस्य'' (7-4-61) इत्यन्त्यस्वरादेर्लुक् न ``अनपत्ये'' (7-4-55) इति निषेधात् ।

भू-श्र्योदऽलू ॥ 5. 3. 23. ॥

'भू श्रि अद्' इत्येतेभ्य उपसर्गपूर्वेभ्यो भावाकर्त्रोरल् प्रत्ययो भवति ।

प्रभवः, विभवः, संभवः; प्रश्रयः, प्रतिश्रयः, संश्रयः; प्रघसः, विघसः, संघसः । उपसर्गादित्येव ? भावः, श्रायः, घासः । भू-श्र्योरुपसर्गादेवेति नियमार्थं वचनम् । कथं प्रभावः, विभावः, अनुभावः ? बहुलाधिकारात्, प्रकृष्टो भाव इत्यादिप्रादिसमासो वा । लकारो ``मिग्-मीगोऽखलचलि'' (4-2-8) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥23॥

न्यादो नवा ॥ 5. 3. 24. ॥

निपूर्वाददेरलि घस्लृभावोऽकारस्य दीर्घत्वं च वा निपात्यते । न्यादः, निघसः ।24।

सं-नि-व्युपाद् यमः ॥ 5. 3. 25. ॥

एभ्य उपसर्गेभ्यः परात् यमेर्भावा-ऽकर्त्रोरल् वा भवति ।

संयमः, संयामः; नियमः, नियामः; वियमः, वियामः; उपयमः, उपयामः ॥25॥

नेर्नद-गद-पठ-स्वन-क्वणः ॥ 5. 3. 26. ॥

नेरुपसर्गात् परेभ्य एभ्यो भांवा ऽकर्त्रोरल् प्रत्ययो वा भवति ।

निनदः, निनादः; निगदः, निगादः; निपठः, निपाठः; निस्वनः, निस्वानः; निक्वणः, निक्वाणः ॥26॥

वैणे क्वणः ॥ 5. 3. 27. ॥

वीणायां भवो-वैणः, वैणेऽर्थे वर्तमानादुपसर्गपूर्वात् क्वणेर्भावाऽत्र्योरल् वा भवति ।

प्रक्वणो वीणायाः, प्रक्वाणो वीणायाः; एवं-निक्वणः, निक्वाणः। वैण इति किम् ? प्रक्वाणः श्रृङ्खलस्य । कथं क्वणः क्वाणो वीणायाः ? ``नवा क्वण०'' (5-3-48) इत्यादिना सामान्येन विधानात् वैणेऽपि भवति ॥27॥

युवर्ण-वृ-दृ-वश-रण-गमृद्-ग्रहः ॥ 5. 3. 28. ॥

उपसर्गाद् वा इति च निवृत्तम् । इवर्णान्तेभ्य उवर्णान्तेभ्यो वृ-दृ-वश-रण-गमिभ्य ऋकारान्तेभ्यो ग्रहेश्च धातोर्भावाऽकर्त्रोरल् भवति, घञोऽपवादः ।

चयः, निश्चयः, जयः, क्षयः, क्रयः, यवः, रवः; नवः, स्तवः, लवः, पवः; वरः, प्रवर।; दरः, आदरः, वशः, रणः, गमः, अवगमः; कॄ-करः, गॄ-गरः, तॄ-तरः, दॄ-दरः, शॄ-शरः ग्रहः । कथं वारः समूहः, वारोऽवसरः, वारः क्रियाभ्यावृत्तिः ? बहुलाधिकाराद् घञ् । परिवार इति तु ण्यन्तादचि सिद्धम् ॥28॥

न्या०स०—युवर्णवृ-उपसर्गाद्वेति च निवृत्तम्-``आङो रुप्लो'' (5-3-49) इति सूत्रकरणात् ।

वर्षादयः क्लीबे ॥ 5. 3. 29. ॥

वर्षादयः शब्दा अलन्ताः क्लीबे यथादर्शनं भावाऽकर्त्रोर्निपात्यन्ते । नपुंसके क्ताऽनड्-निवृत्त्यर्थं वचनम् ।

वर्षं भयं धनं वनं खलं पदम् । युगम्, अत्र रथाङ्गकालविशेष-युग्मेष्वल् गत्वगुणाभावौ च निपातनात् । अनपुंसकक्तस्तु असरूपविधिना भवत्येव-वृष्यते स्म-वृष्टं मेघेन, भीतं बटुना॥29॥

न्या०स०—वर्षाद-अनट्निवृत्त्यर्थमिति-तत्किं वर्षणमिति न भवति ? भवत्येव, वृषभो वर्षणादिति भाष्यकारवचनात् ।

वृष्टं मेघेनेति-अत्र भावे ``तत्साप्या'' (3-3-21) इति क्तः ।

समुदोऽजः पशौ ।। 5. 3. 30. ।।

समुद्भ्यां परादजतेः पशुविषये धात्वर्थे वर्तमानात् भावाऽकर्त्रोरल् भवति । समजः पशूनाम्, समूह इत्यर्थः; उदजः पशूनां, प्रेरणमित्यर्थः । समुद इति किम् ? व्याजः पशूनाम् । पशाविति किम् ? समाजः साधूनाम्, उदाजः खगानाम् ।।30।।

सृ-ग्लहः प्रजनाऽक्षे ।। 5. 3. 31. ।।

सर्ति-ग्लहिभ्यां यथासंख्यं प्रजनाऽक्षविषये धात्वर्थे वर्तमानाभ्यां भावाऽकर्त्रोरल् भवति ।

गवामुपसरः, पशूनामुपसरः, ``वीनामुपसरं दृष्ट्वा'; प्रजनो गर्भग्रहणम्, तदर्थं स्त्रीषु पुंसां प्रथमं सरणमुपसर उच्यते । अक्षाणां ग्लहः, ग्रहणमित्यर्थः, ग्रहेः सूत्रनिपातनाल्लत्वम्, ग्लहिः प्रकृत्यन्तरं वा । प्रजनाऽक्ष इति किम् ? उपसारो भृत्यै राज्ञाम्, ग्लहः ग्लाहो वा पादस्य । कथं परिसरविषमेषुलीढमुक्तौ ? अधिकरणे पुंनाम्नि घेन सिद्धम् ।।31।।

पणेर्माने ।। 5. 3. 32. ।।

पणेर्मानेऽर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोरल् भवति । मूलकपणः, शाकपणः, पण्यत इति पणः, मूलकादीनां संव्यवहारार्थं परिमितो मुष्टिरित्यर्थः । माने इति किम् ? पाणः घञोऽपवादो योगः ।।32।।

संमद-प्रमदौ हर्षे ।। 5. 3. 33. ।।

'संमद प्रमद' इत्येतौ भावाऽकर्त्रोर्हर्षेऽर्थेलन्तौ निपात्येते ।

सम्मदः कोकिलानाम्, प्रमदः कन्यानाम् । हर्ष इति किम् ? संमादः, प्रमादः । ``संप्रान्मदे इत्यनुक्त्वा निपातनं रूपनिग्रहार्थम्, तेनोपसर्गान्तरयोगे न भवति-प्रसंमादः, संप्रमादः, अभिसंमादः ।।33।।

न्या०स०—सम्मद-प्रसंमाद इति-प्रकृष्टः संमद इति कृते प्रसम्मद इत्यपि ।

हनोऽन्तर्घना-ऽन्तर्घणौ देशे ॥ 5. 3. 34. ॥

अन्तःपूर्वाद्धन्तेरल् प्रत्ययो घन-घणौ चादेशौ निपात्येते देशेऽभिधेये भावाऽकर्त्रोः ।

अन्तर्हण्यतेऽस्मिन्निति-अन्तर्घनः, अन्तर्घणो वा वाहीकेषु देशविशेषः; अन्तर्घातो-ऽन्यः । एके त्वन्तः संहतो देशोऽन्तर्घनः । अभ्यन्तरो देश इति केचित्- 'तस्मिन्नन्तर्घणेऽपश्यत्' घणिः प्रकृत्यन्तरमित्यन्ये ॥34॥

प्रघण-प्रघाणौ गृहांशे ॥ 5. 3. 35. ॥

प्रपूर्वाद्धन्तेर्गृहांशेऽभिधेयेऽल् प्रत्ययो घणघाणौ चादेशौ निपात्येते । प्रघणः प्रघाणो वा द्वारालिन्दकः; प्रघातोऽन्यः ॥35॥

निघोद्‌ध-संघोद्‌धना-ऽपघनोपघ्नं निमित-प्रशस्त-गणा-ऽत्याधाना-ऽङ्ग-ऽऽसन्नम् ॥ 5. 3. 36. ॥

हन्तेर्निघादयः शब्दा यथासंख्यं निमितादिषु वाच्येषु कृतघत्वादयोऽलन्ता निपात्यन्ते ।

समन्ततो मितं तुल्यमविशेषेण वा मितं परिच्छिन्नं-निमितम्, तुल्यारोहपरिणाह मित्यर्थः । निर्विशेषं निश्चयेन वा हन्यन्ते ज्ञायन्ते-निघा वृक्षाः, निघाः शालयः, निघा बृहतिका, निघं वस्त्रम्; निघातोऽन्यः । उत्कर्षेण हन्यते ज्ञायते-उद्‌धः प्रशस्तः, उद्‌धातोऽन्यः । गणः-प्राणिसमूहः, संहतिः, संघः, अन्यत्र संघातः ।

कथं संघातो मनुष्याणाम् ? संघातशब्दः समुदायमात्रे । अत्याधीयन्ते छेदनार्थं कुट्टनार्थं च काष्ठादीनि यत्र तदत्याधानम्, उद्धन्यतेऽस्मिन्निति-उद्‌धनः, काष्ठोद्‌धनः, ताम्रोद्‌धनः, लोहोद्‌धनः, घनः, स्कन्धः; उद्‌घातोऽन्यः । अङ्गं-शरीरावयवः, अपहन्यतेऽनेनेत्यपघ-नोऽङ्गम्, ''व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्'' । पाणिः पादश्चापघनो नापरमङ्गमित्यन्ये । अपघातोऽन्यः । उपहन्यते-समीप इति ज्ञायते-उपघ्न आसन्नः, गुरूपघ्नः, ग्रामोपघ्नः, उपघातोऽन्यः । निपातनादेवोपात्तार्थविशेषे वृत्तिरसरूपप्रत्ययबाधनं च विज्ञायते ॥36॥

न्या०स०-निघोद्‌घ-समन्ततो मितमिति-निशब्दस्य द्वावर्थौ समन्ततोऽविशेषश्चेति । *निर्विशेषं निश्चयेन वेति*-समन्ततो मितमविशेषेण वा मितमिति भणितपूर्वार्थापेक्षया आभ्यां यथासंख्यं न, यतः स्वतन्त्राविमौ । *कथं संघातो मनुष्याणामिति*-नन्वत्र प्राणिसमूहत्वात् निपातः कथं न ? सत्यं,-संघातशब्दं प्रसाध्य पश्चात् मनुष्यशब्देन संबन्धः, अन्ये त्वपघन- शब्देन हस्तपादस्यैव

ग्रहणमाहुस्तन्निरासायाह-*प्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषानिति*-ननु निघादिशब्दानां निमिताद्यर्थविशेषे कथं वृत्तिः कथमाधारादौ असरूपविधिनाऽनडादयश्च न भवन्ति ? इत्याह-*निपातनादेवेति*-अन्यथा निमितात्याधानादिषु विशेषार्थप्रतीतिस्तुल्या- रोहपरिणाहादिका न स्यात् ।

मुर्त्ति-निचिताऽभ्रे घनः ।। 5. 3. 37. ।।

हन्तेर्मूर्त्यादिष्वर्थेषु अल् प्रत्ययो घनादेशश्च निपात्यते ।

मूर्त्तिः काठिन्यम्, अभ्रस्य घनः, काठिन्यमित्यर्थः; एवं-दधिघनः, लोहघनः । निचितं निरन्तरं तत्र, घनाः केशाः, घना व्रीहयः । अभ्रं मेघस्तत्र-घनः । कथं घनं दधि ? गुणशब्दोऽयं तद्योगाद् गुणिन्यपि वर्तते ।।37।।

व्ययो-द्रोः करणे ।। 5. 3. 38. ।।

'वि अयस् द्रु' इत्येतेभ्यः पराद्धन्तेः करणेऽल् प्रत्ययो घनादेशश्च निपात्यते । भावस्य कारकान्तरस्य चानुप्रवेशो मा भूदिति करणग्रहणम् ।

विहन्यतेऽनेन तिमिरं-विघनः, विघनेन्दुसमद्युतिः, वयः पक्षिणो हन्यन्तेऽनेनेति वा-विघनः, अयोघनः, द्रुर्हन्यतेऽनेनेति-द्रुघनः कुठारः । कथं द्रुघणः ? अरीहणादिपाटाण्णत्वे भविष्यति, घणतेर्वाऽजन्तस्य रूपम्, स्त्रियां त्वनडेव परत्वात्-विहननी, अयोहननी, द्रुहननी ।।38।।

न्या०स०—व्ययोद्रोः द्रुघन इति-``हनोघि'' (2-3-94) इति व्याप्त्या प्रवृत्तेः ``पूर्वपदस्था'' (2-3-64) इति न णत्वम् ।

घणतेर्वेति-घणिः सौत्रः, द्रूणि दारूणि घणति लिहाद्यच् ।

स्तम्बाद् घ्नश्च ।। 5. 3. 39. ।।

स्तम्बशब्दात् पराद्धन्तेरल् घ्न-घनादेशौ च निपात्येते करणे ।

स्तम्बो हन्यतेऽनेन-स्तम्बघ्नो दण्डः, स्तम्बघ्नो यष्टिः, स्त्रियां परत्वादनडेव-स्तम्बहननी यष्टिः । केचित् तु-कप्रत्यये निपातनं कृत्वा स्त्रियामपि स्तम्बघ्नेतीच्छन्ति । अन्ये तु-स्तम्बपूर्वस्यापि हन्तेः ``सातिहेति०'' (5-3-94) इति निपातनात् स्तम्बहेतिरितीच्छन्ति । करण इत्येव-स्तम्बहननं स्तम्बघातः । कथं स्तबघ्नीषीका ? करणस्यापि कर्तृत्वविवक्षया ``अचित्ते टक्'' (5-3-83) इत्यनेन टकि सिद्धम् ।।39।।

परेर्घः ॥ 5. 3. 40. ॥

परिपूर्वाद्धन्तेरल् घादेशश्च करणे निपात्यते । परिहण्यतेऽनेनेति-पारिघोऽर्गला, लत्वे पलिघः ॥40॥

ह्वः समाह्वया-ऽऽह्वयौ द्यूत-नाम्नोः ॥ 5. 3. 41. ॥

करण इति निवृत्तम्, द्यूते नाम्नि चाभिधेये यथासंख्यं समाङ्पूर्वादाङ्पूर्वाच्च ह्वयतेरल् ह्वयादेशश्च निपात्यते ।

समाह्वयः प्राणिद्यूतम्, आह्वयो नाम ॥41॥

न्यभ्युप-वेर्वाश्चोत् ॥ 5. 3. 42. ॥

नि-अभि-उप विभ्यः परात् ह्वयतेर्भावाऽकर्त्रोरल् तत्संनियोगे च वाशब्द उकारो भवति, अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः ।

निहवः, अभिहवः, उपहवः विहवः । न्यभ्युपवेरिति किम् ? प्रह्वायः । ह्व इत्येव ? निवायः । ह्वो हव इत्यनिपातनं किम् ? यङ्लुपि निपातनं मा भूत् तेन विजोहव इति सिद्धम्, अन्यथा विहव इति स्यात् । जुहोतिनैव सिद्धे ह्वयते रूपान्तरनिवृत्तत्यर्थं वचनम् ॥42॥

न्या०स०—न्यभ्युपवे-विजोहव इति-भृशं विह्वयति, यङ्लुप् ``द्वित्वे ह्वः'' (4-1-87) इति य्वृत्-विजोहवनं, अनेनाल् । *अन्यथा विहव इति*-प्रकृतिग्रहणे इति न्यायात् यङ् लुबन्तस्याप्यनेनाऽलि ह्वो हव इति कृतद्वित्वस्यापि निपाते विहव इति स्यादित्यर्थः ।

आङो युद्धे ॥ 5. 3. 43. ॥

आङ्पूर्वाद् ह्वयतेर्युद्धेऽर्थे भावाऽकर्त्रोरल् भवति, वाशब्दश्चोकारः ।

आहूयन्ते योद्धारोऽस्मिन्निति-आहवो युद्धम् । युद्ध इति किम् ? आह्वायः, आह्वानम् ॥43॥

आहावो निपानम् ॥ 5. 3. 44. ॥

निपिबन्त्यस्मिन्-निपानम्, पशु-शकुनीनां पानार्थं कृतो जलधारः । आङ्पूर्वात् ह्वयतेर्भावाकर्त्रोरल्, आहावादेशश्च निपात्यते, निपानं चेदभिधेयं भवति ।

आहूयन्ते पशवः पानायास्मिन्नित्याहावः पशूनाम्, आहावः शकुनीनाम्, निपान-मित्यर्थः। निपानमिति किम् ? आह्वायः, आह्वानम् ।।44।।

भावेऽनुपसर्गात् ।। 5. 3. 45. ।।

अविद्यमानोपसर्गात् ह्वयतेर्भावेऽल् वाशब्दश्चोकारो भवति। अकर्तरीत्यस्यानुप्रवेशो मा भूदिति भावग्रहणम् ।

ह्वानं हवः। भाव इति किम् ? कर्मणि ह्वायः। अनुपसर्गादिति किम् ? आह्वायः ।।45।।

हनो वा वध् च ।। 5. 3. 46. ।।

अनुपसर्गाद्धन्तेर्भावेऽल् वा भवति, तत्संनियोगे चास्य वधादेशः। हननं वधः, घातः। अनुपसर्गादित्येव-संघातः ।।46।।

*न्या०स०—हनो वा-वध इति-*यङ्लुबन्तस्यापि वधो घात इत्येव भवति ।

व्यध-जप-मद्भ्यः ।। 5. 3. 47. ।।

एभ्योऽनुपसर्गेभ्यो भावाकर्त्रोरल् भवति । बहुवचनाद् भाव इति निवृत्तम् ।

व्यधः, जपः, मदः । अनुपसर्गादित्येव ? आव्याधः, उपजापः, उन्मादः ।।47।।

नवा क्वण-यम-हस-स्वनः ।। 5. 3. 48. ।।

अनुपसर्गेभ्य एभ्यो भावाकर्त्रोरल वा भवति। क्वणः, क्वाणः; यमः, यामः; हसः, हासः; स्वनः, स्वानः । अनुपसर्गादित्येव ? प्रक्वाणः, प्रयामः, प्रहासः, विष्वाणः । अप्राप्तविभाषेयम् ।।48।।

आङो रु-प्लोः ।। 5. 3. 49. ।।

आङः पराभ्यां रु-प्लुभ्यां भावाऽकर्त्रोरल् वा भवति ।

आरवः, आरावः; आप्लवः, आप्लावः । आङ इति किम् ? विरावः, विप्लवः । रौतेर्घञि प्लवतेरलि नित्यं प्राप्ते विकल्पः ।।49।।

वर्षविघ्नेऽवाद् ग्रहः ।। 5. 3. 50. ।।

अवपूर्वात् ग्रहेर्वर्षविघ्ने वाच्ये भावाऽकर्त्रोरल् वा भवति ।

अवग्रहः, अवग्राहः; वृष्टेः प्रतिबन्ध इत्यर्थः । वर्षविघ्न इति किम् ? अवग्रहः पदस्य, अवग्रहोऽर्थस्य ।।50।।

प्राद् रश्मि-तुलासूत्रे ।। 5. 3. 51. ।।

प्रपूर्वाद् ग्रहे रश्मौ तुलासूत्रे चार्थे भावाऽकर्त्रोरल् वा भवति । प्रगृह्यत इति-प्रग्रहः, प्रगाह; अश्वादेः संयमनरज्जुस्तुलासूत्रं चोच्यते, अन्यस्तु प्रग्रहः ।।51।।

वृगो वस्त्रे ।। 5. 3. 52. ।।

प्रपूर्वाद् वृणोतेर्वस्त्रविशेषे वाच्ये भावाऽकर्त्रोरल् वा भवति ।

प्रवृण्वन्ति तमिति-प्रवरः, प्रावारः; ``घञ्युपसर्गस्य बहुलम्'' (3-2-86) इति दीर्घः । अन्ये तु प्राङ्पूर्व एव वृणोतिः स्वभावाद् वस्त्रविशेषे वर्तते, तेन प्रावारः प्रावरः इति भवति । वस्त्र इति किम् ? प्रवरो यतिः ।।52।।

उदः श्रेः ।। 5. 3. 53. ।।

उत्पूवाच्छ्रेर्भावाऽकर्त्रोरल् वा भवति । उच्छ्रयः, उच्छ्रायः । नित्यमलि प्राप्ते विकल्पः ।।53।।

यु-पू-द्रोर्घञ् ।। 5. 3. 54. ।।

वेति निवृत्तं पृथग्योगात्-उत्पूर्वेभ्य एभ्यो भावाऽकर्त्रोघञ् भवति, अलोऽपवादः ।

उद्यावः उत्पावः, उद्द्रावः ।।54।।

ग्रहः ।। 5. 3. 55. ।।

उत्पूर्वात् ग्रहेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति, अलोऽपवादः ।

उद्ग्राहः । उद इत्येव ? ग्रहः, विग्रहः ।।55।।

न्यवाच्छापे ।। 5. 3. 56. ।।

न्यवाभ्यां पराद् ग्रहेः शापे-आक्रोशे गम्यमाने भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । निग्रहो ह ते वृषल ! भूयात्, अवग्राहो हते जाल्म ! भूयात् । शाप इति किम् ? निग्रहश्चौरस्य, अवग्रहः पदस्य ॥56॥

प्रालि्लप्सायाम् ॥ 5. 3. 57. ॥

प्रपूर्वाद् ग्रहेर्लिप्सायां गम्यमानायां भावाऽकर्त्रोर्घञ्, भवति ।

पात्रप्रग्राहेण चरति पिण्डपातार्थी भिक्षुः, स्त्रुवस्य प्रग्राहेण चरति दक्षिणार्थी द्विजः । लिप्सायामिति किम् ? स्त्रुवस्य प्रग्रहः ॥57॥

समो मुष्टौ ॥ 5. 3. 58. ॥

संपूर्वाद् ग्रहेर्मुष्टिविषये धात्वर्थे भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । मुष्टिरङ्गुलिसंनिवेशो न परिमाणम्, तत्र ``माने'' (5-3-81) इत्येव सिद्धत्वात् ।

संग्राहो मल्लस्य, अहो मौष्टिकस्य संग्राहः, मुष्टेर्दार्ढ्यमुच्यते । मुष्टाविति किम् ? संग्रहः शिष्यस्य ॥58॥

यु-दु-द्रोः ॥ 5. 3. 59. ॥

संपूर्वेभ्य एभ्यो भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । संयावः, संदावः, संद्रावः । सम इत्येव ? विद्रवः, उपद्रवः ॥59॥

नियश्चानुपसर्गाद् वा ॥ 5. 3. 60. ॥

अविद्यमानोपसर्गान्नयतेर्यु-दु-द्रोश्च भावाऽकर्त्रोर्घञ् वा भवति ।

नयः, नायः, यवः, यावः; दवः, दावः; द्रवः, द्रावः । अनुपसर्गादिति किम् ? प्रणयः ॥60॥

वोदः ॥ 5. 3. 61. ॥

उत्पूर्वान्नयतेर्भावाऽकर्त्रोर्वा घञ् भवति । उन्नायः, उन्नयः ॥61॥

अवात् ॥ 5. 3. 62. ॥

अवपूर्वान्नयतेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । अवनायः ॥62॥

परेर्द्यूते ।। 5. 3. 63. ।।

परिपूर्वान्नयतेर्द्यूतविषये धात्वर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

परिणायेन शारीन् हन्ति, समन्तान्नयनेनेत्यर्थः । द्यूत इति किम् ? परिणयः कन्यायाः ।।63।।

भुवोऽवज्ञाने वा ।। 5. 3. 64. ।।

परिपूर्वाद् भवतरेवज्ञानेऽर्थे वर्तमानाद् भावाकर्त्रोर्घञ् वा भवति । अवज्ञानमसत्कारपूर्वकोऽवक्षेपः ।

परिभावः, परिभवः । अवज्ञान इति किम् ! समन्ताद् भवनं परिभवः ।।64।।

यज्ञे ग्रहः ।। 5. 3. 65. ।।

परिपूर्वाद् ग्रहेर्यज्ञविषये प्रयोगे भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

पूर्वपरिग्राहः, उत्तरपरिग्राहः, वेदेर्यज्ञाङ्गभूताया ग्रहणविशेष एताभ्यामभिधीयते । यज्ञ इति किम् ? परिग्रहः कुटुम्बिनः ।।65।।

संस्तोः ।। 5. 3. 66. ।।

संपूर्वात् स्तौतेर्भावाऽकर्त्रोर्यज्ञविषये घञ् भवति । संस्तुवन्त्यत्रेति संस्तावश्छन्दोगानाम्, समेत्य स्तुवन्ति छन्दोगा यत्र देशे स देशः संस्ताव उच्यते । यज्ञे इत्येव ? संस्तवोऽन्यदृष्टे ।।66।।

प्रात् स्नु-द्रु-स्तोः ।। 5. 3. 67. ।।

प्रात् परेभ्यः स्नवत्यादिभ्यो भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । प्रस्नावः, प्रद्रावः, प्रस्तावः । प्रादिति किम् ? स्नवः, द्रवः, स्तवः । कथं स्नावः ? बहुलाधिकारात् ।।67।।

अयज्ञे स्त्रः ।। 5. 3. 68. ।।

प्रपूर्वात् 'स्तॄ' इत्येतस्मात् धातोर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । अयज्ञे-न चेत् यज्ञविषयः प्रयोगो भवति ।

प्रस्तारः, मणिप्रस्तारः, विमानप्रस्तारः, नयप्रस्तारः । अयज्ञ इति किम् ? बर्हिष्प्रस्तरः, ''समासेऽसमस्तस्य'' (2-3-13) इति षत्वम् ।।68।।

वेरशब्दे प्रथने ॥ 5. 3. 69. ॥

प्रथनं विस्तीर्णता, वेः परात् स्तृणातेरशब्दविषये प्रथनेऽभिधेये घञ् भवति । विस्तारः पटस्य । प्रथन इति किम् ? तृणस्य विस्तरः, छादनमित्यर्थः । अशब्द इति किम् ? अहो द्वादशाङ्गस्य विस्तरः ॥69॥

छन्दोनाम्नि ॥ 5. 3. 70. ॥

छन्दः-पद्यो वर्णविन्यासः विपूर्वात् स्तृणातेश्छन्दोनाम्नि विषये घञ् भवति । विष्टारपङ्क्तिः । केचित् तु वेरन्यतोऽपीच्छन्ति-आस्तारपङ्क्तिः, प्रस्तारपङ्क्तिः, छन्दो-नाम ॥70॥

*न्या०स०—छन्दोनाम्नि-विष्टारपङ्क्तिरिति-*पङ्क्त्यन्तं छन्दोनामेति वाक्यावस्थायां घञ् न तेन विस्तरश्चासौ पङ्क्तिश्चेति कर्म्मधारयः, षष्ठीपञ्चमीतत्पुरुषो वा ।

क्षु-श्रोः ॥ 5. 3. 71. ॥

क्षौतेः श्रृणोतेश्च विपूर्वाद् भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । विक्षावः, विश्रावः । वेरित्येव ? क्षवः, श्रवः ॥71॥

न्युदो ग्रः ॥ 5. 3. 72. ॥

न्युद्भ्यां पराद् गिरतेर्गृणातेर्वा भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । निगारः, उद्गारः । न्युद इति किम् ? गरः, संगरः ॥72॥

*न्या०स०—न्युदो ग्रः-संगर इति-*संगीर्यतेऽभ्युपगम्यते योद्धृभिर्युद्धं संगरणं वा तदा प्रतिज्ञा ।

किरो धान्ये ॥ 5. 3. 73. ॥

न्युत्पूर्वात् किरतेर्धान्यविषये धात्वर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । निकारो धान्यस्य, उत्कारो धान्यस्य, राशिरित्यर्थः । धान्य इति किम् ? फलनिकरः, पुष्पोत्करः ॥73॥

न्या०स०–किरो धा-निकारस्तिरस्कार इति तु करोतेर्घञ् ।

नेर्वुः ॥ 5. 3. 74. ॥

निपूर्वात् वृणोतेर्वृणातेर्वा धान्यविशेषेऽभिधेये भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

निव्रियन्त इति-नीवारा नाम व्रीहिविशेषाः, ``घञ्युपसर्गस्य बहुलम्'' (3-2-86) इति दीर्घत्वम् । धान्य इत्येव ? निवरा कन्या, स्वभावादलन्तोऽप्ययं स्त्रियां वर्तते, क्तिस्तु बहुलाधिकारान्न भवति ॥74॥

इणोऽभ्रेषे ॥ 5. 3. 75. ॥

स्थितेरचलनमभ्रेषः, निपूर्वादिणोऽभ्रे षविषयेऽर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोर्घञ् प्रत्ययो भवति । शास्त्रलोकप्रसिद्ध्यादिना नियतमयनं-न्यायः । अभ्रेष इति किम् ? न्ययं गतश्चौरः ॥75॥

परेः क्रमे ॥ 5. 3. 76. ॥

क्रमः परिपाटी, परिपूर्वादिणः क्रमविषयेऽर्थे वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति ।

तव पर्यायो भोक्तुम्, मम पर्यायो भोक्तुम्, क्रमेण पदार्थानां क्रियासंबन्धः पर्यायः । क्रम इति किम् ? पर्ययः स्वाध्यायस्य, अतिक्रम इत्यर्थः, विपर्ययो मतेः, अन्यथाभवन-मित्यर्थः ॥67॥

व्युपात् शीङः ॥ 5. 3. 77. ॥

व्युपाभ्यां परात्शीङो भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति, क्रमे-क्रम विषयश्चेद् धात्वर्थो भवति ।

तव राजविशायः, मम राजोपशायः । क्रमप्राप्तं पर्यायसाध्यं शयनमुच्यते । अन्ये तु शयितुं पर्याय उच्यते इत्याहुः । क्रम इति किम् ? विशयः, उपशयः ॥77॥

न्या०स०–व्युपात्शीङः–स्वमते शयनस्य प्राधान्यं तन्मते तु पर्यायस्येति तात्पर्यार्थः ।

हस्तप्राप्ये चेरस्तेये ॥ 5. 3. 78. ॥

हस्तेनोपायान्तरनिरपेक्षेण प्राप्तुं शक्यं-हस्तप्राप्यम्, तद्विषयाच्चिनोतेर्भावाऽकर्त्रोघञ् भवति, अस्तेये न चेद् धात्वर्थः स्तेये-चौर्ये भवति । हस्तप्राप्यशब्देन प्रत्यासत्तिः प्राप्यस्य लक्ष्यते, तेन प्रत्यासत्तिविषये धात्वर्थे विधानम् ।

पुष्पप्रचायः, फलावचायः, फलोच्चायः, फलोच्चायश्च संहतैः । उदो नेच्छन्त्यन्ये-फलोच्चयः । हस्तप्राप्य इति किम् ? पुष्पप्रचयं करोति तरुशिखरे । अस्तेय इति किम् ? स्तेयेन पुष्पप्रचयं करोति । हस्तप्राप्यशब्देन प्रमाणमप्युच्यते-यद्धस्ते संभवति न हस्तादतिरिच्यते इति, ततश्च ``माने'' (5-3-81) इत्यनेनैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्-अस्तेय एवेति, तेन पुष्पाणां हस्तेन प्रचयं करोति चौर इत्यत्र ``माने'' (5-3-81) इत्यनेनापि घञ् न भवति ॥78॥

न्या०स०—हस्तप्राप्ये-यद्धस्ते संभवतीति-हस्ते सम्मातीत्यर्थः ।

चिति-देहा-ऽऽवासोपसमाधाने कश्चादेः ॥ 5. 3. 79. ॥

चीयत इति-चितिर्यज्ञेऽग्निविशेषः, तदाधारी वा; देहः शरीरम्, आवासो निवासः, उपसमाधानमुपर्यपरि राशीकरणम्, एष्वर्थेषु चिनोतेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् तत्संनियोगे चादेः ककारादेशो भवति ।

चितौ - आकायमग्निं चिन्वीत । देहे-कायः शरीरम् । आवासे-ऋषिनिकायः । उपसमा-धाने-गोमयनिकायः, गोमयपरिकायः । कथं काष्ठनिचयः ? बहुत्वमात्रविवक्षया । एष्विति किम् ? चयः । चः क इत्येव सिद्धे आदिग्रहणमादेरेव यथा स्यात्, तेन चेर्यङ्लुपि-निकेचाय इत्येव भवति ॥79॥

संघेऽनूर्ध्वे ॥ 5. 3. 80. ॥

न विद्यते कुतश्चिदूर्ध्वमुपरि किंचिद् यस्मिन् सोऽनूर्ध्वः, तस्मिन् संघ-प्राणिसमुदा-येऽभिधेये चिनोतेर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् तत्संनियोगे चादेः को भवति ।

वैयाकरणनिकायः, तार्किकनिकायः । संघ इति किम् ? सारसमुच्चयः, प्रमाण-समुच्चयः । अनूर्ध्व इति किम् ? सूकरनिचयः, सूकरा ह्युपर्यपरि चीयन्ते ॥80॥

न्या०स०—संघेऽनू-सूकरनिचय इति-पूर्वेणापि न भवति व्यावृत्तिबलात् ।

माने ॥ 5. 3. 81. ॥

माने गम्यमाने धातोर्भावाऽकर्त्रोर्घञ् भवति । मानमियत्ता, सा च द्वेधा-संख्या परिमाणं च । एको निघासः, द्वौ निघासौ; एकस्तण्डुलावक्षायः; एकस्तण्डुलनिश्चायः, एकः कारः, द्वौ कारौ, त्रयः काराः; द्वौ सूर्पनिष्पावौ; समित्संग्राहः, तण्डुलसंग्राहः, मुष्टिरित्यर्थः ।

मान इति किम् ? निश्चयः । अल एवायमपवादः, क्त्यादिभिस्तु बाध्यते-एका तिलोच्छितिः, द्वे प्रसृती ।।81।।

न्या०स०—माने-द्वौ सूर्पनिष्पावाविति-पवने पावौ निश्चितौ पावाविति कार्यं, निष्पवने इति तु कृते ``निरभेः पूल्वः'' (5-3-21) इत्यनेनापि सिद्धम् । अल एवायमपवाद इति—❊ मध्ये अपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❊ इति न्यायात् ।

स्थादिभ्यः कः ।। 5. 3. 82. ।।

स्थादिभ्यो धातुभ्यो भावाऽकर्त्रोः कः प्रत्ययो भवति ।

आखूनामुत्थानम्-आखूत्थो वर्तते, शलभोत्थो वर्तते, प्रतिष्ठन्त्यस्मिन्निति-प्रस्थः सानुः, संतिष्ठन्तेऽस्यामिति-संस्था, व्यवतिष्ठन्तेऽनयेति-व्यवस्था, प्रस्नात्यस्मिन्निति-प्रस्नः, प्रपिबन्त्यस्यामिति-प्रपा, विध्यतेऽनेनेतिविधः, आविध्यतेऽनेनेत्याविधः, विहन्यतेऽनेनास्मिन् वा-विघ्नः आयुध्यन्तेऽनेनेत्यायुधम् । आध्यायन्ति तमित्याढ्यः, पृषोदरादित्वात् धस्य ढः । सर्वापवादत्वादनटमपि कप्रत्ययो बाधते । कथमाव्याधः, घातः, विघातः, उपघातः ? बहुलाधिकारात् । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ।।82।।

न्या०स०—स्थादिभ्यः कः-प्रस्थ इति-प्रपूर्वस्तिष्ठतिर्गत्यर्थ इति क्षीरः, यदि प्रतिष्ठते मानार्थमिति क्रियते तदा ``उपसर्गादातो डोऽश्यः'' (5-1-56) इति डे प्रस्थो मानमिति भवति ।

संस्थेति—``उपसर्गादातः'' (5-3-110) इत्यङं बाधित्वा स्त्रियाः खलनावित्यनट् स्यादित्यत्र पाठः । *विघ्न इति*-स्थादिगणपाठबलात् करणेऽपि कः प्रत्ययो, न तु ``व्ययोद्रोः करणे'' (5-3-38) इत्यनेनाल् । *घात इति*-विघात इतिवत् ।

घात उपघात इति-अत्रापि करणाधिकरणत्वं द्रष्टव्यम् ।

ट्वितोऽथुः ।। 5. 3. 83. ।।

ट्वितो धातोर्भावाऽकर्त्रोरथुः प्रत्ययो भवति । वेपथुः, वमथुः, श्वयथुः, स्फूर्जथुः, भ्रासथुः, नन्दथुः, क्षवथुः, दवथुः । असरूपत्वाद् घञलावपि-वेपः, क्षवः ।।83।।

ड्वितस्त्रिमक् तत्कृतम् ।। 5. 3. 84. ।।

ड्वितो धातोर्भावाऽकर्त्रोस्त्रिमक् प्रत्ययो भवति, तेन-धात्वर्थेन, कृतं-निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे।

पाकेन निर्वृत्तं-पक्त्रिमम्, उप्त्रिमम्, कृत्रिमम्, लब्ध्रिमम्, विहित्रिमम्, याचित्रिमम्, ट्विवदसाविति कश्चित्-याचथुः । ककारः कित्कार्यार्थः ॥84॥

न्या०स०—ड्वितस्त्रिमक्-निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे इति-अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् निर्वर्त्तित- मित्यर्थः, कृतमित्येव वार्थः, तदा तु कर्म्मकर्त्तरि क्तः ।

यजि-स्वपि-रक्षि-यति-प्रच्छो नः ॥ 5. 3. 85. ॥

एभ्यो भावाऽकर्त्रोर्नः प्रत्ययो भवति । यज्ञः, स्वप्नः, रक्ष्णः यत्नः, प्रश्नः ॥85॥

विच्छो नङ् ॥ 5. 3. 86. ॥

विच्छेर्भावाकर्त्रोर्नङ् प्रत्ययो भवति । विश्नः । ङकारो गुणप्रतिषेधार्थः ॥86॥

उपसर्गाद् दः किः ॥ 5. 3. 87. ॥

उपसर्गपूर्वाद् दासंज्ञकाद् धातोर्भावाऽकर्त्रोः किः प्रत्ययो भवति ।

आदिः, प्रदिः प्रधिः, आधिः, निधिः, उपविधिः, संधिः, समाधिः । कित्करणमाकारलोपार्थम् ॥87॥

व्याप्यादाधारे ॥ 5. 3. 88. ॥

व्याप्यात् कर्मणः पराद् दासंज्ञादाधारे-अधिकरणे कारके किर्भवति । जलं धीयतेऽस्मिन्निति-जलधिः, शरधिः, इषुधिः, वालधिः, शेवधिः । आधारग्रहणमर्थान्तरनिषेधार्थम् ॥88॥

न्या०स०—व्याप्यादाधारे-शेवधिरिति-शेते निधाविति *'शीङापो ह्रस्वश्च वा'* 506 (उणादि) इति वे शेवं स्थाप्यधनं तद्धीयतेऽस्मिन् ।

अन्तर्द्धिः ॥ 5. 3. 89. ॥

अन्तःपूर्वाद् दधातेर्भावाऽकर्त्रोः किः प्रत्ययो निपात्यते । अन्तर्द्धिः ॥89॥

अभिव्याप्तौ भावेऽन-ञिन् ॥ 5. 3. 90. ॥

क्रियया स्वसंबन्धिनः साकल्येनाभिसंबन्धोऽभिव्याप्तिः, तस्यां गम्यमानायां भावे धातोः 'अन ञिन्' इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ।

समन्ताद् रावः संरवणं सांराविणं सेनायां वर्तते । संकुटनं सांकौटिनमेषाम् । अभिव्याप्ताविति किम् ? संरावः, संकोटः । भावग्रहणं कर्मादिप्रतिषेधार्थम् । असरूप-विधिना क्त-घञादिनिवृत्त्यर्थमनग्रहणम् ।।90।।

न्या०स०—अभिव्याप्तौ-क्रियया इति-``द्विहेतोः'' (2-2-97) इति कर्त्तरि वा षष्ठीत्यऽत्र न । *असरूपविधिनेति-*अयमर्थो यदि असरूपन्यायेनानट् भविष्यति तदानग्रहणं न क्रियते, यथा ह्यनट् तथा असरूपविधिनैव क्तघञावपि प्राप्नुतः तौ माभूतामित्यनग्रहणम् ।

स्त्रियां क्तिः ।। 5. 3. 91. ।।

स्त्रियामिति प्रत्ययार्थविशेषणम् । धातोर्भावाऽकर्त्रोः स्त्रीलिङ्गे क्तिः प्रत्ययो भवति, घञादेरपवादः ।

कृतिः, हृतिः, चितिः, नीतिः, नुतिः, भूतिः । स्त्रियामिति किम् ? कारः, चयः ।।91।।

श्रवादिभ्यः ।। 5. 3. 92. ।।

शृणोत्यादिभ्यो धातुभ्यो स्त्रीलिङ्गे भावाऽकर्त्रोः क्तिर्भवति । वक्ष्यमाणैः क्विबादिभिः सह समावेशार्थं वचनम् ?

श्रु-श्रुतिः, प्रतिश्रुत् । स्रु-स्रुतिः, प्रतिस्रुत् । पद्-संपत्तिः, संपद् । सद्-आसत्तिः, संसद्; उपनिषद्, निषद्या । विद्-संवित्तिः, संवित्; विद्या, वेदना । लभ्-लब्धि लभा । अर्द् शिरोऽर्तिः, अर्दिका । शस्-प्रशस्तिः, प्रशंसा । पच्-पक्तिः, पचा । कण्डूय-कण्डूतिः, कण्डूः, कण्डूया । व्यवक्रुश्-व्यवक्रुष्टिः, व्यावक्रोशी । इष्-इष्टिः, इच्छा । यज्-इष्टिः, इज्या । मन्-मतिः, मन्या । आस्-आस्या, उपास्तिः, उपासना । शास्-अनुशिष्टिः, आशीः । भृग्-भृतिः, भृत्या । स्तूयते इज्यते इष्यतेऽनयेति-स्तुतिः, इष्टिः इष्टिरिति, संज्ञाशब्दत्वात् करणेऽपि क्तिरेव नानट् । एवं स्रुतिः । अन्यत्र तु स्पर्धे परत्वात् ❊ *स्त्रीखलना अलो बधकाः, स्त्रियाः खलनौ* ❊ इति न्यायः ।।92।।

*न्या०स०—श्रवादिभ्यः आसत्तिरिति-*उपसर्गाणामतन्त्रत्वात् श्रुसदादिभ्यः क्तिक्विबाद-योऽप्यनुज्ञाताः ।

अर्दिकेति-यद्यपि णकप्रस्तावे शिरसोऽर्दनं शिरोर्त्तिरित्यत्र बाहुलकाण्णको निषिद्धः ``क्तेट'' (5-3-106) इति अप्रत्ययोऽपि तथापि तत्र भाव एवात्र त्वपादानादौ अर्द्यतेऽस्याः ``नाम्नि पुंसि च'' (5-3-121) इति णकः, भावे तु न तत्रैव बाहुलकादिति भणनात् ।

समिणासुगः ।। 5. 3. 93. ।।

संपूर्वादिण आङ्पूर्वात् सुनोतेश्च भावाऽकर्त्रोः स्त्रियां क्तिर्भवति, क्यपोऽपवादः । समितिः, आसुतिः । समांङोऽन्यत्र-इत्या, सुत्येति क्यबेव भवति ।।93।।

साति-हेति-यूति-जूति-ज्ञप्ति-कीर्ति ।। 5. 3. 94. ।।

एते शब्दा भावाऽकर्त्रोः क्तिप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ।

सिनोतेः सुनोतेः स्यतेर्वा आत्वमित्वाभावश्च निपात्यते-सातिः । हिनोतेर्गुणे हन्तेर्वाऽन्त्यस्वरादेरेत्वेहेतिः । यौतेर्जवतेश्च दीर्घत्वे-यूतिः, जूतिः । ज्ञपयतेर्ज्ञप्तिः, कीर्तयतेः-कीर्तिः, आभ्यां ण्यन्तलक्षणोऽनो न भवति । कीर्तनेत्यपि कश्चित् ।।94।।

गा-पा-पचो-भावे ।। 5. 3. 95. ।।

एभ्यो भावेऽर्थे स्त्रियां क्तिर्भवति । 'गा' इति सामान्येन ग्रहणम्, प्रगीतिः, संगीतिः । 'पा' इति गा-पचिसाहचर्यात् पिबतेर्ग्रहणम्, प्रपीतिः, संपीतिः । पक्तिः, प्रपक्तिः । भावग्रहणमर्थान्तरनिरासार्थम् । बाधकस्याङोऽपवादः ।।95।।

न्या०स०—गापापचो-पिबतेर्ग्रहणमिति-पायतेस्तु लाक्षणिकत्वान्न ग्रहः । *प्रपीतिरिति*-भावेऽनेन क्तिरेव आधारे तु स्थादिभ्यः कः, अपादाने तु ``उपसर्गादातः'' (5-3-110) इत्यऽङ् ।

आस्यटिव्रज्यजः क्यप्-अस्य क्यपो न कृत्यसंज्ञा प्रकरणात्तत्र विहितस्यैव भवति ।

स्थो वा ।। 5. 3. 96. ।।

तिष्ठतेर्भावेऽर्थे स्त्रियां क्तिर्वा भवति । प्रस्थितिः, उपस्थितिः । वावचनादङपि आस्था, व्यवस्था, संस्था । पूर्ववदङोऽपवादः ।।96।।

आस्यटि-व्रज्-यजः क्यप् ।। 5. 3. 97. ।।

एभ्यः परो भावेऽर्थे स्त्रियां क्यप् प्रत्ययो भवति । आस्-आस्या । अट्-अट्या, 'वृथाऽट्या

खलु सा तस्याः' । व्रज्-व्रज्या । यज्-इज्या । ककारः कित्कार्यार्थः । पित्करणमुत्तरत्र तागमार्थम् ।।98।।

भृगो नाम्नि ।। 5. 3. 98. ।।

भृगः परो भावेऽर्थे स्त्रियां नाम्नि-संज्ञायां क्यप् प्रत्ययो भवति । भरणं-भृत्या । नाम्नीति किम् ? भृतिः । भाव-इत्येव ? भ्रियत इति-भार्या वधूः ।।98।।

समज-निपन्निषद्-शीङ्-सुग्-विदि-चरि-मनीणः ।। 5. 3. 99. ।।

योगविभागाद् भाव एवेति निवृत्तम् । एभ्यः परो नाम्नि भावाऽकर्त्रोः स्त्रियां क्यप् भवति ।

समज्-समजन्त्यस्यामिति-समज्या । निपन्निषदेति संहितानिर्देशात् पतेः पदेश्च ग्रहणम्, निपतन्त्यस्यामिति-निपत्या, निपद्या । निषद्-निषदनं निषीदन्त्यस्यामिति वानिषद्या । शीङ्-शेरतेऽस्यामिति शय्या । सुग्-सवनं सुन्वन्त्यस्यामिति वा-सुत्या । विद्-वेदनं विदन्ति तस्यां तया वा हिताहितमिति-विद्या । चर् चरणं चरन्ति अनयेति वा-चर्या । मन्-मननं मन्यतेऽनयेति वा-मन्या । इण्-अयनमेत्यनयेति वा इत्या । नाम्नीत्येव ? संवीतिः, निपत्तिः, निषत्तिः ।।99।।

न्या०स०—समजनि-पूर्ववत् संज्ञाशब्दत्वात् आधारेऽपि क्यप् । *विद्येति*-संज्ञा-शब्दत्वात् आदादिकस्यैव विदेर्ग्रहणं न त्वऽन्यस्य ।

कृगः श च वा ।। 5. 3. 100. ।।

करोतेर्भावाऽकर्त्रोः स्त्रियां शः प्रत्ययो वा भवति, चकारात् क्यप् च । क्रिया, कृत्या, पक्षे कृतिः । क्रियेति यदा भाव-कर्मणोः शस्तदा मध्ये क्यः, यदा त्वपादानादौ शस्तदा क्यो नास्तीति रेरिकारस्येयादेशः ।।100।।

मृगयेच्छा-याच्ञा-तृष्णा-कृपा-भा-श्रद्धा-ऽन्तर्धा ।। 5. 3. 101. ।।

एते शब्दाः स्त्रियां निपात्यन्ते । तत्रेच्छा भाव एव, शेषास्तु भावाऽकर्त्रोः । अन्ये तु सर्वान् भाव एवानुमन्यन्ते ।

मृगयतेः शः शव् च क्यापवादो निपात्यते-मृगया । इच्छतेः शः क्याभावश्च-इच्छा । याचितृष्योर्न-नङौ-याच्ञा, तृष्णा । क्रपेरङ् रेफस्य च ऋकारः-कृपा । भातेरङ्भा ।

श्रत्पूर्वादन्त:पूर्वाच्च दधातेरङ्-श्रद्धा, अन्तर्धा ।।101।।

न्या०स०—मृगयेच्छा तृष्णेति केचित्तु भिदादित्वात् तृषा, स्वमते तु क्रुत्संपदादित्वात् तृट् ।

परे: सृ-चरेर्य: ।। 5. 3. 102. ।।

परिपूर्वाभ्यां सृ-चरिभ्यां पर: स्त्रियां य: प्रत्ययो भवति, भावाऽकर्त्रो: । भाव इत्यन्ये । परिसर्या, परिचर्या । परेरिति किम् ? संसृति:, चूर्ति: ।।102।।

वाऽटाट्यात् ।। 5. 3. 103. ।।

अटतेर्यङन्तात् स्त्रियां य: प्रत्ययो वा भवति, भावाऽकर्त्रो: । भाव इत्यन्ये ।

अटाट्या, पक्षे-अ: प्रत्यय: अटाटा । अन्ये तु क्तिप्रत्ययबाधनार्थमटतेरयङन्तस्य यप्रत्ययं द्विर्वचनं पूर्वदीर्घत्वं च निपात्यन्ति-अटनमटाट्या ।।103।।

जागुरश्च ।। 5. 3. 104. ।।

जागर्ते: स्त्रियाम: प्रत्ययो यश्च भवति । भावाऽकर्त्रो: । भाव इत्यन्ये । जागरा, जागर्या ।।104।।

शंसि-प्रत्ययात् ।। 5. 3. 105. ।।

शंसे: प्रत्ययान्तेभ्यश्च धातुभ्यो भावाऽकर्त्रो: स्त्रियाम: प्रत्ययो भवति ।

प्रशंसा, गोपाया, ऋतीया, मीमांसा, कण्डूया, लोलूया, चिकीर्षा, पुत्रकाम्या, पुत्रीया, गवा, गल्भा, श्येनाया, पटपटाया । शंसू: क्तेऽनिट् इति वचनम् ।।105।।

क्तेटो गुरोर्व्यञ्जनात् ।। 5. 3. 106. ।।

क्तस्येट् यस्मात् स क्तेट्, क्तेटो गुरुमतो व्यञ्जनान्ताद् धातोर्भावाऽकर्त्रो: स्त्रियाम: प्रत्ययो भवति । ईहा, ऊहा, ईक्षा, उक्षा, कुण्डा, हुण्डा, शिक्षा, भिक्षा, व्यतीहा, व्यतीक्षा । क्तेट इति किम् ? स्रस्ति:, ध्वस्ति:, आप्ति:, दीप्ति:, अक्ति:, राद्धि:, चाय्-अपचिति:, स्फुर्छा-स्फूर्ति:, मुर्छा-मूर्ति: । गुरोरिति किम् ? स्फुर्-स्फूर्त्ति:, निपठिति: । व्यञ्जनादिति किम् ? संशीति: ।।106।।

न्या०स०–क्तेटो गु-क्तस्येट् यस्मादिति-क्तस्य इडैव यस्मादित्यवधारणं कार्यं, तेन स्फूर्च्छादिषु धातुषु यद्यपि भावारम्भयोः क्तस्यादौ विकल्पेन इट् विहितस्तथापि एकस्मिन् पक्षे नागच्छतीति व्यावृत्तिः । *व्यतीहेति*–``व्यतिहार'' (5-3-116) इत्यत्र ईहादिवर्जनात् क्त्यादीनामऽपवादोऽपि ञो न भवति ।

षितोऽङ् ॥ 5. 3. 107. ॥

षिद्भ्यो धातुभ्यो भावाऽकर्त्रोः स्त्रियामङ् प्रत्ययो भवति ।

पचा, क्षमा, क्षान्तिरिति तु क्षाम्यतेः, घटा, त्वरा, प्रथा, व्यथा, जरा, ``ऋवर्ण-दृशोऽङि'' (4-3-7) इति गुणः । ङकारो ङित्कार्यार्थः ।।107।।

भिदादयः ॥ 5. 3. 108. ॥

भिदादयः शब्दा भावाऽकर्त्रोः स्त्रियामङ्प्रत्ययान्ता यथादर्शनं निपात्यन्ते ।

भिदा विदारणम्, छिदा द्वैधीकरणम् विदा विचारणा, मृजा शरीरसंस्कारः, क्षिपा प्रेरणम्, दया अनुकम्पा, रुजा रोगः, चुरा चौर्यम्, पृच्छा प्रश्नः, एतेऽर्थविशेषे । अन्यत्र-भित्तिः कुड्यम्, छित्तिश्चौर्यादिकरणाद् राजापराधः, विच्छित्तिः प्रकार इत्यादि । तथा ऋ-कृ-हृ-धृ-तॄभ्यः संज्ञायां वृद्धिश्च-आरा शस्त्री, ऋतिरन्या । कारा गुप्तिः कृतिरन्या । हारा मानम्, हृतिरन्या । धारा प्रपातः खड्गादेर्वा, धृतिरन्या । तारा ज्योतिः, तीर्णिरन्या । तथा-गुहि-कुहि-वशि-वपि-तुलि-क्षपि-क्षिभ्यश्च संज्ञायाम्-गुहा पर्वतकन्दरा औषधिश्च, गूढिरन्या । कुहा नाम नदी, कुहनाऽन्या । वशा स्नेहनद्रव्यं धातुविशेषश्च, उष्टिरन्या । वपा मेदोविशेषः, उप्तिरन्या । एवं-तुला उन्मानम्, क्षपा रात्रिः, क्षिया आचारभ्रंशः । तथा संज्ञायामेव रिखि-लिखि-शुभि-सिधि-मिधि गुधिभ्यो-गुणश्च-रिखिः लिखेः समानार्थः सौत्रो धातुः, रेखा राजिः, लेखा सैव, शोभा कान्तिः सेधा सत्त्वम्, मेधा बुद्धिः, गोधा प्राणिविशेषो दोस्त्राणं च भिदादिराकृतिगणः, तेन चूडेत्यादि सिद्धम् ।

अकृतस्य क्रिया चैव प्राप्तेर्बाधनमेव च ।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात् ।।108।।

न्या०स०–भिदादयः–मृजेति-निपातनसामर्थ्यादेव ``ऋतः स्वरे वा'' (4-3-43) इति वृद्धिर्न भवति ।

मेधा बुद्धिरिति-केचित्तु मेधृगः स्थाने मिधृगिति पठन्ति सौत्रो वा ।

भीषि-भूषि-चिन्ति-पूजि-कथि कुम्बि-चर्चि-स्पृहि-तोलि-दोलिभ्य: ॥ 5. 3. 109. ॥

एभ्यो ण्यन्तेभ्य: स्त्रियां भावाऽकर्त्रोरङ् भवति । ण्यन्तत्वादने प्राप्ते वचनम् ।

भीषा, भूषा, चिन्ता, पूजा, कथा, कुम्बा, चर्चा, स्पृहा, तोला, दोला । बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येभ्योऽपि भवति-पीडा, ऊना ॥109॥

न्या०स०—भीषिभूषि-अप्रत्ययाधिकारेऽप्यस्मिन् कृते साध्यसिद्धि: स्यात् परं अङ्प्रत्ययाधिकारे यत्कृतं तण्णिग्लोपस्यानित्यत्वज्ञापनार्थं तेन चिन्तिया, पूजिया, सुप्रकथिये-त्यादि सिद्धम् ।

उपसर्गादात: ॥ 5. 3. 110. ॥

उपसर्गपूर्वेभ्य आकारान्तेभ्यो धातुभ्य: स्त्रियां भावाकर्त्रोरङ् भवति ।

उपदा, उपधा, आधा, प्रदा, प्रधा, विधा, संधा, प्रभा, श्रवादित्वात् क्तौ-प्रमिति: । उपसर्गादिति किम् ? दत्ति: ॥110॥

णि-वेत्यास-श्रन्थ-घट्ट-वन्देरन: ॥ 5. 3. 111. ॥

ण्यन्तेभ्यो वेत्त्यास-श्रन्थ घट्ट-वन्दिभ्यश्च धातुभ्य: स्त्रियां भावाऽकर्त्रोरन: प्रत्ययो भवति ।

कारणा, हारणा, कामना, लक्षणा, भावना; वेदना, आसना, उपासना, श्रन्थना, ग्रन्थेरप्यन्ये-ग्रन्थना, घट्टना, वन्दना । वेत्तीति तिव्निर्देशो ज्ञानार्थपरिग्रहार्थ: ॥111॥

न्या०स०—णिवेत्त्यास-ज्ञानार्थपरिग्रहार्थ इति-यङ्लुप्निवृत्त्यर्थश्च तेनाऽस्मात् श्रवादिभ्य: क्तौ वेवित्ति: ।

इषोऽनिच्छायाम् ॥ 5. 3. 112. ॥

इषेरनिच्छायां वर्तमानात् स्त्रियां भावाऽकर्त्रोरनो भवति ।

अन्वेषणा, एषणा, पिण्डैषणा । अनिच्छायामिति किम् ? इष्टि: । कथं प्राणैषणा वित्तैषणा परलोकैषणा ? बहुलाधिकारात् ॥112॥

पर्यधेर्वा ॥ 5. 3. 113. ॥

पर्यधिपूर्वादिषेरनिच्छायां वर्तमानाद् भावाऽकर्त्रोः स्त्रियामनो वा भवति । पर्येषणा, परीष्टिः । अध्येषणा, अधीष्टिः । अधीष्टिरिति नेच्छन्त्यन्ये ॥113॥

क्रुत्-संपदादिभ्यः क्विप् ॥ 5. 3. 114. ॥

क्रुधादिभ्योऽनुपसर्गपूर्वेभ्यः पदादिभ्यश्च समादिपूर्वेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियां भावाऽकर्त्रोः क्विप् प्रत्ययो भवति ।

क्रुधेः—क्रुत् । युधेः—युत् । क्षुधेः- क्षुत् । तृषेः—तृट् । त्विषेः—त्विट् । रुषेः—रुट् । । रुजेः—रुक् । रुचे-रुक् । शुचेः—शुक् । मुदेः मुत् । मृदेः—मृत् । गॄ-गीः । त्रै-त्राः । दिशेः—दिक् । सृजेः—स्रक । तथा पदेः—संपद्, विपद्, आपद्, व्यापद्, प्रतिपद् । षद्लृं-संसत्, परिषत्, उपसत्, उपनिषत् । विदेः—निवित् । शासेः—प्रशीः, आशीः । श्रु-प्रतिश्रुत्, उपश्रुत् । स्त्रु-परिस्त्रुत् । नहेः—उपानत् । वृषेः प्रावृट् । प्रुषेः—विप्रुट् । वृतेः—नीवृत्, उपावृत् । यतेः—संयत् । इणः—समित् । भृगः—उपभृत् । इन्धेः-समित् । क्रुधादिः संपदादिश्चाकृतिगणः ॥114॥

भ्यादिभ्यो वा ॥ 5. 3. 115. ॥

बिभेत्यादिभ्यो धातुभ्यः स्त्रियां भावाकर्त्रोः क्विप् वा भवति ।

भीः भीतिः । ह्रीः, ह्रीतिः । लूः, लूनिः । भूः, भूतिः । कण्डूः, कण्डूया । कृत्, कृतिः । भित्, भित्तिः । छित्, छित्तिः । तुत्, तुतिः । दृक्, दृष्टिः । नशेः- नक्, नष्टिः । युजेः-युक्, युक्तिः । ज्वरेः—जूः, जूतिः । त्वरेः—तूः, तिर्तिः । अवतेः—ऊः, ऊतिः । श्रिवेः—श्रूः, श्रूतिः । मवतेः- मूः, मूतिः । पचलेः पूः पूतिः । नौतेः नुत्ः, नुतिः । शकेः—शक्, शक्तिः ॥115॥

न्या०स०—भ्यादि-नत्वत्र ये क्विबन्तास्ते क्रुधादिगणे पठिष्यन्ते क्त्यन्तास्तु श्र्वादौ किमनेन ? सत्यं, कण्डूयेति तृतीयरूपार्थम् ।

भीतिरित्यादि-एषु सर्वेषु स्त्रियां क्तिः । *तूर्त्तिरिति*-षित्त्वादऽङः पक्षे श्र्वादित्वात् क्तिः ।

व्यतिहारेऽनीहादिभ्यो ञः ॥ 5. 3. 116. ॥

व्यतिहरणं व्यतिहारः, परस्परस्य कृतप्रतिकृतिः । व्यतिहारविषयेभ्यो धातुभ्य ईहादिवर्जितेभ्यः स्त्रियां ञः प्रत्ययो भवति । बाहुलकाद् भावे क्त्यादीनामपवादः ।

परस्परमाक्रोशनं-व्यावक्रोशी, व्याक्रोशी; व्यावमोषी, व्यावहासी, व्यावलेखी, व्यातिचारी, व्यावचर्ची, व्यात्युक्षी । अनीहादिभ्य इति किम् ? व्यतीहा, व्यतीक्षा, व्यतिपृच्छा, व्यवहृतिः । व्यत्युक्षेत्यप्येके । ``नित्यं ञिनोऽण्'' (5-3-58) इति स्वार्थेऽण् वक्ष्यते, तेन केवलस्य प्रयोगो न भवति । ``श्वादिभ्यः'' (5-3-92) इति समावेशाभिधानात्-व्यवक्रुष्टिर्व्याक्रुष्टिरित्यपि भवति । स्त्रियामित्येव ? व्यतिपाको वर्तते ॥116॥

न्या०स०–व्यतिहारे-व्याव्युक्षीति-``य्वः पदान्तात्'' (7-4-5) इति ऐकारो न । ``न ञ् स्वङ्गादेः'' (7-4-9) इति निषेधात् ।

नञोऽनिः शापे ॥ 5. 3. 117. ॥

नञः पराद् धातोः शापे गम्यमाने भावाऽकर्त्रोः स्त्रियामनिः प्रत्ययो भवति ।

अजननिस्ते वृषल ! भूयात्, एवमजीवनिः, अकरणिः, अप्रयाणिः, अगमनिः । नञ इति किम् ? मृतिस्ते जाल्म ! भूयात् । शापे इति किम् ? अकृतिस्तस्य पटस्य ॥117॥

ग्ला-हा-ज्यः ॥ 5. 3. 118. ॥

एभ्यः स्त्रियां भावाऽकर्त्रोरनिः प्रत्ययो भवति । ग्लानिः, हानिः, ज्यानिः । म्लानिरित्यापि कश्चित् ॥118॥

प्रश्ना-ऽऽख्याने वेञ् ॥ 5. 3. 119. ॥

प्रश्ने आख्याने च गम्यमाने स्त्रियां भावाऽकर्त्रोधातोरिञ् प्रत्ययो वा भवति, वावचनाद् यथाप्राप्तं च ।

कां त्वं कारिमकार्षीः ?, कां कारिकां, कां क्रियां, कां कृत्यां, कां कृतिम् । आख्याने-सर्वां कारिमकार्षम्, सर्वां कारिकां, सर्वां क्रियां, सर्वां कृत्यां, सर्वां कृतिम् । कां त्वं गणिमजीगणः ?, कां गणिकां, कौ गणनाम्; सर्वां गणिमजीगणम्, सर्वां गणिकाम्, सर्वां गणनाम् । एवं-पाचिं पाचिकां पाक्तिं पचाम्, पाठिं पाठिकां पठितिम् । प्रश्ना-ऽऽख्यान इति किम् ? कृतिः, हृतिः ॥119॥

न्या०स०–प्रश्नाख्या-कां कारिकामिति-``पर्यायार्हर्ण'' (5-3-120) इति णकः । *कां कृतमिति*-भ्यादित्वात् क्विपि कां कृतमित्यपि ।

पर्यायाऽर्हर्णोत्पत्तौ च णकः ।। 5. 3. 120. ।।

एष्वर्थेषु प्रश्नाऽऽख्यानयोश्च गम्यमानयोः स्त्रियां भावाऽकर्त्रोर्घातोर्णकः प्रत्ययो भवति, क्त्याद्यपवादः ।

पर्यायः—क्रमः परिपाटिरिति यावत् । भवत आसिका, भवतः शायिका, भवतोऽग्र-गामिका; आसितुं शयितुमग्रे गन्तुं च भवतः क्रम इत्यर्थः । अर्हणमर्हः—योग्यता । अर्हति भवान् इक्षुभक्षिकाम्, ओदनभोजिकाम्, पयःपायिकाम् । ऋणं-यत् परस्मै धार्यते । इक्षुभक्षिकां मे धारयसि । उत्पत्तिर्जन्म, इक्षुभक्षिका मे उदपादि । प्रश्ने-कां त्वं कारिकामकार्षीः ? कां त्वं गणिकामजीगणः ? आख्याने—सर्वां कारिकामकार्षम्, सर्वां गणिकामजीगणम् । बहुलाधिकारात् क्वचिन्न भवति-चिकीर्षा, बुभुक्षा मे उदपादि । प्रश्नाऽऽख्यानयोगेऽपि पर्यायादिषु परत्वात् णक एव भवति, नेञ् ।।120।।

न्या०स०—पर्यायार्हर्णो-इक्षुभक्षिकामिति—अत्र ``कृति'' (3-1-77) इति समासः । *णक एव भवतीति*-यथा कुत्र भवत आसिकेति आसितुं पर्यायः ।

नाम्नि पुंसि च ।। 5. 3. 121. ।।

धातोः स्त्रियां भावाऽकर्त्रोर्नाम्नि-संज्ञायां णकः प्रत्ययो भवति, यथादर्शनं पुंसि च ।

प्रच्छर्दनं प्रच्छर्द्यतेऽनयेति वा-प्रच्छर्दिका, एवं-प्रवाहिका, विचर्चिका, प्रष्कन्दिका, विपादिका, एता रोगसंज्ञाः । उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां सा-उद्दालकपुष्पभञ्जिका, एवं-वारणपुष्पप्रचायिका, अभ्योषाः खाद्यन्तेऽस्यामिति-अभ्योषखादिका, एवमवोषखादिका; साला भज्यन्ते यस्यां सा-सालभञ्जिका, एवंनामानः क्रीडाः ।

बहुलाधिकारादिह न भवति-शिरसोऽर्दनं-शिरोर्तिः, एवं-शीर्षार्त्तिः, शिरोऽभितप्तिः, शीर्षाभितप्तिः, तथा चन्दनतक्षा क्रीडा । बहुलाधिकारादेव चार्तिरित्यत्रार्दतेरर्दयतेश्च यथाक्रममप्रत्ययमनप्रत्ययं च बाधित्वा क्तिरेव भवति । पुंसि च-अरोचनं न रोचतेऽस्मिन्निति वा-अरोचकः, अनाशकः, उत्कन्दकः, उत्कर्णकः ।।121।।

न्या०स०—नाम्नि पुंसि च-उद्दालकपुष्पभञ्जिकेति-अत्र ``कृति'' (3-1-77) इति षष्ठीसमासः, उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यामिति त्वर्थकथनम् । वाक्यं तु भज्यन्ते यस्यां भञ्जिका उद्दालकपुष्पाणां भञ्जिकेति कार्यं, न तु ``अकेन क्रीडा'' (3-1-81) इति समासस्तेन

कर्तृविहिताऽकान्तेन सह विधानात्, णकस्त्वनेन कर्तृवर्जं प्रवर्त्तते । *चन्दनतक्षेति*-चन्दनास्तक्ष्यन्ते यस्यां बाहुलकात् ``पुंनाम्नि'' (5-3-130) (इति) विहितोऽपि स्त्रियामपि ``व्यञ्जनाद् घञ्'' (5-3-132) । ननु यथा शिरोर्त्तिरित्यत्र बाहुलकाण्णको निषिद्धस्तथा क्तिरपि न प्राप्नोति स्त्रीखलना इति न्यायादित्याह-*बहुलाधिकारादिति-अर्दयतेश्चेति*-क्रथअर्द्दिणित्यस्य । *उत्कन्दक इति*–उत्स्कन्दनं उत्स्कद्यतेऽनेनेति वा पृषोदरादित्वात् सलोप ।

भावे ।। 5. 3. 122. ।।

भावे-धात्वर्थनिर्देशे स्त्रियां धातोर्णकः प्रत्ययो भवति । आसिका, शायिका, जीविका, कारिका । बहुलाधिकारात्-ईक्षा, ऊहा, ईहा, स्मरणा ।।122।।

क्लीबे क्तः ।। 5. 3. 123. ।।

क्लीबे-नपुंसकलिङ्गे भावेऽर्थे धातोः क्तः प्रत्ययो भवति, घञाद्यपवादः । स्त्रियां भावाऽकर्त्रोरिति च निवृत्तम् ।

हसितं छात्रस्य, नृत्तं मयूरस्य, व्याहृतं कोकीलस्य, गतं मतंगजस्य । क्लीब इति किम् ? हसः, हासः ।।123।।

न्या०स०–क्लीबे क्तः घञाद्यपवाद इति-आदिशब्दात् ``ट्वितोऽथुः'' (5-3-83) इत्यादयः ।

अनट् ।। 5. 3. 124. ।।

क्लीबे भावेऽर्थे धातोरनट् प्रत्ययो भवति । गमनं भोजनं वचनं हसनं छात्रस्य । टकार उत्तरत्र ङ्यर्थः ।।124।।

यत्कर्मस्पर्शात् कर्त्रङ्गसुखं ततः ।। 5. 3. 125. ।।

येन कर्मणा संस्पृष्टस्यमानस्य कर्तुरङ्गस्य शरीरस्य सुखमुत्पद्यते ततः कर्मणः पराद् धातोः क्लीबे भावेऽर्थेऽनट् भवति । पूर्वेणैव प्रत्यये सिद्धे नित्यसमासार्थं वचनम् ।

पयःपानं सुखम् । ओदनभोजनं सुखम् । कर्मेति किम् ? अपादानादिस्पर्शे मा भूत्-तूलिकाया उत्थानं सुखम् । स्पर्शादिति किम् ? अग्निकुण्डस्योपासनं सुखम् । कर्त्रिति किम् ? शिष्येण गुरोः स्नापनं सुखम्, स्नापयतेर्न गुरुः कर्ता, किं तर्हि ! कर्म । अङ्गग्रहणं किम् ?

पुत्रस्य परिष्वञ्जनं सुखम्, पुत्रस्य स्पर्शान्न शरीरस्य सुखं, किं तर्हि ! मानसी प्रीतिः, अन्यथा परपुत्रपरिष्वङ्गेऽपि स्यात् ।

सुखमिति किम् ? कण्डकानां मर्दनम् । सर्वत्रासमासः प्रत्युदाहार्यः । अथवा तत इति सप्तम्यन्तात् तसुः, येन कर्मणा स्पृश्यमानस्य कर्तुरङ्गसुखमुत्पद्यते तस्मिन् कर्मण्य- भिधेये सामर्थ्यात् कर्तुः पराद् धातोरनट् भवति, इत्यपरोऽर्थः । राज्ञा भुज्यन्ते-राज-भोजनाः शालयः, राजाच्छादनाः प्रावाराः, राजपरिधानानि वासांसि ॥125॥

न्या०स०—यत्कर्मस्पर्शा-नित्यसमासार्थमिति-``ङस्युक्तं कृता'' (3-1-49) इत्यनेन, पूर्वेण हि प्रत्यये ङस्युक्तत्वाऽभावे केन समासः स्यात् । *पयः पानमिति*-नित्यसमासत्वात् पयसां पानमिति न कार्यं, किन्तु पयसः पीतिरिति शब्दान्तरेणार्थः कथ्यते । *सप्तम्यन्तात्तसुरिति*-तदा पृषोदरादित्वाद्दलोपः, ``आ द्वेर'' (2-1-41) इति तु न तसादौ चेत्यधिकारात् एके तु तस्वादावपीच्छन्ति ।

रम्यादिभ्यः कर्त्तरि ॥ 5. 3. 126. ॥

रम्यादिभ्यो धातुभ्यः कर्तर्यनट् भवति । रम्-रमणी। नन्द्-नन्दनी । कम्-कमनी । ह्लाद्-ह्लादनी । व्रश्च्-इध्मव्रश्चनः । शातिः पलाशशातनः । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ॥126॥

न्या०स०—रम्यादिभ्यः कर्त्तरि-रमणी इति-रमते इति कृते णकतृचादयोऽनेन अनटा बाधिताः सन्तो बाहुलकादेव भवन्ति, एवमन्येषाम् । *इध्मव्रश्चन इति*-वृश्चतीति, इध्मानां व्रश्चनः ``कृति'' (3-1-77) इति समासः ।

कारणम् ॥ 5. 3. 127. ॥

कृगः कर्तर्यनट् वृद्धिश्च निपात्यते । करोतीति-कारणम् । कर्तरीति किम् ? करणम् ॥127॥

भुजि-पत्यादिभ्यः कर्मा-ऽपादाने ॥ 5. 3. 128. ॥

भुज्यादिभ्यः पत्यादिभ्यश्च धातुभ्यो यथासंख्यं कर्मण्यपादाने चानट् भवति ।

भुज्यते इति-भोजनम् । निरदन्ति तदिति निरदनम् । आच्छादि-आच्छादनम् । अवस्त्रावि-अवस्त्रावणम् । अवसिच्-अवसेचनम् । अस्-असनम् । वस्-वसनम् । आभृग्-आभरणम् । अपादाने, पत्-प्रपतत्यस्मादिति-प्रपतनः । स्कन्दि-प्रस्कन्दनः । श्च्योति-प्रश्च्योतनः । झृष्-

निर्झरणाः । धृ-शङ्खोद्धरणः । दाग्-अपादानम् । बहुवचनं प्रयोगानुसरणार्थम् ।।28।।

न्या०स०—भूजिपत्यादिभ्यः अवस्त्रावणमिति-अवस्त्रवत् अधः पतत् प्रयुङ्क्ते णिगि अवस्त्राव्यते । वसनमिति-वसिक् वस्यते तदिति ।

करणा-ऽऽधारे ।। 5. 3. 129. ।।

करणाऽऽधारयोरर्थयोर्धातोरनट् भवति , घञाद्यपवादः ।

करणे-एषणी, लेखनी, विचयनी, इध्मव्रश्चनः, पलाशशातनः, अविलवनः, श्मश्रु-कर्तनः । आधारेगोदोहनी, सक्तुधानी, तिलपीडनी, शयनम्, आसनम्, अधिकरणम्, आस्थानम् ।।129।।

पुंनाम्नि घः ।। 5. 3. 130. ।।

पुंसो नाम-संज्ञा पुन्नाम, तत्र गम्यमाने करणाऽऽधारयोर्धातोर्घः प्रत्ययो भवति ।

करणे-प्रच्छदः, उरश्छदः, दन्तच्छदः, प्लवः, प्रणवः, करः, प्रत्ययः, शरः । आधारे एत्य कुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः, आलवः, आरवः, आपवः, भवः, लयः, विषयः, भरः, प्रहरः, प्रसरः, अवसरः, परिसरः, विसरः प्रतिसरः । पुंग्रहणं किम् ? विचीयतेऽनयेति विचयनी, प्रधीयते विकारोऽस्मिन्निति-प्रधानम् । नाम्नीति किम् ? प्रहरणो दण्डः । बहुलाधिकारात् क्वचिन्न भवति-प्रसाधनः, दोहनः । घकार ``एकोपसर्गस्य च घे'' (4-2-34) इत्यत्र विशेषणार्थः ।।130।।

न्या०स०—*पुन्नाम्नि घः—प्रणव इति*—प्रणुवन्त्यनेन-स्मरस्तु स्मरन्ति कामिनीमनेनेति वाक्ये अनेन घः इति पारायणम् । *प्रधानमिति*—सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानम् । *प्रसाधन इत्यत्र*-णिगन्तादऽनट् एवं दोहन इत्यत्र ।

गोचर-संचर-वह-व्रज व्यज-खला-ऽऽपण-निगम-बक भग-कषा-ऽऽकष-निकषम् ।। 5. 3. 131. ।।

एते शब्दाः करणाऽऽधारयोः पुंनाम्नि व्यञ्जनाद् घञि प्राप्ते घप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ।

गावश्चरन्ति अस्मिन्निति-गोचरो देशः, व्युत्पत्तिमात्रं चेदम्, विषयस्य तु संज्ञा-``अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्'' । संचरन्तेऽनेन-संचरः । वहन्ति तेन-वहः,

वृषस्कन्धदेशः । व्रजन्त्यस्मिन्निति-व्रजः । विपूर्वोऽजिः, व्यजत्यनेन-व्यजः, निपातनाद्वींभावाभावः । खलन्त्यस्मिन्निति-खलः । एत्य पणायन्ति अस्मिन्निति-आपणः । निगच्छन्ति तत्रेति-निगमः । वक्तीति-बकः, बाहुलकात् कर्त्तरि । निपचन्त्यनेन-निपक-इत्यपि कश्चित् । भज्यतेऽनेनास्मिन्निति वा-भगः, भगमिति बाहुलकात् क्लीबेऽपि घः । कषत्यस्मिन्निति-कषः, एवमाकषः, निकषः ॥131॥

व्यञ्जनाद् घञ् ॥ 5. 3. 132. ॥

व्यञ्जनान्ताद् धातोः पुंनाम्नि करणाऽऽधारे घञ् प्रत्ययो भवति, घस्यापवादः । विदन्त्यनेन विन्दति विन्दते वा-वेदः । चेष्टतेऽनेन-चेष्टो बलम् । एत्य पचन्त्यस्मिन्नित्यापाकः । आरामः, लेखः, बन्धः, नेगः, वेगः, रागः, रङ्गः, क्रमः, प्रासादः, अपामार्गः, नीमार्गः ॥132॥

न्या०स०—व्यञ्जनाद् घञ्-घस्यापवाद इति-``पुन्नाम्नि'' (5-3-130) इति प्राप्तस्य ।

अवात् तॄ-स्तॄभ्याम् ॥ 5. 3. 133. ॥

अवपूर्वाभ्यां तॄ-स्तॄभ्यां करणाऽऽधारयोः पुंनाम्नि घञ् भवति ।

अवतरन्त्यनेनास्मिन् वेति-अवतारः । अवस्तृणन्त्यनेनास्मिन्निति वा-अवस्तारः । बहुलाधिकारादसंज्ञायामपि-अवतारो नद्याः, उत्पूर्वादपि-नद्युत्तारः । करणाऽऽधार इत्येव ? अवतरः । केचित् तु-संज्ञायामसंज्ञायां च भावेऽकर्त्तरि कारके च स्त्रो नित्यं तरतेस्तु विकल्पेन घञमिच्छन्ति । द्विवचनं करणाऽऽधार इति यथासंख्यनिवृत्यर्थम् ॥133॥

न्या०स०—अवात्तॄस्तॄभ्याम्-अवतारो नद्या इति-येन केनाऽपि पथाऽवतीर्यते स एवावतारो न तु कस्यापि संज्ञा ।

न्याया–ऽऽवाया–ऽध्यायोद्याव–संहारा–ऽवहारा–ऽऽधार–दार–जारम् ॥ 5. 3. 134. ॥

स्वरान्तार्थ आरम्भ, एते शब्दाः पुंनाम्नि करणाधारयोर्घे प्राप्ते घञन्ता निपात्यन्ते ।

निपूर्वस्येणो नीयतेऽनेनेति-न्यायः । एत्य वयन्ति वायन्ति वा तत्रेत्यावायः । अधीयतेऽनेनास्मिन् वा-अध्यायः । उद्युवन्ति तेन तस्मिन् वा उद्यावः । संहरन्ति तेन-तस्मिन्

वा संहारः । अवहरन्ति तेन तस्मिन् वा अवहारः । आध्रियते तत्रेत्याधारः । दीर्यन्ते एभि-रिति-दाराः । जीर्यतेऽनेनेति-जारः । दारयन्तीति-दाराः । जरयतीति-जार इति कर्त्तरि केचिन्निपातयन्ति ।।134।।

न्या०स०—न्यायावाया-केचिन्निपातयन्तीति-ननु जार इत्यस्य ``कगेवनूजनैजॄष्'' (4-2-25) इति ह्रस्वत्वे दीर्घार्थं निपातः क्रियतां, दार इत्यस्य तु किं निपातनेन ? सत्यं, भयविवक्षायां दॄधातोर्घटादित्वात् दरयतीति यदा क्रियते तदापि दीर्घो भूयादित्येवमर्थं निपातः ।

उदङ्कोऽतोये ।। 5. 3. 135. ।।

उत्पूर्वादञ्चतेः पुनाम्नि करणाऽऽधारयोर्घञ् निपात्यते, अतोये-तोयविषयश्चेत् धात्वर्थो न भवति, जलं चेत् तेन नोदच्यत इत्यर्थः ।

तैलोदङ्कः, घृतोदङ्कः: । अतोय इति किम् ? उदकोदञ्चनः । ``व्यञ्जनात् घञ्'' (5-3-132) इति सिद्धे तोये प्रतिषेधार्थं वचनम् । रूपाविशेषाद् घोऽपि न भवति ।।135।।

न्या०स०—उदङ्कोऽतोये-धोऽपि न भवतीति-ननु ``पुन्नाम्नि घ'' (5-3-130) इत्यस्यापवादो घञ् तत उदकविषये घञ् निवृत्तौ प्रत्यनीकाभावात् घेनैव भवितव्यमित्याहरूपाऽविशेषादिति–

आनायो जालम् ।। 5. 3. 136. ।।

आङ् पूर्वान्नयतेः करणे पुंनाम्नि घञ् निपात्यते, जालं चेत् वाच्यं भवति । आन- यन्ति तेन-आनायो मत्स्यानाम्, आनायो मृगाणाम् ।।136।।

खनो ड-डरेके-कवक-घं च ।। 5. 3. 137. ।।

खनेः पुंनाम्नि करणाऽऽधारयोर्ड डर इक इकवक घ घञ् च प्रत्यया भवन्ति । आखायत आखन्यते वाऽनेनास्मिन् वा-आखः, आखरः, आखनिकः, आखनिकवकः, आखनः, आखानः ।।137।।

न्या०स०—स्वनो डडरे-अनुकार्यानुकरणयोः कथंचिद् भेदाद् धातुत्वाऽभावे इकिश्तिवां खन इत्यत्राऽभावः ।

इ-कि-श्तिव् स्वरूपा-ऽर्थे ॥ 5. 3. 138. ॥

धातोः स्वरूपेऽर्थे चाभिधेये 'इ कि श्तिव्' इत्येते प्रत्यया भवन्ति । भञ्जिः, क्रुधिः, वेत्तिः । अर्थे-यजेरङ्गानि, भुजिः क्रियते, पचतिर्वर्त्तते ॥138॥

न्या०स०—इकिश्तिव्-केचिदेतान् प्रत्ययान् कर्त्तरि समानयन्ति स्वमते तु कर्तृकर्म्मभाव इति विशेषाभावात् सामान्येन भवन्ति । ''भवतेः सिज्लुपि'' (4-3-12) ''न कवतेर्यङः'' (4-1-47) इत्यादौ भावेऽपि सूत्रसामर्थ्यात् शव् न तु क्यः । *पचतिर्वर्त्तते इति*-बाहुलकाद् भावेऽपि शव् क्याऽभावश्च ।

दुःस्वीषतः कृच्छ्रा-ऽकृच्छ्रार्थे खल् ॥ 5. 3. 139. ॥

कृच्छ्रं, दुःखम्, अकृच्छ्रं सुखम्, कृच्छ्रार्थवृत्तेर्दुरः सामर्थ्यादकृच्छ्रार्थवृत्तिभ्यां स्वीषद्भ्यां पराद् धातोर्भाव-कर्मणोरर्थयोः खल् प्रत्ययो भवति । कृत्यादीनामपवादः ।

दुःखेन शय्यत इति-दुःशयम्, सुखेन शय्यते इति-सुशयम्, ईषच्छयं भवता । दुःखेन क्रियते इति-दुष्करः । सुखेन क्रियते इति-सुकरः, ईषत्करः कटो भवता । दुष्करं सुकरम् ईषत्करं भवता । दुःस्वीषत इति किम् ? कृच्छ्रसाध्यः, सुखसाध्यः । कृच्छ्राकृच्छार्थादिति किम् ? ईषल्लभ्यं धनं कृपणात्, अल्पं लभ्यमित्यर्थः । खकार उत्तरत्र मागमार्थः । लकारः 'खलर्थाश्च' इत्यत्र विशेषणार्थः । इह स्त्रीप्रत्ययात् प्रभृति असरूपविधेरभावात् स्पर्धे 'अलः स्त्रीखलनाः, स्त्रियास्तु खलनौ' परत्वाद् भवतः । तत्र 'चयः, जयः, लवः' इत्यादावलोऽवकाशः, 'कृतिः, हृतिः' इत्यादौ स्त्रीप्रत्ययस्य, 'चितिः, स्तुतिः' इत्यादौ तूभयं प्राप्नोति, अलोऽविशेषेणाभिधानात् तत्र परत्वात् स्त्रीप्रत्ययो भवति । तथा 'दुर्भेदः, सुभेदः' इत्यादौ खलोऽवकाशः, अलस्तु पूर्व एव, 'दुश्चयं सुचयम्, दुर्लवं सुलवम्' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वात् खल् भवति । तथा 'इध्मव्रश्चनः, पलाशच्छेदनः' इत्यादावनस्यावकाशः, अलस्तु पूर्वक एव, 'पलाशशातनो विलवनः' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वादनो भवति । एवं 'हृतिः, कृतिः' इत्यादौ स्त्रीप्रत्ययस्यावकाशः 'दुर्भेदः, सुभेदः' इत्यादौ खलः 'दुर्भेदा सुभेदा' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वात् खल् भवति । तथा 'इध्मव्रश्चनः, पलाशच्छेदनः' इत्यादावनस्यावकाशः, कृतिरित्यादौ स्त्रीप्रत्ययस्य, 'सक्तुधानी, तिलपिडनी' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वादनडेव भवति ॥139॥

न्या०स०—दुःस्वीषतः परत्वादनो भवतीति—``करणाधारे'' (5-3-120) इत्यनेन ।

च्व्यर्थे कर्त्राप्याद् भू-कृगः ॥ 5. 3. 140. ॥

कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेभ्यो दुःस्वीषद्भ्यः पराभ्यां च्व्यर्थे वर्तमानाभ्यां कर्तृ-कर्मवाचिभ्यां शब्दाभ्यां पराभ्यां यथासंख्यं भू-कृग्भ्यां परः खल् प्रत्ययो भवति । खानुबन्धबलात् कर्तृ-कर्मणोरेवानन्तर्यम् ।

दुःखेनाऽनाढ्येनाऽऽढ्येन भूयते-दुराढ्यंभवं भवता, सुखेनाऽनाढ्येनाऽऽढ्येन भूयते-स्वाढ्यंभवं भवता, ईषदाढ्यं भवं भवता । दुःखेनाऽनाढ्य आढ्यः क्रियते दुराढ्यंकरो मैत्रो भवता, सुखेनानाढ्य आढ्यः क्रियते-स्वाढ्यंकरश्चैत्रो भवता, ईषदाढ्यंकरश्चैत्रो भवता । सुखेनाऽकटः कटः क्रियन्ते-सुकटंकराणि वीरणानि । सुकरः कटो वीरणैरित्यत्र तु करणविवक्षा ।

च्व्यर्थे इति किम् ? दुराढ्येन भूयते, स्वाढ्येन भूयते, ईषदाढ्येन भूयते, आढ्य एव सन् कंचिद् विशेषमापद्यत इत्यर्थः; एवं दुराढ्यः क्रियते इत्यादि, अभूतप्रादुर्भावेऽपि वा प्रकृतेरविवक्षणात् च्व्यर्थो नास्ति ॥140॥

न्या०स०—च्व्यर्थे कर्त्रा-खानुबन्धबलादिति-मागमार्थं हि खानुबन्धः ततो यद्यत्र कर्तृ कर्म्मवाचिभ्यां परेभ्यो दुःस्वीषद्भ्यः पराभ्यामिति विपरीतो विशेषणविशेष्यभावः क्रियेत तदा कर्तृ कर्म्मवाचिभ्यां दुरादिभिर्व्यवधानात् मोन्तो न स्यात्, दुःस्वीषद्भ्यस्तु अव्ययत्वात् मागमाऽप्राप्तिरिति ।

दुराढ्येन भूयते इति—आढ्येन सता दुःखेन भूयते इत्यर्थः ।
प्रकृतेरविवक्षणादिति—अनाढ्य इत्येवंरूपायाः ।

शासू-युधि-दृशि-धृषि-मृषाऽऽतोऽनः ॥ 5. 3. 141. ॥

कृच्छ्राकृच्छ्रार्थदुःस्वीषत्पूर्वेभ्यः शासुप्रभृतिभ्य आकारान्तेभ्यश्च धातुभ्यो भाव- कर्मणोरर्थयोरनः प्रत्ययो भवति ।

दुःखेन शिष्यते-दुःशासनः, सुखेन शिष्यते-सुशासनः, ईषच्छासनः । एवं-दुर्योधनः, दुर्दर्शनः दुर्धर्षणः, दुर्मर्षणः । आदन्त-दुरुत्थानं भवता, सुत्थानम्, ईषदुत्थानम् । दुष्पानं पयो भवता, सुपानम्, ईषत्पानम् । आदन्तवर्जितेभ्यः केचिद् विकल्पमिच्छन्ति, तन्मते-'दुःशासः, दुर्योधः, दुर्दर्शः, दुर्धर्षः, दुर्मर्षः' इत्याद्यपि भवति । दुर्दशो हि राजा कार्याकार्य-विपर्यासमासन्नैः कार्यते । कथम् ईषद्दरिद्रः ? विषयेऽप्याकारस्य लोपेनादन्तत्वाभावात् खलेव ।

खलोऽपवादो योगः ॥ 141 ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

मात्रयाप्यधिकं किंचिन्न सहन्ते जिगीषवः ।
इतीव त्वं धरानाथ ! धारानाथमपाकृथाः ॥1॥

न्या०स०—शास्युधि-अनुपसर्गयुध्यादि-साहचर्यान्न आङः शास इति । *दुर्योधन इति*-दुःखेन युध्यते अन्तर्भूतण्यर्थः सूत्रे शास इति निरनुबन्धता यङ्लोपेऽपि दुःशासन इति प्रयोगार्था ।

दुर्द्दर्शो हि राजेति—``ह्रक्रोर्नवा'' (2-2-8) इति राजन्नित्यस्य वा कर्म्मता ।

इषद्दरिद्र इति-ननु धातोरकर्म्मकत्वाद्भावे प्रत्यये कथमत्र पुंस्त्वं दुराढ्यंभवमित्यादिवन्नपुंसकत्वप्राप्तिः ? सत्यं, अत्र ``कालाध्व'' (2-2-23) इत्यनेन मासादेः कर्म्मत्वे कर्मणि खल्, न तु भावे ततो यत्र मासादौ दरिद्रैर्भूयते स ईषद्दरिद्र उच्यते । *विषयेऽपीति*-अस्याऽनप्रत्ययस्य विषये इत्यर्थः ।

इत्याचार्यश्री सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ-शब्दानुशासनबृहद्वृत्तेः पञ्चमाध्यायस्य न्यासतः तृतीयः पादः समाप्तः ।

|| अर्हम् ||

अथ पञ्चमाध्याये चतुर्थः पादः

सत्सामीप्ये सद्वद् वा || 5. 4. 1. ||

समीपमेव सामीप्यम्, सतो-वर्तमानस्य सामीप्ये-भूते भविष्यति चार्थे वर्तमानाद् धातोः सद्वद्-वर्तमानवत् प्रत्यया वा भवन्ति । ``सति'' (5-2-19) इति सूत्रादारभ्याऽऽपादपरिसमाप्तेर्विहिताः प्रत्यया भूतभविष्यतोर्वा अतिदिश्यन्ते ।

कदा चैत्रागतोऽसि ? अयमागच्छामि, आगच्छन्तमेव मां विद्धि । वावचनाद् यथाप्राप्तं च-अयमागमम्, एषोऽस्म्यागतः । कदा मैत्र ! गमिस्यसि ? एष गच्छामि, गच्छन्तमेव मां विद्धि, पक्षे एष गमिस्यामि, गन्ताऽस्मि, गमिष्यन्तमेव मां विद्धि । वत्करणस्य सादृश्यार्थत्वात् येनैव प्रकृत्युपपदोपाध्यादिना विशेषेण वर्तमाने विहितास्तेनैव विशेषेण भूत-भविष्यतोरपि भवन्ति-कदा भवान् सोमं पूतवान् पविष्यते वा ? एषोऽस्मि पवमानः । कदा भवानिष्टवान् यक्ष्यते वा ? एषोऽस्मि यजमानः । कदा भवान् कन्यामलंकृतवान् करिष्यते वा ? एषोऽस्म्यलंकरिष्णुरिति । सामीप्य इति किम् ? परुदगच्छत्, वर्षेण गमिष्यति ||1||

न्या०स०—सत्सामीप्ये-अतिदिश्यन्त इति-अतिक्रम्य निजं कालं दिश्यन्त इत्यर्थः । ननु सत्सामीप्ये सति वेत्येतावदेव क्रियतां वर्त्तमाने ये प्रत्ययास्ते सत्सामीप्ये वा भवन्तीति सूत्रार्थे साध्यसिद्धिर्भविष्यति किं वत्करणेन ? इत्याह *वत्करणस्येति-उपाध्यादिनेति*-आदिशब्दात् कर्तृ विशेषेणापि । पवमानः यजमान इत्यत्र प्रकृतिविशेषः, अलंकरिष्णुरित्यत्र तु उपपदविशेषः शीलाद्युपाधिविशेषश्च ।

भूतवच्चाऽऽशंस्ये वा || 5. 4. 2. ||

अनागतस्य प्रियस्यार्थस्याशंसनं प्राप्तुमिच्छा-आशंसा, तद्विषय आशंस्यः, तस्मिन्नर्थे वर्तमानाद् धातोर्भूतवच्चकारात् सद्वच्च प्रत्यया वा भवन्ति । आशंस्यस्य भविष्यत्वादय- मतिदेशः । वाग्रहणाद् यथाप्राप्तं च ।

उपाध्यायश्चेदागमत् एते तर्कमध्यगीष्महि; उपाध्यायश्चेदागतः, एतैस्तर्कोऽधीतः; उपाध्यायश्चेदागच्छति, एते तर्कमधीमहे । पक्षे-उपाध्यायश्चेदागमिष्यति, एते तर्कमध्येष्यामहे;

उपाध्यायश्चेदागन्ता, एते तर्कमध्येतास्महे। सामान्यस्यातिदेशे विशेषस्यानतिदेशात् ह्यस्तनी-परोक्षे न भवतः। आशंस्य इति किम् ? उपाध्याय आगमिष्यति तर्कमध्येष्यते मैत्रः॥2॥

न्या०स०—भूतवच्च-आगमदित्यत्र अध्यगीष्महीत्यत्र चाऽनेनैव भूतप्रत्ययः उभय-त्राप्याशंस्यस्य विद्यमानत्वात्।

विशेषस्यानतिदेशादिति-एतच्च व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिरिति न्यायात्।

क्षिप्रा-ऽऽशंसाऽर्थयोर्भविष्यन्ती-सप्तम्यौ ॥ 5. 4. 3. ॥

क्षिप्रार्थ आशंसार्थे चोपपदे आशंस्येऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्यथासंख्यं भविष्यन्तीसप्तम्यौ विभक्ती भवतः। भूतवच्चेत्यस्यापवादः।

उपाध्यायश्चेदागच्छति आगमत् आगमिष्यति आगन्ता, क्षिप्रमाशु त्वरितमरं शीघ्रमेते सिद्धान्तमध्येष्यामहे। क्षिप्रार्थे नेति वक्तव्ये भविष्यन्तीवचनं श्वस्तनीविषयेऽपि भविष्यन्ती यथा स्यादित्येवमर्थम्। उपाध्यायश्चेच्छ्वः शीघ्रमागमिष्यति, एते श्वः क्षिप्रमध्येष्यामहे। आशंसार्थे खल्वपि-उपाध्यायश्चेदागच्छति आगमत् आगमिष्यति आगन्ता वा, आशंसेऽवकल्पये संभावये युक्तोऽधीयीय। द्वयोरुपपदयोः सप्तम्येव भवति शब्दतः परत्वात्-आशंसे क्षिप्रमधीयीय॥3॥

न्या०स०—क्षिप्राशंसा-भूतवच्चेत्यस्यापवाद इति-अथ क्षिप्रार्थे आशंसार्थे च उपपदे आशंस्ये एवार्थे वर्त्तमानाद् धातोर्भविष्यन्तीसप्तम्यौ विधीयेते तत्राशंस्यस्य भविष्यत्त्वात् सिद्धैव ``विधिनिमन्त्रणा'' (5-4-28) इति सप्तम्यपि प्रार्थनारूपत्वात् किमर्थमिदमुच्यते ? इत्याह-*भूतवच्चेत्यादि-क्षिप्रार्थे न इतीति*-ननु क्षिप्रार्थे न इति आशंसार्थे सप्तमी इति च पृथक्सूत्रद्वयं क्रियतां किं क्षिप्रार्थे भविष्यन्तीविधानेन ? एवमपि कृते भविष्यन्ती सेत्स्यति, तथाहि-भूतवच्चेत्यनेन सामान्यभणनात् क्षिप्रार्थेऽक्षिप्रार्थे चोपपदे भूतवत्सद्वच्च प्राप्तानां प्रत्ययानां क्षिप्रार्थे नेत्यनेन निषेधे कृते पारिशेष्यात् स्वयमेव भविष्यन्ती भविष्यति किं तद्ग्रहणेनेत्याह-*श्वस्तनी विषयेऽपीति*-असति हि भविष्यन्तीग्रहणे यथा प्राप्तस्य भविष्यत्प्रत्ययस्य प्रत्युज्जीवनं भवति। भविष्यत्प्रत्ययश्च भविष्यदऽद्यतने भविष्यन्ती भविष्यदनद्यतने तु श्वस्तनी प्राप्नुयात्, इदानीं पुनर्भविष्यत्यद्यतनेऽनद्य-तने च क्षिप्रार्थे उपपदे भविष्यन्त्येव न तु श्वस्तनी। *द्वयोरुपपदयोरिति*-क्षिप्राशंसार्थयोर्युगपत् प्रयोगे क्षिप्रार्थोपपदनिबन्धना भविष्यन्ती आशंसार्थनिबन्धना सप्तमी वा भवतीत्याह-*शब्दतः परत्वादिति।*

संभावने सिद्धवत् ॥ 5. 4. 4. ॥

हेतोः शक्तिश्रद्धानं-संभावनम्, तस्मिन् विषयेऽसिद्धेऽपि वस्तुनि सिद्ध्वत् प्रत्यया भवन्ति ।

समये चेत् प्रयत्नोऽभूत्, उदभूवन् विभूतयः ।
इषे चेन्माधवोऽवर्षीत्, समपत्सत शालयः ॥
जातश्चायं मुखेन्दुश्चेत्, भृकुटिप्रणयी पुनः ।
गतं च वसुदेवस्य, कुलं नामावशेषताम् ॥4॥

न्या०स०—संभावने-जातश्चायं गतं चेति-अजनि, जायते स्म, अगमत्, गच्छति स्मेति वाक्यं कार्यं न तु गमिष्यति जनिष्यत इति तत्राप्यस्य सूत्रस्य प्रवर्त्तनात् ।

नाऽनद्यतनः प्रबन्धा—ऽऽसत्त्योः ॥ 5. 4. 5. ॥

प्रबन्धः सातत्यम्, आसत्तिः सामीप्यम्, तच्च कालतः, सजातीयेन कालेनाव्यव-हितकालतेति यावत् । धात्वर्थस्य प्रबन्धे आसत्तौ च गम्यमानायां धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो न भवति । भूतानद्यतने ह्यस्तनी भविष्यदनद्यतने च श्वस्तनी विहिता तयोः प्रतिषेधः ।

यावज्जीवं भृशमन्नमदात्, यावज्जीवं भृशमन्नं दत्तवान्, यावज्जीवं भृशमन्नं दास्यति, यावज्जीवं युक्तोऽध्यापिपत्, यावज्जीवं युक्तोऽध्यापयिष्यति । आसत्तौ खल्वपियेयं पौर्णमास्यतिक्रान्ता एतस्यां जिनमहः प्रावर्तिष्ट, प्रवृत्तः । येयं पौर्णमास्यागामिनी अस्यां जिनमहः प्रवर्तिष्यते । द्वौ प्रतिषेधौ यथाप्राप्तस्याभ्यनुज्ञानाय । केचित् तु-अनद्यतन-विशेषविहितानामपि परोक्षादीनां प्रतिषेधमिच्छन्ति ॥5॥

न्या०स०—नानद्यतनः—न अद्यतनोऽनद्यतन इति कार्यं, न तु न विद्यतेऽद्यतनो यत्रेति, यतो बहुव्रीहेर्व्यापकत्वात् परोक्षाया अपि निषेधः स्यात्, तत्राप्यद्यतनो नास्तीति कृत्वा । नञ्तत्पुरुषे तु सामान्येन कृते विशेषो नान्तर्भवति, सामान्यमध्ये विशेषाऽयोगात् । *तयोः प्रतिषेध इति*-❊ सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेश ❊ इति न्यायात् सामान्यानद्यतनस्यैव प्रतिषेधो न विशेषानद्यतनस्य, तेन परोक्षाया न प्रतिषेधः ।

यावज्जीवमिति-यावन्तं कालं जीव्यते भावे ``यावतो विन्दजीवः'' (5-4-55) यावच्छब्दात् ``कालाध्वनो'' (2-2-42) ``कालाध्व'' (2-2-23) इति वा द्वितीया यावज्जीवं शब्दात्तु प्रथमासिः,

यावज्जीवं यावद्वर्त्तते तावद्ददातीत्यर्थः ।

यथाप्राप्तस्याभ्यनुज्ञानायेति–❁ द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयत ❁ इति न्यायात् । ननु तर्ह्यद्यतनः प्रबन्धासत्त्योरिति विधिसूत्रं कर्त्तव्यं विधिप्रतिषेधसंभवे हि विधेरेव ज्यायस्त्वात्, एव-मपि ते अद्यतनी भविष्यन्ती सेत्स्यतः ? नैवं, अद्यभवोऽद्यतनः, अनया व्युत्पत्त्या वर्त्त-मानापि स्यात् ।

प्रतिषेधमिच्छन्तीति-स्वमते तु ❁ सामान्यातिदेशे विशेषस्यानतिदेशात् ❁ परोक्षादीनां न निषेधः, एवं च भूतानद्यतने अद्यतनीक्तप्रत्यययोर्विधिर्भविष्यदनद्यतने च भविष्यन्त्या एव ।

एष्यत्यवधौ देशस्याऽर्वाग्भागे ॥ 5. 4. 6. ॥

देशस्य योऽवधिस्तद्वाचिन्युपपदे देशस्यैवार्वाग्भागे य एष्यन्नर्थस्तत्र वर्तमानाद् धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो न भवति । अप्रबन्धार्थमनासत्त्यर्थं च वचनम् । यद्यप्यनद्यतन इति प्रकृतं तथापीहैष्यतीति वचनात् श्वस्तन्या एव निषेधः ।

योऽयमध्वा गन्तव्य आ शत्रुञ्जयात् तस्य यदवरं वलभ्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे, द्विः सक्तून् पास्यामः । योऽयमध्वा गन्तव्य आ पाटलिपुत्रात् तस्य यदवरमर्धं (कौशाम्ब्याः) तत्रोदनं भोक्ष्यामहे । एष्यतीति किम् ? योऽयमध्वातिक्रान्त आ शत्रुञ्जयात् तस्य यदवरं वलभ्यास्तत्र युक्ता द्विरध्यैमहि, द्विःसक्तूनपिबाम ।

अवधाविति किम् ? योऽयमध्वा निरवधिको गन्तव्यस्तस्य यदवरं वलभ्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे, द्विः सक्तून् पातास्मः । अर्वाग्भाग इति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्य त आ शत्रुंजयात् तस्य तत् परं वलभ्यास्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे, द्विः सक्तून् पातास्मः ॥6॥

न्या०स०–एष्यत्यव-अत्र सूत्रे देशः प्रदेशमात्रं तेनाऽध्वनोऽपि देशता ``कालाध्वभाव'' (2-2-23) इत्यत्र तु देशो राष्ट्रादिः, अत एव तत्र देशे सत्यपि अध्वग्रहणम् ।

कालस्याऽनहोरात्राणाम् ॥ 5. 4. 7. ॥

कालस्य योऽवधिस्तद्वाचिन्युपपदे कालस्यैवार्वाग्भागे य एष्यन्नर्थस्तत्र वर्तमानाद् धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो न भवति । अनहोरात्राणां-न चेत् सोऽर्वाग्भागोऽहोरात्राणां संबन्धी भवति ?

योऽयमागामी संवत्सरस्तस्य यदवरम् आग्रहायण्यास्तत्र जिनपूजां करिष्यामोऽतिथिभ्यो दानं दास्यामहे । एष्यतीत्येव-योऽयं संवत्सरोऽतीतस्तत्र यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता

द्विरध्यैमहि । अवधावित्येव-योऽयमागामी निरवधिकः कालस्तत्र यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता अध्येतास्महे । अर्वाग्भाग इत्येव परस्मिन् विभाषा वक्ष्यते । अनहोरात्राणामिति किम् ? योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता द्विरध्येतास्महे, योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरोऽर्धमासस्तत्र द्विरोदनं भोक्तास्महे । योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र द्विः सक्तून् पातास्म इति त्रिविधेऽप्यहोरात्रसंबन्धे मा भूत् । योगविभाग उतरार्थः । बहुवचनं कालस्येति सामानाधिकरण्यभ्रमनिरासार्थम् ॥7॥

*न्या०स०–कालस्यान-आग्रहायण्या इति-*अग्रं हायनस्य ``द्वित्रिचतुष्पुरण'' (3-1-56) इति समासः, ``पूर्वपदस्था'' (2-3-64) इति णत्वम्, ततः स्वार्थे अण् ङीः । *अनहोरात्राणामिति किमिति-*यत्राहः शब्दो रात्रिशब्दो वा प्रयुज्यते तत्राहोरात्रत्वम् । *पञ्चदशरात्र इति-*अत्र कालसंबन्धी तादात्म्येनाऽहोरात्ररूपोऽर्वाग्भागः । *योऽवरोऽर्धमास इति-*अत्र कालोऽहोरात्ररूपस्तस्य संबन्धी अवयवावयविभावेनाऽर्वाग्भागः ।

*पञ्चदशरात्र इति-*अत्र कालोऽर्वाग्भागश्चाहोरात्ररूपः । *सामानाधिकरण्यभ्रम-निरासार्थमिति-*कालस्य किंभूतस्याऽनहोरात्रस्येत्येवं सामानाधिकरण्यं निषिध्यते, काल-सामानाधिकरण्ये हि व्यावृत्तिप्रथमोदाहरणेऽपि सूत्रप्रवृत्तौ श्वस्तनीनिषेधः स्यात्, अत्रापि कालस्यानहोरात्ररूपत्वात्, वैयधिकरण्ये तु त्रिमकारेऽपि कालसंबन्धे व्यावृत्तिर्भवति ।

परे वा ॥ 5. 4. 8. ॥

कालस्य योऽवधिस्तद्वाचिन्युपपदे कालस्यैव परस्मिन् भागेऽनहोरात्रसंबन्धिनि य एष्यन्नर्थस्तत्र वर्तमानात् धातोरनद्यतनविहितः प्रत्ययो वा न भवति ।

आगामिनः संवत्सरस्याग्रहायण्याः परस्तात् द्विः सूत्रमध्येष्यामहे, अध्येतास्महे वा । प्रबन्धासत्तिविवक्षायामपि परत्वादयमेव विकल्पः–आगामिनः संवत्सरस्याग्रहायण्याः पर-स्तादविच्छिन्नं सूत्रमध्येष्यामहे, अध्येतास्महे वा । कालस्येत्येव-आ शत्रुञ्जयाद् गन्तव्येऽस्मिन्न-ध्वनि वलभ्याः परस्तात् द्विरोदनं भोक्तास्महे । प्रबन्धासत्योस्तु नित्यं भविष्यन्ती-आ शत्रुञ्जयाद् गन्तव्येऽस्मिन्नध्वनि वलभ्याः परस्तादविच्छिन्नं सूत्रमध्येष्यामहे ।

पर इति किम् ? अर्वाग्भागे पूर्वेण नित्यं प्रतिषेधः । एष्यतीत्येव ? अतीते वत्सरे परस्तादाग्रहायण्याः सूत्रं युक्ता अध्यैमहि । अवधावित्येव ? योऽयमागामी निरवधिकः कालस्तस्य यत् परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येतास्महे । अनहोरात्राणामित्येव ? योऽयं त्रिंश-द्रात्र आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता अध्येतास्महे ॥8॥

न्या०स०—परे वा-अयमेव विकल्प इति-न तु ``नानद्यतन'' (5-4-5) इति नित्यं निषेधः। *नित्यं भविष्यन्तीति*—``नानद्यतन'' (5-4-5) इति श्वस्तन्या निषेधात्।

सप्तम्यर्थे क्रियाऽतिपत्तौ क्रियातिपत्तिः ॥ 5. 4. 9. ॥

सप्तम्या अर्थो निमित्तं हेतु-फलकथनादिका सामग्री। कुतश्चिद् वैगुण्यात् क्रियाया अतिपतनमनभिनिर्वृत्तिः—क्रियातिपत्तिः, तस्यां सत्यामेष्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोः सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तिर्विभक्तिर्भवति।

दक्षिणेन चेदयास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्, यदि कमलकमाह्वास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्, अत्र दक्षिणगमनं कमलकाह्वानं च हेतुरपर्याभवनं फलम्, तयोः कुतश्चित् प्रमाणाद् भविष्यन्तीमनभिनिर्वृत्तिमवगम्यैवं प्रयुङ्क्ते। एवमभोक्ष्यत भवान् घृतेन यदि मत्समीपमागमिष्यत्, स यदि गुरूनुपासिष्यत शास्त्रान्तमगमिष्यत् ॥9॥

भूते ॥ 5. 4. 10. ॥

भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः क्रियातिपत्तौ सत्यां सप्तम्यर्थे क्रियातिपत्तिर्विभक्तिर्भवति। ``सप्तम्युताऽप्योर्बाढे'' (5-4-21) इत्यारभ्य सप्तम्यर्थेऽनेन विधानम्, ततः प्राक् ``वोतात् प्राक्'' (5-4-11) इति विकल्पो वक्ष्यते।

दृष्टो मया भवतः पुत्रोऽन्नार्थी चंक्रम्यमाणः; अपराश्चातिथ्यर्थी, यदि स तेन दृष्टोऽभविष्यत् उताभोक्ष्यत अप्यभोक्ष्यत, न तु दृष्टोऽन्येन पथा गत इति न भुक्तवान् ॥10॥

न्या०स०—भूते-दृष्टोऽभविष्यदिति-अत्राश्रद्धाया गम्यमानत्वात् ``जातुयद्यदा'' (5-4-17) इति सप्तमीनिमित्तत्वम्।

उताभोक्ष्यतेति—``सप्तम्युताप्योर्बाढे'' (5-4-21) इति सप्तम्यर्थः।

वोतात् प्राक् ॥ 5. 4. 11. ॥

``सप्तम्युताऽप्योर्बाढे'' (5-4-21) इत्यत्र यद् उतशब्दसंकीर्तनं ततः प्राक् सप्तमीनिमित्ते क्रियातिपत्तौ सत्यां भूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्वा क्रियातिपत्तिर्भवति।

कथं नाम संयतः सन्ननागाढे तत्रभवान् आधायकृतमसेविष्यत, धिग् गर्हामहे। वावचनाद् यथाप्राप्तं च-कथं सेवते, धिग् गर्हामहे। उतात् प्रागिति किम्? कालो यदभोक्ष्यत भवान्।

भूत इत्येव ? एष्यति नित्यमेव ।।11।।

न्या०स०—वोतात् प्राक्-आधायकृतमिति-``अव्ययं प्रवृद्धादिभिः'' (3-1-48) इति सः। असेविष्यतेति–``*कथमि सप्तमी च वा*'' (5-4-13) इति सप्तम्यर्थः। *यदभोक्ष्यतेति*-अत्र ``सप्तमी यदि'' (5-4-34) इति सप्तम्यर्थता ततो भूते क्रियातिपत्तिः।

क्षेपेऽपि-जात्वोर्वर्त्तमाना ।। 5. 4. 12. ।।

भूत इति निवृत्तम्, क्षेपो-गर्हा, तस्मिन् गम्यमानेऽपि-जात्वोरुपपदयोर्धातोर्वर्तमाना विभक्तिर्भवति। कालसामान्ये विधानात् कालविशेषे विहिता अपि प्रत्ययाः परत्वादनेन बाध्यन्ते।

अपि तत्रभवान् जन्तून् हिनस्ति, जातु तत्रभवान् भूतानि हिनस्ति, अपि संयतः सन्ननागाढे तत्रभवानाधायकृतं सेवते, धिग् गर्हामहे। इह सप्तमीनिमित्ताभावात् क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्नोदाह्रियते ।।12।।

न्या०स०—क्षेपेऽपिजा-भूत इति निवृत्तमिति-क्रियातिपत्तिसंबद्धत्वात् भूतस्य।

कथमि सप्तमी च वा ।। 5. 4. 13. ।।

कथंशब्दे उपपदे क्षेपे गम्यमाने धातोः सर्वेषु कालेषु सप्तमी चकाराद् वर्तमाना च विभक्ती वा भवतः। वावचनाद् यथाप्राप्तं च।

कथं नाम तत्रभवान् मांसं भक्षयेत्, मांसं भक्षयति, धिग् गर्हामहे, अन्याय्यमेतत्। पक्षे-अबभक्षत्, अभक्षयत्, भक्षयांचकार, भक्षयिता, भक्षयिष्यति। अत्र सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिर्भवति-कथं नाम तत्रभवान् मांसमभक्षयिष्यत्, भक्षयेत्, भक्षयति, अबभक्षत्, अभक्षयत्, भक्षयांचकार। भविष्यति तु क्रियातिपतने नित्यमेव क्रियातिपत्तिः कथं नाम तत्रभवान् मांसमभक्षयिष्यत्, न तु वर्तमाना-सप्तमी-भविष्यन्तीश्वस्तन्यः। क्षेप इत्येव ? कथं नाम तत्रभवान् साधूनपूपुजत्, एवं-यथाप्राप्ति वर्तमानादयो भवन्ति ।।13।।

किंवृत्ते सप्तमी-भविष्यन्त्यौ ।। 5. 4. 14. ।।

किंवृत्ते उपपदे क्षेपे गम्यमाने धातोः सप्तमी-भविष्यन्त्यौ भवतः, सर्वविभक्त्यपवादः।

किं तत्रभवाननृतं ब्रूयात्, किं तत्रभवान् अनृतं वक्ष्यति, को नाम, कतरो नाम, कतमो नाम यस्मै तत्रभवाननृतं ब्रूयात्, अनृतं वक्ष्यति। अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने

वा क्रियातिपत्तिः— किं तत्रभवाननृतमवक्ष्यत्, पक्षे-ब्रूयात् वक्ष्यति च । भविष्यति तु नित्यम्-तत्रभवाननृतमवक्ष्यत् । क्षेप इत्येव ? किं तत्रभवान् देवानपूपुजदित्यादि ।।14।।

अश्रद्धा-ऽमर्षेऽन्यत्रापि ।। 5. 4. 15. ।।

क्षेप इति निवृत्तम्, अश्रद्धा-असंभावना, अमर्षोऽक्षमा, अन्यत्र-अकिंवृत्ते, अपिशब्दात् किंवृत्ते, चोपपदेऽश्रद्धाऽ-मर्षयोर्गम्यमानयोर्धातोः सप्तमी-भविष्यन्त्यौ भवतः । सर्वविभक्त्यपवादः, वचनभेदाद् यथासंख्यं नास्ति ।

अश्रद्धायाम्-न श्रद्दधे, न संभावयामि नावकल्पयामि तत्रभवान् नामाऽदत्तं गृह्णीयात्, ग्रहीष्यति । किंवृत्तेऽपि—न श्रद्दधे न संभावयामि नावकल्पयामि किं तत्रभवान् नामाऽदत्तमाददीत, अदत्तमादास्यते । अमर्षे-न मर्षयामि न क्षमे, धिग् मिथ्या, नैतदस्ति, तत्रभवान् नामाऽदत्तं गृह्णीयात्, अदत्तं ग्रहीष्यति । किंवृत्तेऽपि-न मर्षयामि न क्षमे, धिग् मिथ्या, नैतदस्ति, किं तत्रभवानदत्तं गृह्णीयात्, अदत्तं ग्रहीष्यति । अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिर्भवति-न श्रद्दधे न मर्षयामि तत्रभवानदत्तमग्रहीष्यत्, पक्षे-गृह्णीयात् ग्रहीष्यति च । भविष्यति तु नित्यम्-न श्रद्दधे न मर्षयामि तत्रभवानदत्तमग्रहीष्यत् । अन्यत्रापीति किम् ? यदाऽर्थात् प्रकरणाद् वाऽश्रद्धाऽमर्षयोर्गम्यमानत्वात् तद्वाचकेनाप्युपपदेन धातोर्न योगस्तदा मा भूत् ।।15।।

न्या०स०—अश्रद्धामर्षे:-अन्यत्रापीति अपिशब्दसमुच्चितेन किंवृत्तेन द्वित्वात् अश्रद्धामर्षाभ्यां सहात्र सूत्रे यथासंख्यं न, ``राष्ट्रक्षत्रियात्'' (3-1-114) इति सूत्रेऽपत्याधिकारे सति राज्ञ्यपीति कर्त्तव्ये अपत्यग्रहणात्, अन्यथा अपिशब्दसमुच्चितेनाधिकृतेनाऽपत्येन सिद्धत्वादपत्यग्रहणं व्यर्थं स्यात् ।

अन्यत्रापीति किमिति-पूर्वसूत्रात् किंवृत्तानुवृत्त्यभावात् किंवृत्तेऽकिंवृत्ते च भविष्यति, किमन्यत्रापीत्यनेनेत्याशङ्का ? *तद्वाचकेनापीति*-यथा किंवृत्तेऽकिंवृत्ते च विभक्ती स्तो न तथाऽश्रद्धामर्षयोर्गम्यमानयोः किन्तु पदैः प्रयुज्यमानयोरेव, एतच्चास्मिन्नेव सूत्रे ज्ञातव्यं नोत्तरत्र यतः ``शेषे भविष्यन्त्ययदौ'' (5-4-20) इत्यत्र आश्चर्यं, यदि स भुञ्जीत चित्रं यदि सोऽधीयीत, अत्राऽश्रद्धाप्यस्तीति कथयिष्यति ।

किंकिलाऽस्त्यर्थयोर्भविष्यन्ती ।। 5. 4. 16. ।।

किंकिलेति समुदायशब्देऽस्त्यर्थे च शब्दे उपपदेऽश्रद्धाऽमर्षयोर्गम्यमानयोर्धातोर्भविष्यन्ती

भवति । सप्तम्यपवादः । वचनभेदादश्रद्धामर्ष इति यथासंख्यं नास्ति ।

न श्रद्दधे न मर्षयामि, किंकिल नाम तत्रभवान् परदारानुपकरिष्यते, ``गन्धना०'' (3-3-76) इति सूत्रेण साहसे आत्मनेपदम् । अस्त्यर्था अस्ति-भवति-विद्यतयः । न श्रद्दधे न मर्षयामि अस्ति नाम, भवति नाम, विद्यते नाम तत्रभवान् परदारानुपकरिष्यते । अत्र सप्तमीनिमित्तं नास्तीति क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्न भवति ।।16।।

न्या०स०—किंकिला-सप्तम्यपवाद इति-अश्रद्धामर्षे इति प्राप्तायाः, किलशब्द प्रसिद्धिद्योतने वाक्यालंकारे अमर्षद्योतने कोमलामन्त्रणे, एवं किंकिलशब्दोऽपि ।

जातु-यद्-यदा-यदौ सप्तमी ।। 5. 4. 17. ।।

'जातु यद् यदा यदि' इत्येतेषूपपदेषु अश्रद्धाऽमर्षयोर्गम्यमानयोर्धातोः सप्तमी भवति । भविष्यन्त्यपवादः ।

न श्रद्दधे न क्षमे-जातु तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यत् तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यदा तत्रभवान् सुरां पिबेत्, यदि तत्रभवान् सुरां पिबेत् । अत्र सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिः—न श्रद्दधे न क्षमे जातु तत्रभवान् सुरामपास्यत्, पक्षे-पिबेत् । भविष्यति तु नित्यम्-जातु तत्रभवान् सुरामपास्यत् ।।17।।

न्या०स०—जातुयद्यदा-भविष्यन्त्यपवाद इति-``अश्रद्धामर्षे'' (5-4-15) इति प्राप्तायाः ।

क्षेपे च यच्च यत्रे ।। 5. 4. 18. ।।

यच्च-यत्रशब्दयोरुपपदयोः क्षेपेऽश्रद्धाऽमर्षयोश्च गम्यमानयोर्धातोः सप्तमी भवति । अश्रद्धाऽमर्षयोर्भविष्यन्त्याः, क्षेपे तु सर्वविभक्तीनामपवादः ।

धिग् गर्हामहे-यच्च तत्रभवानस्मानाक्रोशेत्, यत्र तत्रभवानस्मानाक्रोशेत्, न श्रद्दधे न क्षमे-यच्च तत्रभवान् परिवादं कथयेत्, यत्र तत्रभवान् परिवादं कथयेत् । अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिर्भवति—धिग् गर्हामहे न श्रद्दधे न क्षमे-यच्च यत्र वा तत्रभवानस्मानाक्रोक्ष्यत्, पक्षे-आक्रोशेत् । भविष्यति तु नित्यम्-धिग् गर्हामहे, न श्रद्दधे क्षमे-यच्च यत्र वा तत्रभवान् परिवादमकथयिष्यत् ।।18।।

चित्रे ।। 5. 4. 19. ।।

चित्रमाश्चर्यम्, तस्मिन् गम्यमाने यच्च यत्रयोरुपपदयोर्धातोः सप्तमी भवति । सर्वविभक्त्यपवादः ।

चित्रमाश्चर्यमद्भुतं विस्मनीयं यच्च तत्रभवानकल्प्यं सेवेत, यत्र तत्रभवानकल्प्यं सेवेत । अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते क्रियातिपतने वा क्रियातिपत्तिर्भवति-चित्रं यच्च यत्र वा तत्र भवानकल्प्यमसेविष्यत्, पक्षे-सेवेत । भविष्यति तु नित्यम्-चित्रं वा यच्च यत्र वा तत्रभवानकल्प्यमसेविष्यत ।।19।।

न्या०स०—चित्रे-सर्वविभक्त्यपवाद इति-कालस्याऽनिर्देशात् त्रिष्वपि कालेष्वस्य प्रवर्त्तनात् ।

शेषे भविष्यन्त्ययदौ ।। 5. 4. 20. ।।

शेते यच्च-यत्राभ्यामन्यस्मिन्नुपपदे चित्रे गम्यमाने धातोर्भविष्यन्ती विभक्तिर्भवति, अयदौ-यदिशब्दश्चेन्न प्रयुज्यते । सर्वविभक्त्यपवादः ।

चित्रमाश्चर्यमन्धो नाम पर्वतमारोक्ष्यति, बधिरो नाम व्याकरणं श्रोष्यति, मूको नाम धर्मं कथयिष्यति । अत्र सप्तमीनिमित्तं नास्तीति न क्रियातिपत्तिः । शेष इति किम् ?

यच्च-यत्रयोः पूर्वेण सप्तम्येव । अयदाविति किम् ? आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत, चित्रं यदि सोऽधीयीत्त, अत्र अश्रद्धाऽप्यस्तीति ``जातु-यद्-यदा-यदौ सप्तमी'' (5-4-17) इत्यनेन सप्तमी ।।20।।

न्या०स०—शेषे भविष्य पूर्वेण सप्तम्येवेति—``चित्रे'' (5-4-19) इत्यनेन । अश्रद्धाप्यस्तीतिन केवलं यदिशब्दयोगः ।

सप्तम्युता-ऽप्योर्बाढे ।। 5. 4. 21. ।।

बाढेऽर्थे वर्तमानयोरुताऽप्योपपदयोर्धातोः सप्तमी भवती । सर्वविभक्त्यपवादः ।

उत कुर्यात्, अपि कुर्यात्, वाढं करिष्यतीत्यर्थः । बाढ इति किम् ? उतः दण्डः पतिष्यति ?, अपिधास्यति द्वारम्, प्रश्नः पिधानं च यथा क्रमं गम्यते । वोतात् प्रागिति निवृत्तम् । इतः प्रभृति सप्तमीनिमित्ते सति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिः—उताऽकरिष्यत्, अप्यकरिष्यत् ।।21।।

न्या०स०—सप्तम्युताप्यो-बाढं करिष्यतीति एवमन्या अपि विभक्तयो द्रष्टव्याः,

सन्निहितत्वाच्च भविष्यन्त्येव दर्शिता ।

संभावनेऽलमर्थे तदर्थानुक्तौ ।। 5. 4. 22. ।।

अलमोऽर्थः सामर्थ्यं तद्विषये संभावने–श्रद्धाने गम्यमाने तदर्थस्यालमर्थार्थस्य शब्दस्यानुक्तावप्रयोगे धातोः सप्तमी भवति । सर्वविभक्त्यपवादः ।

शक्यसंभावने-अपि मासमुपवसेत्, अपि पुण्डरिकाध्ययनमह्नाऽधीयीत, अपि स्कन्दकोद्देशं यामेनाधीयीत । अशक्यसंभावने-अपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यात्, अपि खारीपाकं भुञ्जीत, अपि समुद्रं दोर्भ्यां तरेत् । अलमर्थ इति किम् ? निदेशस्थायी मे जिनदत्तः प्रायेण गमिष्यति । तदर्थानुक्ताविति किम् ? वसति चेत् सुराष्ट्रेषु वन्दिष्यतेऽलमुज्जयन्तम्, शक्तश्चैत्रो धर्मं करिष्यति । अत्र सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिर्भवति-अपि पर्वतं शिरसाऽभेत्स्यत् । तथा `काकिन्या हेतोरपि मातुः स्तनं छिन्द्यात्' इत्यत्र ``क्षेपेऽपि जात्वोर्वर्तमाना'' (5-4-12) इति वर्तमानां बाधित्वा, चित्रमाश्चर्यमपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यादित्यत्र तु ``शेषे भविष्यन्त्ययदौ'' (5-4-20) इति भविष्यतीं च बाधित्वा परत्वादनेन सप्तम्येव भवति ।।22।।

अयदि श्रद्धाधातौ नवा ।। 5. 4. 23. ।।

श्रद्धा-संभावना, तदर्थे धातावुपपदेऽलमर्थविषये संभावने गम्यमाने धातोः सप्तमी वा भवति, अयदि-यच्छब्दश्चेन्न प्रयुज्यते । पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः ।

श्रद्दधे संभावयामि अवकल्पयामि-भुञ्जीत भवान् । पक्षे यथाप्राप्तम्-भोक्ष्यते भवान्, अभुक्त भवान्, अभुङ्क्त भवान् । अयदीति किम् ? संभावयामि यद् भुञ्जीत भवान्, श्रद्धाधाताविति किम् ? अपि शिरसा पर्वतं भिन्द्यात्, उभयत्र पूर्वेण नित्यं सप्तमी ।

अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिः-संभावयामि नाभोक्ष्यत भवान् ।।23।।

न्या०स०–अयदि श्रद्धा-यच्छब्दश्चेन्न प्रयुज्यते इति-क्रियाविशेषणत्वेन चेद् यच्छब्दो न प्रयुज्यते, हेत्वर्थे तु भवत्येव ।

पूर्वेण नित्यं प्राप्ते इति–``संभावने अलमर्थे'' (5-4-22) इत्यनेन ।

सतीच्छाऽर्थात् ।। 5. 4. 24. ।।

सति-वर्तमानेऽर्थे वर्तमानादिच्छार्थाद् धातोः सप्तमी वा भवति, पक्षे तु वर्तमानैव ।

इच्छेत् इच्छति, उश्यात् वष्टि, कामयेत कामयते, वाञ्छेत् वाञ्छति । ``क्षेपेऽपि-जात्वोर्वर्तमाना'' (5-4-12) इत्यादावपि परत्वादयमेवविकल्पः—अपि संयतः सन्नकल्प्यं सेवितुमिच्छेत्, अपि संयतः सन्नकल्प्यं सेवितुमिच्छति, धिग् गर्हामहे । भूत-भविष्यतोर-भावात् सत्यपि सप्तमीनिमित्ते सत्यपि च क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्न भवति ।।24।।

वत्स्र्यति हेतु-फले ।। 5. 4. 25. ।।

हेतुः कारणं, फलं कार्यम्, हेतुभूते फलभूते च वत्स्र्यत्यर्थे वर्तमानाद् धातोः सप्तमी वा भवति ।

यदि गुरूनुपासीत शास्त्रान्तं गच्छेत्, यदि गुरूनुपासिष्यते शास्त्रान्तं गमिष्यति, अत्र गुरूपासनं हेतुः, शास्त्रान्तगमनं फलम् । वत्स्र्यतीति किम् ? दक्षिणेन चेद् याति न शकटं पर्याभवति । केचित् तु वा सर्वेषु कालेषु सर्वविभक्त्यपवादं सप्तमीं मन्यन्ते-दक्षिणेन चेद् यायान्न शकटं पर्याभवेत्, दक्षिणेन चेद् यास्यति न शकटं पर्याभविष्यति, दक्षिणेन चेद् याति न शकटं पर्याभवति, दक्षिणेन चेदयासीन्न शकटं पर्याभूत । अत्रापि सप्तमीनिमित्तमस्तीति भविष्यति क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिः—दक्षिणेन चेदयास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत् । कथम्—

``अमङ्क्ष्यद् वसुधा तोये, च्युतशैलेन्द्रबन्धना ।
नारायण इव श्रीमान् यदि त्वं नाधरिष्यथाः ।।''

इति ? वत्स्र्यत्येवायं प्रयोगः । केचित् तु भूत इच्छन्ति । हनिष्यतीति पलायिष्यते वर्षिष्यतीति धाविष्यतीत्यत्र तु हेतुफलभावस्येतिशब्देनैव द्योतितत्वात् सप्तमी न भवति ।।25।।

*न्या०स०—वत्स्र्यति हेतुफले-केचित्तु भूते इति-*भूते हेतुफले सप्तमीमिच्छन्ति इत्यर्थः । *हनिष्यतीति पलायिष्यते इति-*बहुलाधिकाराद्धेतुहेतुमद्भावे शत्रानशौ न भवत इति ।

इतिशब्देनैव द्योतितत्वादिति-सप्तम्या हि हेतुफलभाव एव द्योत्यते स च इति-शब्देनैव द्योतितः ।

कामोक्तावकच्चिति ।। 5. 4. 26. ।।

वेति निवृत्तम्? । काम इच्छा, तस्योक्तिः प्रवेदनं तस्यां गम्यमानायां धातोः सप्तमी भवति, अकच्चिति-न चेत् कच्चिच्छन्दः प्रयुज्यते । सर्वविभक्त्यपवादः ।

कामो मे भुञ्जीत भवान्, इच्छा मे, अभिप्रायो मे, श्रद्धा में, अभिलाषो मे, अधीयीत

भवान् । अकच्चितीति किम् ? कच्चिज्जीवति मे माता । अत्र सप्तमीनिमित्तमस्तीति भूते भविष्यति च क्रियातिपतने नित्यं क्रियातिपत्तिः—कामो मे भोक्ष्यत भवान् ।।26।।

न्या०स०—कामोक्ता-वेति निवृत्तमिति-कामप्रवेदने विभक्त्यन्तरप्रयोगादर्शनात् ।

इच्छार्थे सप्तमी-पञ्चम्यौ ।। 5. 4. 27. ।।

इच्छार्थे धातावुपपदे कामोक्तौ गम्यमानायां धातोः सप्तमी-पञ्चम्यौ भवतः । सर्व विभक्त्यपवादौ ।

इच्छामि भुञ्जीत भवान्, इच्छामि भुङ्क्तां भवान्, कामये, प्रार्थये, अभिलाषामि, वश्मि, अधीयीत भवान्, अधीतां भवान् । कामोक्तावित्येव ? इच्छया इच्छतः, कामयमानः कामयमानस्य भुङ्क्ते, नात्र प्रयोक्तुः कामोक्तिः । अत्र सत्यपि सप्तमीनिमित्ते इच्छार्थ उपपदे कामोक्तौ क्रियातिपतनस्यासामर्थ्येनासंभवात् क्रियातिप्रत्तिर्न भवति । केचित् तु ``सप्तम्युता-ऽप्योर्वाढे'' (5-4-21) इत्यत आरम्य यत्र सप्तम्या एव केवलाया निमित्तमस्ति न विभक्त्यन्तरसहितायास्तत्रैव क्रियातिपतने क्रियातिपत्तिर्भवतीति मन्यन्ते ।।27।।

न्या०स०—इच्छार्थे सप्तमी-असामर्थ्येनासंभवादिति-कामप्रवेदनस्य क्रियातिपतनस्य च परस्परं विरुद्धत्वात् संबन्धाभावेनेत्यर्थः ।

विधि-निमन्त्रणा-ऽऽमन्त्रणा-ऽधीष्ट-संप्रश्न-प्रार्थने ।। 5. 4. 28. ।।

विध्यादिविशिष्टेषु कर्तृ-कर्म-भावेषु प्रत्ययार्थेषु धातोः सप्तमी पञ्चम्यौ भवतः, सर्वप्रत्ययापवादौ । विधिरप्राप्ते नियोगः, क्रियायां प्रेरणेति यावत्; अज्ञातज्ञापनमित्येके ।

कटं कुर्यात् करोतु भवान्, प्राणिनो न हिंस्यात् न हिनस्तु भवान् । प्रेरणायामेव यस्यां प्रत्याख्याने प्रत्यवायस्तन्निमन्त्रणम्, इच्छामन्तरेणापि नियोगतः कर्तव्यमिति यावत् । द्विसंध्यमावश्यकं कुर्यात् करोतु भवान्, सामायिकमधीयीत अधीतां भवान् । यत्र प्रेरणायामेव प्रत्याख्याने कामचारस्तदामन्त्रणम् । इहासीत आस्तां भवान्, इह शयीत शेतां भवान्, यदि रोचते । प्रेरणैव सत्कारपूर्विकाऽधीष्टम् अध्येषणम् । तत्त्वज्ञानं नः प्रसीदेयुः प्रसीदन्तु गुरुपादाः, व्रतं रक्षेत् रक्षतु भवान् । संप्रश्नः संप्रधारणा । किन्नु खलु भो व्याकरणमधीयीय अध्ययै, उत सिद्धान्तमधीयीय अध्ययै । प्रार्थनं याच्ञा । प्रार्थना मे व्याकरणमधीयीय अध्ययै, तर्कमधीयीय अध्ययै ।।28।।

न्या०स०—विधिनिमन्त्रणा-नन्वत्र निमन्त्रणादीनां किमर्थमुपादानं यतो विधिः क्रियायां प्रेरणेति यावदित्युक्तं ततः सा प्रेरणा क्वचिन्निमन्त्रणरूपा क्वचिदामन्त्रणरूपेति यथा प्रयोक्तृव्यापार इत्यत्र व्यापारः प्रेषणाध्येषणादिरूप इति विधिग्रहणेनैव सिद्धम् ? उच्यते, यद्यपि वृत्तौ व्याख्यानेनापि सिध्यति तथापि सूत्रे एषामुपादानं सुखावसेयं भवतीति । *तत्वज्ञानमित्यादि*-तत्वज्ञानं कर्म्मतापन्नं नोऽस्मभ्यं प्रसादपूर्वकं दद्युः प्रसीदेयुः गुरुपादाः, अथवा तत्वज्ञानरूपक्रियाविशेषणमिदम् नोऽस्माकं प्रसीदेयुः ।

प्रैषा-ऽनुज्ञा-ऽवसरे कृत्य-पञ्चम्यौ ।। 5. 4. 29. ।।

प्रैषादिविशिष्टे कर्त्रादावर्थे धातोः कृत्यप्रत्ययाः पञ्चमी च विभक्तिर्भवति । न्यत्कारपूर्विका प्रेरणा-प्रैषः, अनुज्ञा-कामचारानुमतिः, अतिसर्ग इति यावत् । अवसरः— प्राप्तकालता निमित्तभूतकालोपनतिः ।

भवता खलु कटः कार्यः कर्तव्यः करणीयः कृत्यः, भवान् कटं करोतु, भवान् हि प्रेषितोऽनुज्ञातो भवतोऽवसरः कटकरणे । यद्यपि कृत्याः सामान्येन भाव-कर्मणोर्विहिता-स्तथापि सर्वप्रत्ययापवादभूतया पञ्चम्या बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते । अनुज्ञायां केचित् सप्तम्येवेत्याहुः—अतिसृष्टो भवान् ग्रामं गच्छेत् ।।29।।

न्या०स०—प्रैषानुज्ञावसरे-कामचारानुमतिरिति-केनचित् पुंसा कश्चित् पृष्टो यदुताहं कटं करोमि ततस्तेन कटमयं करोतु मा वेति मनसिकृत्वा एवमुच्यते कुरु इति, ततः स्वेच्छाप्रच्छकस्य कदाचिदेवमुच्यतेऽवश्यं कुरु, ततो नियोगः; प्रच्छकस्यैवंविधानुज्ञाऽत्र सूत्रे न गृह्यते ।

सप्तमी चोर्ध्वमौहूर्त्तिके ।। 5. 4. 30. ।।

ऊर्ध्वं मुहूर्तादुपरि मुहूर्तस्य भवोऽर्थ ऊर्ध्वमौहूर्तिकः, तस्मिन् वर्तमानाद् धातोः प्रैषादिषु गम्यमानेषु सप्तमी कृत्याः पञ्चमी च भवन्ति । ऊर्ध्वं मुहूर्तात् कटं कुर्याद् भवान्, कार्यः कर्तव्यः करणीयः कृत्यः कटो भवता, कटं करोतु भवान्, भवान् हि प्रेषितोऽनुज्ञातो भवतोऽवसरः कटकरणे ।।30।।

न्या०स०—सप्तमी चोर्ध्व-ऊर्ध्वमौहूर्त्तिक इति-कालादन्यत्र ``वर्षाकालेभ्यः'' (6-3-80) इति न सिध्यति इत्यध्यात्मादिभ्य इकण् ।

स्मे पञ्चमी ।। 5. 4. 31. ।।

स्मशब्द उपपदे प्रेषादिषु गम्यमानेषु उर्ध्वमौहूर्त्तिकेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः पञ्चमी भवति । कृत्यानां सप्तम्याश्चापवादः ।

ऊर्ध्वं मुहूर्ताद् भवान् कटं करोतु स्म, भवान् हि प्रेषितोऽनुज्ञातो भवतोऽवसरः कटकरणे इति ।।31।।

न्या०स०—स्मे पञ्चमी-स्मशब्दः स्पष्टार्थः।

अधीष्टौ ।। 5. 4. 32. ।।

ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति निवृत्तम्, पृथग्योगात् । स्म उपपदेऽधीष्टावध्येषणायां गम्यमानायां धातोः पञ्चमी भवति । सप्तम्यपवादः ।

अङ्ग स्म विद्वन्नणुव्रतानि रक्ष, शिक्षाः प्रतिपद्यस्व ।।32।।

न्या०स०—अधीष्टौ-पृथग्योगादिति-स्मेऽधीष्टौ च पञ्चमीत्यकरणात् । *सप्तम्यपवाद इति*-अधीष्टावर्थे ``विधिनिमन्त्रण'' (5-4-28) इति प्राप्तायाः । अङ्गशब्दः प्रकाशे कोमलामन्त्रणे वा ।

काल-वेला-समये तुम् वाऽवसरे ।। 5. 4. 33. ।।

काल-वेला-समयशब्देषूपपदेष्ववसरे गम्यमाने घातोस्तुम् प्रत्ययो वा भवति ।

कालो भोक्तुम्, वेला भोक्तुम्, समयो भोक्तुम् । वावचनाद् यथाप्राप्तं च-कालो भोक्तव्यस्य । `ऊर्ध्वं मुहूर्तात् कालो भोक्तुम्, ऊर्ध्वं मुहूर्ताद् भोक्तुं स्म कालः, अङ्ग स्म राजन् ! भोक्तुं काल' इत्येतेषु परत्वात् तुमेव । अवसर इति किम् ? कालः पचति भूतानि, कालोऽत्र द्रव्यं न त्ववसरः ।।33।।

न्या०स०—कालवेला-कालोभोक्तुमिति—``प्रैषानुज्ञा'' (5-4-29) इति प्राप्तेऽयं विकल्प इति भुज्यतां भोक्तव्यस्य चेति वाक्ये तुमि षष्ठ्येकवचनस्य ``अव्ययस्य'' (3-2-7) इति लुप् । *कालो भोक्तव्यस्येति*-प्रैषादि सूत्रेण तव्य इति भुज्यतामिति वाक्यं, विकल्पपक्षे प्रैषादीति प्रवर्त्तत इत्यत्र सूत्रे कालो भोजनस्येति वालितम् । *परत्वात्तुमेवेति*-उर्ध्वं मुहूर्त्तात् कालो भोक्तुमित्या-

दिप्रयोगत्रये । ननु तुम् विकल्पेन भवति तत्कथं तुमेवेत्युक्तम् ? उच्यते,—विकल्पेन तुमेव भवति नानङादयः, ``सप्तमी चोर्ध्व'' (5-3-12) ``स्मे पञ्चमी'' (5-4-31) इति ``अधीष्टौ'' (5-4-32) इति च यथाक्रमं प्रवर्त्तत एव ।

सप्तमी यदि ॥ 5. 4. 34. ॥

यदि-यच्छब्दप्रयोगे सति कालादिषूपपदेषु धातोः सप्तमी भवति । तुमोऽपवादः ।

कालो यदधीयीत भवान्, वेला यद् भुञ्जीत भवान्, समयो यच्छयीत भवान् । बहुलाधिकारात् `कालो यदध्ययनस्य, वेला यद् भोजनस्य, समयो यच्छयनस्य' इत्याद्यपि भवति ॥34॥

*न्या०स०—सप्तमी यदि-इत्याद्यपि भवतीति-*यच्छब्दप्रयोगेऽनेन सप्तमी विहितेति अनट् न प्राप्नोति, बाहुलकात् तु सोऽपि भवतीत्यर्थः ।

शक्ताऽर्हे कृत्याश्च ॥ 5. 4. 35. ॥

शक्तेऽर्हे च कर्तरि गम्यमाने धातोः कृत्याः सप्तमी च भवति ।

भवता खलु भारो वाह्यः, वोढव्यः, वहनीयः, उह्येत, भवान् भारं वहेत्; भवान् हि शक्तः । अर्हे-भवता खलु कन्या वाह्या, वोढव्या, वहनीया, भवान् खलु कन्यां वहेत्; भवता खलु छेदसूत्रं वाह्यम्, वोढव्यम्, वहनीयम्, भवान् खलु च्छेदसूत्रं वहेत्; भवानेतदर्हति । सप्तम्या बाधो मा भूदिति कृत्यग्रहणम् । बहुवचनमिहोत्तरत्र च यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥35॥

*न्या०स०—शक्तार्हे-गम्यमाने इति-*न तु वाच्य एवेत्यर्थः । *भवान् खलु कन्यां वहेदिति-*अत्रार्हे कर्त्तरि वाच्ये व्यक्तिव्याख्यानादनेन सप्तमी, अन्यथाऽर्हे कर्त्तरि ``अर्हे तृच्'' (5-4-37) इति परत्वात् तृजेव स्यात्, भावकर्म्मणोरस्य चरितार्थत्वात् । *यथासंख्यनिवृत्त्यर्थमिति-*ननु समुच्चीयमानेन सह यथासंख्यस्य ``राष्ट्रक्षत्रिय'' (3-1-114) इत्यत्रापत्यग्रहणेन निरस्तत्वात् व्यर्थं बहुवचनम् ? सत्यं, ज्ञापकज्ञापिका विधयो ह्यऽनित्या इति न्यायज्ञापनार्थम् ।

णिन् चाऽऽवश्यका-ऽऽधमर्ण्ये ॥ 5. 4. 36. ॥

अवश्यंभाव आवश्यकम्, ऋणेऽधमोऽधमर्णः, तस्य भाव आधमर्ण्यम् । आवश्यके आधमर्ण्ये च गम्यमाने कर्त्तरि वाच्ये धातोर्णिन् कृत्याश्च भवन्ति ।

अवश्यं करोतीति-कारी, हारी। यदा त्ववश्यमोऽपि प्रयोग उभाभ्यामपि द्योतनात् तदा मयूरव्यंसकादित्वात् समासः-अवश्यंकारी, अवश्यंहारी। अवश्यशब्दप्रयोगे तु-अवश्यकारी, अकारान्तोऽपि ह्यनव्ययमवश्यशब्दोऽस्ति। अवश्यं गेयो गाथको गीतस्य, अवश्यं भव्यश्चैत्रः। आधमर्ण्ये-शतं दायी, सहस्रं दायी, कारी मे कटमसि, हारी मे भारमसि, गेयो गाथानाम्। णिना बाधो मा भूदिति कृत्यविधानम्। कृत्वाच्च कर्त्तरि णिनो विधानात् कृत्यानामपि कर्तर्येव विधानम्, भाव-कर्मणोस्तु सामान्येन विधानात् सिद्धा एव बाधकाभावात् ॥36॥

न्या०स०—णिन् चावश्य-अवश्यं करोतीत्यादीनि वाक्यानि सामान्यविशेषभावेन उदाहारिषत अवश्यं भावे तु गम्यमाने नित्यमेव णिन् कृत्याश्च, वाक्यं त्ववश्यं विधायीत्यादि धात्वन्तरेण कार्यम्। *कर्त्तर्येव विधानमिति*-ये पूर्वं ``भव्यगेय'' (5-1-7) इत्यादिषु कर्त्तरि विहितास्त एवेह ज्ञायन्ते इत्यर्थः, यद्वा भावकर्म्मणोरपि ये विहितास्तेऽत्र कर्त्तरि भवन्तीत्यर्थः। *बाधकाभावादिति*-कर्त्तर्येव णिना बाध्यन्ते, न भावकर्म्मणोः।

अर्हे तृच् ॥ 5. 4. 37. ॥

अर्हे कर्तरि वाच्ये धातोस्तृच् प्रत्ययो भवति। भवान् कन्याया वोढा, भवान् खलु च्छेदसूत्रस्य वोढा। सप्तम्या बाधा मा भूदित्यर्हे तृज्विधानम् ॥37॥

न्या०स०—अर्हे तृच्-सप्तम्या बाधा माभूदिति— ``शक्तार्हे'' (5-4-35) इति विहितया, सप्तम्येत्युपलक्षणं कर्तृविहितैः कृत्यैरपि बाधा माभूदिति तृज्विधानम्।

आशिष्याशीः-पञ्चम्यौ ॥ 5. 4. 38. ॥

आशासनमाशीः, आशीर्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् धातोराशीः—पञ्चम्यौ विभक्ती भवतः।

जीयात्, जीयास्ताम्, जीयासुः; जयतात्, जयताम्, जयन्तु। आशिषीति किम्? चिरं जीवति मैत्रः। कश्चित् तु समर्थनायां पञ्चमीमिच्छति, परैरशक्यस्य वस्तुनोऽध्यवसायः समर्थना, कश्चिदाह-समुद्रः शोषयितुमशक्यः, स आह-समुद्रमपि शोषयाणि, पर्वतमप्युत्पाटयानि ॥38॥

न्या०स०—आशिष्याशीः—चिरं जीवतीति-चिर इत्यकारान्तो वा ``कालाध्व'' (2-2-23) इति कर्म्म।

माङ्यद्यतनी ॥ 5. 4. 39. ॥

माङ्युपपदे धातोरद्यतनी भवति । सर्वविभक्त्यपवादः ।

मा कार्षीदधर्मम्, मा हार्षीत् परस्वम् । कथं 'मा भवतु तस्य पापं, मा भविष्यति' इति ? असाधुरेवायम् । केचिदाहुरङितो माशब्दस्यायं प्रयोगः ॥39॥

न्या०स०—माङ्यद्यतनी-केचिदिति-स्वमतेऽप्यङिन्माशब्दप्रयोगोऽस्ति किंतु क्रिया-योगेऽङिन्माशब्दस्य प्रयोगो नेष्यते अतः केचिदाहुरित्युक्तम् ।

सस्मे ह्यस्तनी च ॥ 5. 4. 40. ॥

स्मःशब्दसहिते माङ्युपपदे धातोर्ह्यस्तनी चकारादद्यतनी च भवति ।

मा स्म करोत्, मा स्म कार्षीत्, मा चैत्र ! स्म हरः परदव्यम्, मा चैत्र ! स्म हार्षीः परद्रव्यम् ॥40॥

न्या०स०—सस्मे ह्यस्तनी च-मा स्म करोदिति-माशब्देन निषेध उच्यते, स्मशब्देन च स एव द्योत्यते ।

धातोः संबन्धे प्रत्ययाः ॥ 5. 4. 41. ॥

धातुशब्देन धात्वर्थ उच्यते, धात्वर्थानां संबन्धे-विशेषणविशेष्यभावे सति, अयथा-कालमपि प्रत्ययाः साधवो भवन्ति ।

विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो भविता, कृतः कटः श्वो भविता, भावि कृत्यमासीत् । विश्वदृश्वेति भूतकालः प्रत्ययो भवितेति भविष्यत्कालेन प्रत्ययेनाभिसंबध्यमानः साधुर्भवति । एवं कृतः कटः श्वो भवितेति । भावि कृत्यमासीदित्यत्र तु भावीति भविष्यत्कालः प्रत्यय आसीदिति भूतकालेन प्रत्ययेनाभिसंबध्यमानः साधुर्भवति । विशेषणं गुणत्वाद् विशेष्यकालमनुरुध्यते, तेन विपर्ययो न भवति । तथा त्याद्यन्तमपि यदाऽपरं त्याद्यन्तं प्रति विशेषणत्वेनोपादीयते तदा तस्यापि समुदायवाक्यार्थापेक्षया कालान्यत्वं भवत्येव ।

``साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो, यैः प्लावयिष्यन्ति समन्ततोऽमी ।
तान्येकदेशान्निभृतं पयोधेः, सोऽम्भांसि मेधान् पिबंतो ददर्श ॥ (रघु० 3 सर्गे)

अत्र प्लावयिष्यन्तीति भविष्यदर्थस्य ददर्शेति भूतानुगमः । बहुवचनात् अधात्व-

धिकारविहिता अपि प्रत्ययास्तद्धिता धातुसंबन्धे सति कालभेदे साधवो भवन्ति-गोमानासीत्, गोमान् भविता, अस्तिविवक्षायां हि मतुरुक्तः स कालान्तरे न स्यादिति ॥41॥

न्या०स०–धातोः संबन्धे-धात्वर्थ उच्यते इति-शब्दतः संबन्धाऽभावात् । भाविकृत्यमिति-भविष्यतीति ``भुवो वा'' 922 (उणादि) इत्यौणादिको णिन् । *भावीति भविष्यत्कालः प्रत्यय इति*-नन्वौणादिकानां अनुपात्तकालविशेषाणां त्रिष्वपि कालेषु प्रवृत्तेः कथं भविष्यत्त्वम् ? सत्यं, अस्य गम्यादित्वात् ``वर्त्स्यति गम्यादिः'' (5-3-1) इत्यनेन भविष्यत्त्वम् । *विपर्ययो न भवतीति*-भवितेति भविष्यत्कालः प्रत्ययो विश्वदृश्वेति भूतकालेन संबध्यमानः साधुर्भवतीत्यादिरूपः, विश्वदृश्वेत्यादि हि विशेषणं भवितेति च विशेष्यम् ।

अधात्वधिकारविहिता अपीति-अन्यथा धातुप्रकरणत्वात् धातोरेव परे ये प्रत्ययास्त एव स्युः ।

भृशा-ऽऽभीक्ष्ण्ये हि-स्वौ यथाविधि, त-ध्वमौ च तद्युष्मदि ॥ 5. 4. 42. ॥

गुणक्रियाणामधिश्रयणादीनां क्रियान्तरैरव्यवहितानां साकल्यं फलातिरेको वा भृशत्वम्, प्रधानक्रियाया विक्लेदादेः क्रियान्तरैरव्यवहितायाः पौनःपुन्यमाभीक्ष्ण्यम्, तद्विशिष्टे सर्वकालेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः सर्वविभक्ति-सर्ववचनविषये हि-स्वौ पञ्चमीसंबन्धिनौ भवतः, यथाविधि धातोः संबन्धे-यत एव धातोर्यस्मिन्नेव कारके हि-स्वौ विधीयेते तस्यैव धातोस्तत्कारकविशिष्टस्यैव संबन्धेऽनुप्रयोगरूपे सति, तथा त-ध्वमौ हि-स्वसाहचर्यात् पञ्चम्या एव संबन्धिनौ, तयोः त-ध्वमोः संबन्धी बहुत्वविशिष्टो युष्मत्, तस्मिंस्तद्युस्मदि अभिधेये भवतः, चकाराद्धि-स्वौ च यथाविधि धातोः संबन्धे ।

लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति, अनुप्रयोगात् कालवचनभेदोऽभिव्यज्यते । लुनीहि लुनीहीत्येवेमौ लुनीतः, लुनीहि लुनीहीत्येवेमे लुनन्ति; लुनीहि लुनीहीत्येव त्वं लुनासि, युवां लुनीथः, यूयं लुनीथ; लुनीहि लुनीहीत्येवाहं लुनामि, आवां लुनीवः, वयं लुनीमः; एवं लुनीहि लुनीहीत्येवायमलावीत्, लुनीहि लुनीहित्येवायमलुनात्, लुनीहि लुनीहीत्येवाऽयं लुलाव, लुनीहि लुनीहीत्येवायं लविष्यति, लुनीहि लुनीहीत्येवायं लविता, लुनीहि लुनी- हीत्येवायं लुनीयात्, लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनातु, लुनीहि लुनीहीत्येवायं लूयात् ।

एवमधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमधीते, इमावधीयाते, इमेऽधीयते; अधीष्वाऽधीष्वेत्येव त्वमधीषे,

युवामधीयाथे, यूयमधीध्वे; अधीष्वाऽधीष्वेत्येवाऽहमधीये, आवामधीवहे, वयमधीमहे। तथा-अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमध्यगीष्ट, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमध्यैत, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमधिजगे, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमध्येष्यते, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमध्येता, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमधीयीत, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवाऽयमधीताम्, अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमध्येषीष्ट। एवं सर्वविभक्तिवचनान्तरेष्वपि हि-स्वावुदाहरणीयौ।

एवं भावकर्मणोरपि-शय्यस्व शय्यस्वेत्येव शय्यते अशायि शायिष्यते भवता, लूयस्व लूयस्वेत्येव लूयते अलावि लाविष्यते केदारः।

तध्वमौ च तद्युष्मदि-लुनीत लुनीतेत्येव यूयं लुनीथ, लुनीहि लुनीहीत्येव यूयं लुनीथः अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमधीध्वे, अधीष्वाधीष्वेत्येव यूयमधीध्वे। तथा लुनीत लुनीतेत्येव यूयमलाविष्ट, लुनीहि लुनीहीत्येव यूयमलाविष्ट। अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमध्यैढ्वम्, अधीष्वाऽधीष्वेत्येव यूयमध्यगीढ्वम्। एवं ह्यस्तन्यादिष्वप्युदाहार्यम्।

यथाविधीति किम्? लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति, छिनत्ति लूयते वेति धातोः संबन्धे मा भूत्। अधीष्वाऽधीष्वेत्येवायमधीते, पठति अधीयते वेति धातोः संबन्धे मा भूत्। लुनीत लुनीतेत्येव यूयं लुनीथ, छिन्थेति धातोः संबन्धे मा भूत्। अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमधीध्वे, पठथेति धातोः संबन्धे मा भूत्। लुनीहि लुनीहीत्यादौ च भृशाभीक्ष्ण्ये द्विर्वचनम्।

ननु च भृशाभीक्ष्ण्ययोर्यङपि विधीयते न तु तत्र द्विर्वचनम्, इह तु द्विर्वचनमित्यत्र को हेतुः? उच्यते-यङ् स्वार्थिकत्वात् प्रकृत्यर्थोपाधी भृशाभीक्ष्ण्ये समर्थोऽवद्योतयितुमिति तदभिव्यक्तये द्विर्वचनं नापेक्षते, हि-स्वादयस्तु-कर्तृ-कर्म-भावार्थत्वेनास्वार्थिकत्वादसमर्थाः प्रकृत्यर्थोपाधी भृशाभीक्ष्ण्ये अवद्योतयितुमिति तदवद्योतनाय द्विर्वचनमपेक्षन्ते इति ॥42॥

न्या०स०—भृशाभीक्ष्ण्ये-लुनीहिलुनीहीत्येवायमिति-इति शब्दः संबन्धोपादानार्थोऽन्यथाऽसत्त्वभूतार्थवाचिनोराख्यातयोः परस्परेण संबन्धो नावगम्येत। *न तु तत्र द्विर्वचनमिति*-किंतु भृशाभीक्ष्ण्यनिरपेक्षं ''सन्यङश्च'' (4-1-3) इत्यनेन।

प्रचये नवा सामान्यार्थस्य ॥ 5. 4. 43. ॥

भृशा-ऽऽभीक्ष्ण्ये यथाविधीति च नानुवर्तते। प्रचयः समुच्चयः, स्वतः साधनभेदेन वा भिद्यमानस्य एकत्रानेकस्य धात्वर्थस्याध्यावाप इति यावत्, तस्मिन् गम्यमाने सामान्यार्थस्य धातोः संबन्धे सति धातोः परौ हि-स्वौ, त-ध्वमौ च तद्युष्मदि वा भवतः।

व्रीहीन् वप लुनीहि पुनीहीत्येव यतते चेष्टते समीहते, यत्यते चेष्ट्यते समीह्यते, पक्षे-

व्रीहीन् वपति लुनाति पुनातीत्येव यतते, यत्यते । देवदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि इत्येव भुञ्जते, भुज्यते, पक्षे-देवदत्तोऽत्ति गुरुदत्तोऽत्ति जिनदत्तोऽत्तीत्येव भुञ्जते भुज्यते । ग्राममट वनमट गिरिमटेत्येवाटति घटते, अट्यते घट्यते, पक्षे-ग्राममटति वनमटति गिरिमटतीत्येवाटति घटते अट्यते घट्यते । सक्तून् पिब, धानाः खाद, ओदनं भुङ्क्ष्वेत्येवाभ्यवहरति अभ्यवह्रियते, पक्षे-सक्तून् पिबति, धानाः खादति, ओदनं भुङ्क्ते इत्येवाभ्यवहरति अभ्यवह्रियते ।

सूत्रमधीष्व निर्युक्तिमधीष्व भाष्यमधीष्वेत्येवाधीते पठति अधीयते पठ्यते, पक्षेसूत्रमधीते, निर्युक्तिमधीते, भाष्यमधीते, इत्येवाधीते पठति, अधीयते पठ्यते ।

त-ध्वमौ तद्युष्मदि-व्रीहीन् वपत, लुनीत, पुनीतेत्येव यतध्वे, चेष्टध्वे समीहध्वे; व्रीहीन् वप लुनीहि पुनीहीत्येव यतध्वे चेष्टध्वे, समीहध्वे, पक्षे व्रीहीन् वपथ, लुनीथ, पुनीथेत्येव यतध्वे चेष्टध्वे समीहध्वे । ग्राममटत वनमटत गिरिमटतेत्येवाटथ घटध्वे, ग्राममट वनमट गिरिमटेत्येवाटथ घटध्वे, पक्षे-ग्राममटथ, वनमटथ, गिरिमटथेत्येवाटथ घटध्वे । सूत्रमधीध्वं, निर्युक्तिमधीध्वं, भाष्यमधीध्वमित्येवाधीध्वे पठथ, सूत्रमधीष्व निर्युक्तिमधीष्व भाष्यमधीष्वेत्येवाधीध्वे पठथ, पक्षे-सूत्रमधीध्वे निर्युक्तिमधीध्वे भाष्यमधीध्वे इत्येवाधीध्वे पठथ । एवं-वचनान्तरे त्रिकान्तरे विभक्त्यन्तरेऽप्युदाहार्यम् ।

सामान्यार्थस्येति किम् ? व्रीहीन् वप लुनीहि पुनीहीत्येव वपति, लुनाति, पुनातीति मा भूत्, ग्राममट, वनमट, गिरिमटेत्येव ग्राममटति, वनमटति, गिरिमटतीति च मा भूत्, कारकभेदेनाटतीत्यस्य सामान्यार्थत्वाभावात् ।।43।।

न्या०स०—प्रचये नवा-समान एव सामान्यः स्वार्थे घ्यणन्तो वाचस्पतिना पुंलिङ्गो निर्णिन्ये, सामान्योऽर्थो यस्य, यद्वा समानस्य भावः सामान्यमर्थो यस्य । *यथा-विधीति च नानुवर्त्तत इति*-प्रचय इति भणनात् सामान्यार्थस्येति भणनाच्च । *एवं वचनान्तरे त्रिकान्तरे इति*-एतच्च हिस्वौ प्रत्येव ज्ञातव्यं, न तध्वमौ तयोरेव घटनात् ।

निषेधेऽलं-खल्वोः क्त्वा ।। 5. 4. 44. ।।

निषेधे वर्तमानयोरलं-खलुशब्दयोरुपपदयोर्धातोः क्त्वा प्रत्ययो वा भवति ।

अलं कृत्वा, खलु कृत्वा, न कर्तव्यमित्यर्थः; पक्षे यथाप्राप्तम्-अलं वत्स ! रोदनेन, अलं रुदितेन, अलं रुदितम्, क्त्वान्तयोग एव खलुशब्दो निषेधवाचीति पक्षे खलुशब्दो नोदाहियते । अन्ये तु—'खलु कृतेन, खलु भोजनेन, खलु भोजनम्' इत्यप्युदाहरन्ति ।

निषेध इति किम् ? अलंकारः स्त्रियाः, सिद्धं खलु । अलंखल्वोरिति किम् ? मा कारि भवता ॥44॥

*न्या०स०—निषेधेऽलंखल्वोः—*क्त्वातुमादीनां कृत्संज्ञाया ``निंसनिक्षनिन्द'' (5-2-68) इत्यत्र फलम् । *खलुशब्दो नोदाह्रियत इति-*वाक्यमपि खलु विधायेति धात्वन्तरेण कार्यम् ।

पराऽवरे ॥ 5. 4. 45. ॥

परे अवरे च गम्यमाने धातोः क्त्वा वा भवति ।

अतिक्रम्य नदीं पर्वतः, नद्याः परः पर्वत इत्यर्थः; बाल्यमतिक्रम्य यौवनम् । अवरे-अप्राप्य नदीं पर्वतः, नद्या अर्वाक् पर्वत इत्यर्थः; अप्राप्य यौवनं बाल्यम् । नदी-पर्वतयो-र्बाल्य-योवनयोर्वा परावरत्वमात्रं प्रतीयते, अस्ति प्राप्यत इति वा, न द्वितीया क्रियेति तुल्यकर्तृकक्रियान्तराभावात् ``प्राक्काले'' (5-4-47) इति न सिध्यतीति वचनम् । वाऽधिकाराद् यथाप्राप्तं च-नद्यतिक्रमेण पर्वतः, नद्यप्राप्त्या पर्वतः ॥45॥

*न्या०स०—परावरे-अतिक्रम्य नदीं पर्वत इति-*अतिक्रमेणेति वाक्यं वाक्ये च इत्थं- भूतलक्षणे तृतीया । परावरत्वमात्रमिति-क्रियाद्वये विद्यमानेऽपि परावरत्वमात्रं जिज्ञासितम् ।

निमील्यादि मेङस्तुल्यकर्तृके ॥ 5. 4. 46. ॥

तुल्यो धात्वर्थान्तरेण कर्ता यस्य स तुल्यकर्तृकस्तस्मिन्नर्थे वर्तमानेभ्यो निमील्या-दिभ्यो मेङश्च धातोः संबन्धे सति क्त्वा वा भवति । निमील्यादीनां समानकालार्थो मेङस्तु परकालार्थ आरम्भः । स्वभावात् मेङ् व्यतिहार एव वर्तते ।

अक्षिणी निमील्य हसति, मुखं व्यादाय स्वपिति, पादौ प्रसार्य पतति, दन्तान् प्रकाश्य जल्पति, शिशुरयं मातरं भक्षयित्वोपजातः । मेङ्-अपमाय अपमित्य याचते, अपमातुं प्रतिदातुं याचत इत्यर्थः, पूर्वं ह्यसौ याचते पश्चादपमयत इति । याचेस्तु पूर्वकालेऽपि क्त्वा न भवति मेङः परकालभाविन्या क्त्वया याचिप्राक्कालस्योक्तत्वात् । पक्षेयाचित्वाऽपमयते, अपमातुं याचते । तुल्यकर्तृक इति किम् ? चैत्रस्याक्षिनिमीलने मैत्रो हसति, चैत्रस्यापमाने मैत्रो याचते ॥46॥

*न्या०स०—निमील्यादिमे-मेङ् व्यतिहार एव वर्त्तत इति-*अपरे धातवो व्यतिपूर्वा व्यतिहारे

वर्त्तन्तेऽयं तु स्वभावात् केवलोऽपीति नान्यैरिव व्यतिहारग्रहणमस्य विशेषकं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

अक्षिणी निमील्य हसतीति-निमीलने इति वाक्यं, अन्तर्भूतण्यर्थः सकर्मकः साक्षाण्णिगन्तो वा, अन्यथा तुल्यकर्तृकत्वं न संगच्छेत, एवमुत्तरेऽपि ।

याचेस्तु पूर्वकालेऽपीति-नन्वेवमपि याचेः प्राक्कालवर्तित्वात् उत्तरेण कस्मात् क्त्वा न भवति ? इत्याह-*याचेस्त्वित्यादि*-उत्तरेण हि प्राक्कालद्योतनाय क्त्वाप्रत्ययः क्रियते, याचेस्तु पूर्वकालवर्त्तिता मेङः परकालभाविन्या क्त्वया उक्तेति नैरर्थक्यात्ततः क्त्वा न भवति ।

प्राक्काले ॥ 5. 4. 47. ॥

परकालेन धात्वर्थेन तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्धातोः संबन्धे क्त्वा वा भवति ।

आसित्वा भुङ्क्ते, भुक्त्वा व्रजति, भुक्त्वा पुनर्भुङ्क्ते, स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति; पक्षे-आस्यते भोक्तुमित्यपि भवति । तुल्यकर्तृक इत्येव-भुक्तवति गुरौ शिष्यो व्रजति । प्राक्काल इति किम् ? भुज्यते पीयते चानेन । अथ 'यदनेन भुज्यते ततोऽयं पचति, यदनेनाधीयते ततोऽयं शेते' इत्यत्र कथं क्त्वा न भवति ? उच्यते-यत्र यच्छब्देन सह ततःशब्दः प्रयुज्यते तत्र ततःशब्देनैव प्राक्कालताऽभिधीयत इत्युक्तार्थत्वात् क्त्वा न भवति । 'यदनेन भुक्त्वा गम्यते ततोऽयमधीते' इत्यत्र तु भोजन-गमनयोः क्रमे क्त्वा, गमनाऽध्ययनयोस्तु ततःशब्देन क्रमस्याभिधानात् गमेर्न भवति । ``प्राक्काले'' इत्युत्तरत्र यथासंभवमभिधानतोऽनुवर्तनीयम् ॥47॥

न्या०स०—प्राक्काले-प्राक्पूर्वः कालोऽस्येति प्राक्कालस्तस्मिन् । *आसित्वा भुङ्क्त इति*-आसिक्रियाया वर्त्तमानत्वेऽपि भुजिक्रियाऽपेक्षया प्राक्काल्यं, अत एव क्त्वो विकल्पपक्षे आस्यते भोक्तुमित्यत्र वर्त्तमाना ।

ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये ॥ 5. 4. 48. ॥

आभीक्ष्ण्यविशिष्टे परकालेन तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्धातोः संबन्धे ख्णम्, चकारात् क्त्वा च भवति ।

भोजं भोजं व्रजति, भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजतिः पायं पायं गच्छति, पीत्वा पीत्वा गच्छति अग्रे भोजं भोजं व्रजति, अग्रे भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति । अत्र क्त्वा-ख्णमोर्हिस्वादिवत् प्रकृत्यर्थोपाधिद्योतने सामर्थ्यं नास्तीत्याभीक्ष्ण्याभिव्यक्तये द्विर्वचनं भवति । इह कस्मात् ख्णम् न भवति-यदयं पुनः पुनर्भुक्त्वा व्रजति, अधीते एव ततः परम्, आभीक्ष्ण्यस्य स्वशब्देनैवोक्त-

त्वात् । क्त्वापि तर्हि न प्राप्नोति ? मा भूदाभीक्ष्ण्ये, प्राक्काल्ये भविष्यति । वाऽधिकारेणैव पक्षे क्त्वाप्रत्ययस्य सिद्धौ चकारेण तस्य विधानं वर्तमानादिप्रत्ययान्तरनिषेधार्थम् । ननु कत्वादिभिर्भावे विधीयमानैः कर्तुरनभिहितत्वादोदनं पक्त्वा भुङ्क्ते देवदत्त इत्यादिषु कर्तरि तृतीया प्राप्नोति ? नैवम्-भुजिप्रत्ययेनैव कर्तुरभिहितत्वान्न भवति 'प्रधानशक्त्यभिधाने हि गुणशक्तिरभिहितवत् प्रकाशते' इति । खित्वं 'चौरंकारमाक्रोशति, खादुंकारं भुङ्क्ते इत्युत्तरार्थम् ।।48।।

न्या०स०—ख्णम् चाभीक्ष्ण्ये-यदयं पुनः पुनरिति-ननु भृशाभीक्ष्ण्ये वर्त्तमानस्य धातोर्द्विर्वचनं भवति इह तु कथम् ? सत्यं, क्रियाविशेषणमपि क्रिया । *वर्त्तमानादिप्रत्ययान्तरेति*-तेनाग्रे भुङ्क्ते भुङ्क्ते व्रजितुमित्यादि न भवति ।

पूर्वा-ऽग्रे-प्रथमे ।। 5. 4. 49. ।।

'पूर्व अग्रे प्रथम' इत्येतेषूपपदेषु परकालेन तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्धातोः संबन्धे ख्णम् वा भवति । अनाभीक्ष्ण्यार्थं वचनम् ।

पूर्वं भोजं व्रजति, पूर्वं भुक्त्वा व्रजति । अग्रे भोजं व्रजति, अग्रे भुक्त्वा व्रजति । प्रथम भोजं व्रजति, प्रथमं भुक्त्वा व्रजति । वर्तमानादयोऽपि-पूर्वं भुज्यते ततो व्रजति, अग्रे भुज्यते ततो व्रजति, प्रथमं भुज्यते ततो व्रजति । पूर्वादयश्चात्र व्यापारान्तरापेक्षे प्राक्काल्ये व्रज्यापेक्षे तु क्त्वा ख्णमाविति नोक्तार्थता, ततश्चायमर्थोऽन्यभोक्तृभुजिक्रियाभ्यः स्वक्रियान्तरेभ्यो वा पूर्वं भोजनं कृत्वा व्रजतीत्यर्थः । पूर्वप्रथमसाहचर्यात् अग्रेशब्दः कालवाची ।।49।।

न्या०स०—पूर्वाग्रेप्रथमे-पूर्वश्चाऽग्रेश्च प्रथमश्चेति द्वंद्वात् सप्तमी, उदाहरणेषु, पूर्वाग्रेप्रथमेभ्यः ''कालाध्वनोः'' (2-2-42) इति द्वितीया । *अनाभीक्ष्ण्यार्थं वचनमिति*-एतच्चोपलक्षणं पक्षे वर्त्तमानादिप्राप्त्यर्थं च । *पूर्वं भुज्यते ततो व्रजतीति*-वर्त्तमानायाः प्राक्काल्याभिधानेऽसामर्थ्यात्तत इत्युपादायि । *पूर्वादयश्चेति*-नन्वनेन प्राक्काले क्त्वा प्राक्कालश्च पूर्वादिभिरेवोक्त इति क्त्वा न प्राप्नोति ? इत्याशङ्का-*साहचर्यादिति*-पूर्वं- प्रथमौ तावदऽस्याद्यन्तौ कालवाचकौ अयमपि तादृशौ गृह्यते ।

अन्यथैवं कथमित्थमः कृगोऽनर्थकात् ।। 5. 4. 50. ।।

एभ्यः परात् तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् करोतेरनर्थकात् धातोः संबन्धे ख्णम् वा भवति ।

अन्यथाकारं भुङ्क्ते, एवंकारं भुङ्क्ते, कथंकारं भुङ्क्ते, इत्थंकारं भुङ्क्ते; पक्षे

क्त्वैव-अन्यथा कृत्वा, एवं कृत्वा, कथं कृत्वा, इत्थं कृत्वा भुङ्क्ते । एवमुत्तरत्रापि । आनर्थक्यं करोतेरन्यथादिभ्यः पृथगर्थाभावात् । यावदुक्तं भवति 'अन्यथा भुङ्क्ते' तावदुक्तम् भवति 'अन्यथाकारं भुङ्क्ते' इति । अनर्थकादिति किम् ? अन्यथा कृत्वा शिरो भुङ्क्ते, अत्रान्यथाशब्दः शिरःप्रकारे, करोतेश्च शिरः कर्म, तन्न करोतिना विना गम्यत इति ।।50।।

न्या०स०—अन्यथैवं-पक्षे क्त्वैवेति—''प्राक्काले'' (5-4-47) इत्यनेन *एवमुत्तरत्रापि इति*-यथाऽत्र वाधिकारात् पक्षे क्त्वा तथोत्तरत्रापीत्यर्थः, प्रथममऽन्यथात्वं पश्चाद् भुङ्क्ते इत्यत्रापि प्राक्कालः ।

यथा-तथादीर्ष्योत्तरे ।। 5. 4. 51. ।।

यथा-तथाशब्दाभ्यां परात् तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानादनर्थकात् करोतेर्धातोः संबन्धे सति ख्णम् वा भवति, ईर्ष्योत्तरे-ईर्ष्यश्चेत् पृच्छते उत्तरं ददाति ।

कथं भवान् भोक्ष्यत इति पृष्टोऽसूयया तं प्रत्याह-यथाकारमहं भोक्ष्ये तथाकारमहं भोक्ष्ये किं तवानेन, ? किं ते मया, यथाहं भोक्ष्ये तथाऽहं भोक्ष्ये इत्यर्थः । ईर्ष्योत्तर इति किम् ? यथा कृत्वाऽहं भोक्ष्ये तथा द्रक्ष्यसि । अनर्थकादित्येव ? यथा कृत्वाऽहं शिरो भोक्ष्ये तथा कृत्वाऽहं शिरो भोक्ष्ये किं तवानेन ? ।।51।।

शापे व्याप्यात् ।। 5. 4. 52. ।।

अनर्थकादिति निवृत्तम्, व्याप्यात् कर्मणः परात् तुक्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् करोते-र्धातोः संबन्धे ख्णम् वा भवति, शापे-आक्रोशे गम्यमाने ।

चौरंकारमाक्रोशति, करोतिरिहोच्चारणे, चौरंकृत्वा-चौरशब्दमुच्चार्याक्रोशति, चौरोऽसीत्याक्रोशतीत्यर्थः । एवं दस्युंकारमाक्रोशति, व्याधंकारमाक्रोशति । शाप इति किम् ? चौरं कृत्वा हेतुभिः कथयति ।।52।।

न्या०स०—शापे व्याप्यादिति-अनर्थकादिति निवृत्तमिति-शापेऽसंभवात् व्याप्यादिति भणनाद् वा ।

स्वाद्वर्थाद् अदीर्घात् ।। 5. 4. 53. ।।

स्वादोरर्थे वर्तमानाच्छब्दाददीर्घान्ताद् व्याप्यात् परस्मात् तुल्यकर्तृके वर्तमानात् करोतेर्धातोः संबन्धे ख्णम् भवति वा ।

स्वादुंकारं भुङ्क्ते, संपन्नंकारं भुङ्क्ते, मिष्टंकारं भुङ्क्ते, लवणंकारं भुङ्क्ते; पक्षे-स्वादुंकृत्वा, मिष्टं कृत्वा, लवणं कृत्वा, भुङ्क्ते । अदीर्घादिति किम् ? स्वाद्वीं कृत्वा, स्वादूकृत्य, संपन्नां कृत्वा, यवागूं भुङ्क्ते । 'स्वादुंकारं यवागूं भुङ्क्ते, अस्वादुं स्वादुं कृत्वा-स्वादुंकारं भुङ्क्ते' इत्यत्र तु ङी-च्व्योर्विकल्पितत्वात् न दीर्घ इति भवति । संपन्नंकारं यवागूं भुङ्क्ते' इति तु सामान्येन पदं निष्पाद्य पश्चाद् यवाग्वा संबन्धे भविष्यति ।।53।।

विद्-दृग्भ्यः कात्स्न्र्ये णम् ।। 5. 4. 54. ।।

कात्स्न्र्यविशिष्टाद् व्याप्यात् परेभ्यस्तुल्यकर्तृके प्राक्कालेऽर्थे वर्तमानेभ्यो विदिभ्यो दृशेश्च धातोः संबन्धे णम् वा भवति । विद्यतेरकर्मकत्वात् तद्वर्जास्त्रयो विदयो गृह्यन्ते ।

अतिथिवेदं भोजयति, यं यमतिथिं जानाति लभते विचारयति वा तं तं सर्वं भोजयतीत्यर्थः । कन्यादर्शं वरयति, यां यां कन्यां पश्यति तां तां सर्वां वरयति । बहुवचनात् त्रयाणामपि विदीनां ग्रहणम्, अन्यथा ❈ निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य ❈ इत्युपतिष्ठेत । कात्स्न्र्य इति किम् ? अतिथिं विदित्वा भोजयति, कन्यां दृष्ट्वा वरयति ।।54।।

न्या०स०—विद्दृग्भ्यः-अतिथिवेदमिति-अतिथिं विदित्वा वित्त्वा वा । *वरयतीतिवरण्* ईप्सायाम् । न *सानुबन्धकस्येति*-ततो विद्लृंतीत्यस्य न स्यात् ।

यावतो विन्द-जीवः ।। 5. 4. 55. ।।

कात्स्न्र्यविशिष्टाद् व्याप्यात् यावच्छब्दात् पराभ्यां विन्द-जीविभ्यामेककर्तृकेऽर्थ वर्तमानाभ्यां धातोः संबन्धे णम् वा भवति । विन्देति शनिर्देशाल्लाभार्थस्य ग्रहणम् ।

यावद्वेदं भुङ्क्ते, यावल्लभते तावद भुङ्क्ते, इत्यर्थः । यावज्जीवमधीते, यावज्जीवति तावदधीते इत्यर्थः । जीवेः पूर्वकालासंभवाद् अपूर्वकाल एव विधिः ।।55।।

न्या०स०—यावतो-जीवेः-पूर्वकालासंभवादिति-विशेषणयावत्योगे जीवनादुत्तरकालमध्ययनस्यासंभवात् द्वयोरपि युगपदुपपत्तौ जीवतेरपूर्वकाल एव प्रत्ययः, एतच्चोपलक्षणं विदेरप्यपूर्वकाल एव, तथाहि भोजनक्रियायामारब्धायाम परिसमाप्तायां परिवेषणादिना भोजनार्हलाभस्य समानकालत्वात् यद्यपि भोजनादौ भोजनार्हद्रव्यलाभस्य प्राक्कालत्वमपि

संभवति तथापि न विवक्षितमिति स्पष्टतया नोक्तम्, अत एव पक्षे क्त्वाप्रत्ययो न दर्शितः, तस्य प्राक्काल एव विधानात् ।

चर्मोदरात् पूरेः ॥ 5. 4. 56. ॥

व्याप्याभ्यां चर्मोदरशब्दाभ्यां परादेक-कर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् पूरयतेर्धातोः संबन्धे णम् वा भवति । चर्मपूरमास्ते, चर्मपूरयित्वाऽऽस्ते इत्यर्थः । उदरपूरं शेते, उदरं पूरयित्वा शेते इत्यर्थः ॥56॥

न्या०स०–चर्मोदरात्-पूरयतेर्द्धातोरिति-पूरेरिति णिगि तदभावे च निर्द्देशस्य समानत्वेऽप्यणिगन्तस्याऽकर्मकत्वात् चर्मोदराभ्यां कर्म्मभ्यां संबन्धानुपपत्तेः ``पूरैचि आप्यायने'' इत्यस्य णिगन्तस्यैव ग्रहणं, तस्यैव सकर्म्मकत्वादित्याह-*पूरयतेरित्यादि* ।

चर्मपूरमास्ते इत्यादि-यावत् पूरणं न संपन्नं तावदासनं शयनं च न करोति इति पूरणस्य प्राक्कालता, अतः पर्यायः क्त्वान्तो दर्शितः ।

वृष्टिमान ऊलुक् चास्य वा ॥ 5. 4. 57. ॥

व्याप्यात् परात् पूरयतेर्धातोः संबन्धे णम् वा भवति, अस्य च पूरयतेरूकारस्य लुग् वा भवति, समुदायेन चेद् वृष्टिमानं-वृष्टीयता गम्यते ।

गोष्पदप्रं वृष्टो मेघः, गोष्पदपूरं वृष्टो मेघः, सीताप्रं सीतापूरं वृष्टो मेघः, यावता गोष्पदादिपूरणा भवति तावद् वृष्ट इत्यर्थः । अस्येति ग्रहणादुपपदस्य न भवति-मूषक-बिलपूरं वृष्टो मेघः । गोष्पदप्रमिति प्रातेर्धातोः ``आतो डोऽह्वावामः'' (5-1-76) इति डेन, गोष्पदपुरमित्यणा च क्रियाविशेषणत्वे सिध्यति, एवं सर्वे णमन्ताः प्रयोगाः; तत्र णम्विधानमव्ययत्वेन तरामाद्यर्थमनुस्वारश्रवणार्थं च, तेन 'गोष्पदप्रंतराम्, गोष्पदप्रंतमाम्, गोष्पदप्रंरूपं गोष्पदप्रं-कल्पं देश्यं देशीयम्, गोष्पदपूरं-तरां तमां रूपं कल्पं देश्यं देशीयम्' इत्यादि सिद्धं भवति, अन्यथा हि गोष्पदप्रतरं गोष्पदपूरतरमित्याद्येव स्यात् । 'गोष्पदप्रेण, गोष्पदप्रीभवति, गोष्पदपूरेण, गोष्पदपूरीभवति' इत्यादिप्रयोगास्तु ड-घञादि-प्रत्ययान्ता द्रष्टव्याः ॥57॥

न्या०स०–वृष्टिमाने-मानशब्दः करणसाधनो भावसाधनो वा ततः कर्म्मषष्ठी समासः । *क्रियाविशेषणत्व इति*-स्थिते तु न क्रियाविशेषणत्वं भावसाधनत्वेन सामानाधिकरण्याभावात्,

गोष्पदं प्रातीत्यादौ कर्तृसाधनत्वात् सामानाधिकरण्ये सति क्रियाविशेषणत्वमुपपद्यते ।

एवं सर्वेणमन्ता इति-एतत् सूत्रोपात्ताः सीताप्रमित्यादयः ।

चेलार्थात् क्नोपेः ॥ 5. 4. 58. ॥

चेलार्थात् व्याप्यात् परात् क्नोपयतेस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् वृष्टिमाने गम्यमाने धातोः संबन्धे णम् वा भवति ।

चेलक्नोपं वृष्टो मेघः, वस्त्रक्नोपम्, वसनक्नोपम्; यावता चेलं क्नूयते-आर्द्रीभवति तावद् वृष्ट इत्यर्थः । अर्थग्रहणादत्र स्वरूप-पर्याय-विशेषाणां त्रयाणामपि ग्रहणम्, तेन-'पटिकाक्नोपम्, कम्बलक्नोपम्' इत्यादौ चेलविशेषादपि भवति । अयमप्यप्राक्काले विधिः ॥58॥

गात्र-पुरुषात् स्नः ॥ 5. 4. 59. ॥

गात्र-पुरुषाभ्यां व्याप्याभ्यां परादन्तर्भूतण्यर्थात् स्नातेस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् वृष्टिमाने गम्यमाने धातोः संबन्धे णम् वा भवति ।

गात्रस्नायं वृष्टो मेघः, पुरुषस्नायं वृष्टो मेघः; यावता गात्रं पुरुषश्च स्नाप्यते तावद् वृष्ट इत्यर्थः । इदं केचिदेवेच्छन्ति ॥59॥

न्या०स०—गात्र पुरुष-अन्तर्भूतण्यर्थादिति-एतेन उपपदयोः कर्मत्वमानीतम् ।

शुष्क-चूर्ण-रूक्षात् पिषस्तस्यैव ॥ 5. 4. 60. ॥

शुष्क-चूर्ण-रूक्षेभ्यो व्याप्येभ्यः परात् पिषेर्णम् वा भवति, तस्यैव धातोः संबन्धे सति ।

शुष्कपेषं पिनष्टि, शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः, एवं-चूर्णपेषम्; रूक्षपेषम्; शुष्कपेषं पिष्टः, शुष्कपेषं पेष्टव्यः, शुष्कपेषं पिष्यते, क्तादिभिरुक्तेऽपि व्याप्ये तदुपपदताऽस्त्येव । प्रयोगानुप्रयोगक्रिययोरैक्यात् तुल्यकर्तुकत्वं प्राक्कालत्वं च नास्तीत्यत्र प्रकरणे पक्षे क्त्वा न भवति । घञादय एव तु भवन्ति-शुष्कस्य पेषं पिनष्टि, सामान्यविशेषभावविवक्षया च धातुसंबन्धः । यदाहुः—सामान्यपुषेरवयवपुषिः कर्म भवतीति । कश्चित् तु 'सामान्यविशेषविवक्षयाऽत्रापि क्रियाभेदोऽस्तीति तुल्यकर्तृकत्वं प्राक्कालत्वं च, तेन-क्त्वाऽपि, निमूलं कषित्वा कषति' इत्यादि मन्यते ॥60॥

न्या०स०—शुष्क चूर्ण-शुष्कपेषामित्यादि-क्रियाविशेषणेभ्यः ``अव्ययस्य'' (3-1-21) इत्यमो लुप् । *तदुपपदताऽस्त्येवेति*-शुष्कलक्षणविशेषकर्मोपपदता ।

सामान्यविशेषभावविवक्षयेति-अन्यथा प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते इत्यर्थाभेदात्तस्यैव धातोरनुप्रयोगो न स्यात् ।

सामान्यपुषेरिति-तैः ``स्वस्नेहन'' (5-4-65) इति सूत्रे एतदुक्तमत्र तु प्रकरणात् कथितमिति पुषेरिति संशोध्य पिषेरिति न कर्त्तव्यं, सामान्यपिषेरनुप्रयोगे पिनष्टीत्यत्र ।

कर्म भवतीति-ननु शुष्कपेषमित्यादि क्रियाविशेषणं तत्कथं कर्म्म भवति ? सत्यं, तन्मते क्रियाविशेषणस्यापि कर्म्मता ।

कृग्-ग्रहोऽकृत-जीवात् ॥ 5. 4. 61. ॥

`अकृत जीव' इत्येताभ्यां व्याप्याभ्यां पराभ्यां यथासंख्यं करोति-गृह्णातिभ्यां तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति ।

अकृतकारं करोति, अकृतं करोतीत्यर्थः । जीवग्राहं गृह्णाति, जीवन्तं गृह्णातीत्यर्थः ॥61॥

निमूलात् कषः ॥ 5. 4. 62. ॥

निमूलाद् व्याप्यात् परात् कषस्तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति । निमूलमित्यत्रात्ययेऽव्ययीभावः, निर्गतानि मूलान्यस्येति बहुव्रीहिर्वा ।

निमूलकाषं कषति, निमूलं कषतीत्यर्थः, पक्षे-निमूलस्य काषं कषति ॥62॥

हनश्च समूलात् ॥ 5. 4. 63. ॥

समूलशब्दाद् व्याप्यात् पराद्धन्तेः कषेश्च तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति । समूलमिति साकल्येऽव्ययीभावो बहुव्रीहिर्वा ।

समूलधातं हन्ति, समूलं हन्तीत्यर्थः । समूलकाषं कषति, समूलं कषतीत्यर्थः ॥63॥

करणेभ्यः ॥ 5. 4. 64. ॥

करणात् कारकात् पराद्धन्तेस्तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति । पाणिघातं कुड्यमाहन्ति, पादघातं शिलां हन्ति, पाणिना पादेन वा हन्तीत्यर्थः । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेन-करणपूर्वाद्धिंसार्थादपि हन्तेरनेनैव णम्-अस्युपघातमरीन् हन्ति, शरोपघातं मृगान् हन्ति, तथा च सति नित्यसमासस्तस्यैव धातोरनुप्रयोगश्च सिध्यति ॥64॥

न्या०स०—करणेभ्य:-अनेनैव णमिति-न तु ``हिंसार्थादेकाप्यात्'' (5-4-74) इत्यनेन। नित्यसमास इति-हिंसार्थादित्यनेन तु प्रत्यये ``तृतीयोक्तं वा'' (3-1-50) इति वा स्यात्।

स्व-स्नेहनार्थात् पुष-पिष: ।। 5. 4. 65. ।।

आत्मा आत्मीयं ज्ञातिर्धनं च स्वम्, स्निह्यते-सिच्यते येनोदकादिना तत् स्नेहनम्, स्वार्थात् स्नेहनार्थाच्च करणवाचिन: परात् यथासंख्यं पुष: पिषश्च तस्यैव धातो: संबन्धे सति णम् वा भवति।

स्वपोषं पुष्णाति पुष्यति पोषति वा, एवम्-आत्मपोषं, गोपोषं महिषीपोषं, पितृपोषं, मातृपोषं, धनपोषं, रैपोषम्, स्वादिभि: पुष्णातीत्याद्यर्थ:। स्नेहनार्थात्-उदपेषं पिनष्टि, एवं-घृतपेषं, तैलपेषं, क्षीरपेषम्, उदकादिना पिनष्टीत्यर्थ: ।।65।।

हस्तार्थाद् ग्रह-वर्ति-वृत: ।। 5. 4. 66. ।।

हस्तार्थात् करणवाचिन: शब्दात् परेभ्यो ग्रह-वर्ति-वृद्भ्यस्तस्यैव धातो: संबन्धे सति णम् वा भवति। हस्तग्राहं गृह्णाति, एवं-करग्राहम्, पाणिग्राहम्; हस्तेन गृह्णातीत्यर्थ:। वर्ति-वृत इति वर्ततेर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च ग्रहणम्।

हस्तवर्तं वर्तयति, करवर्तम्, पाणिवर्तम्; हस्तेन वर्तयतीत्यर्थ:। हस्तवर्तं वर्तते, करवर्तम्, पाणिवर्तम्; हस्तेन वर्तत इत्यर्थ:। अण्यन्तान्नेच्छन्त्येके ।।66।।

बन्धेर्नाम्नि ।। 5. 4. 67. ।।

बन्धेरिति प्रकृतिर्नामविशेषणं च। बन्धेर्बन्ध्यर्थस्य बन्धनस्य यन्नाम-संज्ञा तद्विष- यात् करणवाचिन: पराद् बन्धेर्धातोस्तस्यैव धातो: संबन्धे सति णम् वा भवति।

कौश्चबन्धं बद्ध:, मर्कटबन्ध: बद्ध:, मयूरिकाबन्धं बद्ध:, गोबन्धं बद्ध:, महिषीबन्धं बद्ध:, अट्टालिकाबन्धं बद्ध:, चण्डालिकाबन्धं बद्ध:, क्रौश्चादीनि बन्धनामधेयानि, क्रौश्चाद्या-कारो बन्ध: क्रौश्चादिरित्युच्यते, तेन बन्धेन बद्ध इत्यर्थ:। केचित् तु उपपदप्रकृतिप्रत्यय-समुदायस्य क्रौश्चबन्धमित्यादे: संज्ञात्व मन्यन्ते, व्युत्पत्तिं च क्रौश्चेन क्रौश्चाय क्रौश्चाद् वा बन्धनमित्यादि यथाकथंचित् कुर्वन्ति, तन्मतसंग्रहार्थ नाम्नीति प्रत्ययान्तोपाधित्वेन व्याख्येयम् ।।67।।

न्या०स०–बन्धेर्नाम्नि-बन्धिरिति यदा प्रकृतिस्तदा स्वरूपे यदा तु नामविशेषणं तदाऽर्थे इ: प्रत्यय: । प्रत्ययान्तोपाधित्वेनेति-प्रत्ययान्तं चेन्नाम भवतीत्यर्थ: ।

आधारात् ॥ 5. 4. 68. ॥

आधारवाचिन: पराद् बन्धेस्तस्यैव धातो: संबन्धे णम् वा भवति । चक्रबन्धं बद्ध:, चारकबन्धं बद्ध:, कूटबन्धं बद्ध:, गुप्तिबन्धं बद्ध:; चक्रादिषु बद्ध इत्यर्थ: । 'ग्रामे बद्ध:, हस्ते बद्ध:' इति बहुलाधिकारान्न भवति ॥68॥

न्या०स०–आधारात्-बहुलाधिकारान्न भवतीति-ग्रामबन्धं बद्ध इत्यादि न भवतीत्यर्थ: ग्रामे बन्धं बद्ध इति तु घञि भवत्येव । आधारादित्यनेन णमि ङस्युक्तत्वात् समास: स्यात्, णम् च बाहुलकान्नेष्यते ।

कर्तुर्जीव-पुरुषान्नश-वह: ॥ 5. 4. 69. ॥

कर्तृवाचिभ्यां जीव-पुरुषाभ्यां पराभ्यां यथासंख्यं नशि-वहिभ्यां तस्यैव धातो: संबन्धे सति णम् वा भवति ।

जीवनाशं नश्यति, जीवन् नश्यतीत्यर्थ:; पुरुषवाहं वहति, पुरुष: प्रेष्यो भूत्वा वहतीत्यर्थ: । कर्तुरिति किम् ? जीवेन नश्यति, पुरुषं वहति ॥69॥

न्या०स०–कर्तु:-जीवनाशमिति-जीवतीत्यच्, तस्य कर्तुर्नशनम् । *पुरुष: प्रेष्यो भूत्वेति*-पृणाति प्रेषणमित्यत्र पुरुष: क्रियाशब्द: प्रेष्यपर्याय:, अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् ।

जीवेन नश्यतीति-इदमर्थकथनं प्रयोगस्तु अस्मिन्नर्थे जीवनाशं नश्यतीत्यादि न भवति, जीवेन नाशं घञन्तं नश्यतीति भवति नतु जीवनाशम् । *पुरुषं वहतीति*-पुरुषस्य वाहमिति तु भवति, न तु पुरुषवाहमिति ।

ऊर्ध्वात् पू:-शुष: ॥ 5. 4. 70. ॥

कर्तृवाचिन ऊर्ध्वशब्दात् परात् पूर: शुषश्च तस्यैव धातो: संबन्धे सति णम् वा भवति । पूरीत्यनिर्देशात् पूर्दैवादिको, न चौरादिक: । ऊर्ध्वपूरं पूर्यते, ऊर्ध्व: पूर्यत इत्यर्थ: । ऊर्ध्वशोषं शुष्यति, ऊर्ध्व: शुष्यतीत्यर्थ: ॥70॥

व्याप्याच्चेवात् ॥ 5. 4. 71. ॥

व्याप्यात् कर्मणश्चकारात् कर्तुश्चेवात्इवार्थादुपमानार्थात् परात् धातोस्तस्यैव धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति ।

सुवर्णनिधायं निहितः, सुवर्णमिव निहित इत्यर्थः । एवं-रत्ननिधायम्, घृतनिधायम् । शाकक्लेशं क्लिष्टः, ओदनपाचं पक्वः । कर्तुः—काकनाशं नष्टः, काक इव नष्ट इत्यर्थः; एवं-जमालिनाशं नष्टः; अभ्रविलायं विलीनः, अभ्रमिव विलीन इत्यर्थः ॥71॥

*न्या०स०—व्याप्याच्चेवात्-जमालिनाशमिति-*जमतीत्यच्, जमं भोजनकारकं अलति वारयति इत्येवंशीलः तदा ``अजातेः शीले'' (5-1-154) णिन्, अलिरिव वा तत्त्वपुष्पैकदेश चुम्बनात्, जमश्चासावलिश्च तस्येव नशनम् ।

उपात् किरो लवने ॥ 5. 4. 72. ॥

उपपूर्वात् किरतेर्लवनेऽर्थे वर्तमानस्यान्यस्य धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति । लवन इति वचनात् तस्यैवेति निवृत्तम् ।

उपस्कारं मद्रका लुनन्ति, विक्षिपन्तो लुनन्तीत्यर्थः । लवन इति किम् ? उपकीर्य गच्छति ॥72॥

*न्या०स०—उपात्किरो-तस्येवेति निवृत्तमिति-*इत ऊर्ध्वं तस्यैवान्यस्यैवेति कामचारः परं यत्र तस्यैव तत्र क्रियाविशेषणमेव ।

*विक्षिपन्त इति-*पूर्वं विक्षिपन्तः पश्चाल्लुनन्तीत्यर्थः ।

दंशेस्तृतीयया ॥ 5. 4. 73. ॥

तृतीयान्तेन योगे उपपूर्वात् तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद् दंशेरन्यस्य धातोः संबन्धे सति णम् वा भवति ।

मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते, मूलकोपदंशं भुङ्क्ते; आर्द्रकेणोपदंशं भुङ्क्ते, आर्द्रकोपदंशं भुङ्क्ते; पक्षे-मूलकेनोपदश्य भुङ्क्ते, आर्द्रकेणोपदश्य भुङ्क्ते । मूलकाद्युपदंशेः कर्मापि प्रधानस्य भुजेः करणमिति तृतीयैव भवति । प्रधानक्रियोपयुक्ते हि कारके गुणक्रिया न स्वानुरूपां विभक्तिमुत्पादयितुमलमप्रधानत्वादेव, यथेष्यते ग्रामो गन्तुं, पक्त्वा भुज्यते ओदन

इति । यदा त्ववयवक्रियापेक्षया पूर्वकालविवक्षायां क्त्वा क्रियते तदा क्रियाभेदात् संबन्धभेदे द्वितीयाऽपि भवति-मूलकमुपदश्य भुङ्क्ते इति ॥73॥

हिंसार्था देकाप्यात् ॥ 5. 4. 74. ॥

हिंसा प्राण्युपघातस्तदर्थाद् धातोः संबध्यमानेन धातुना सहैकाप्यात्-एककर्मकात् तृतीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् णम् वा भवति ।

दण्डेनोपघातं गाः सादयति, दण्डोपघातं गाः सादयति । खड्गेन प्रहारं खड्गप्रहारं शत्रून् विजयते, दण्डेनाताडं दण्डाताडं गाः कलयति; पक्षे-दण्डेनोपहत्येत्यादि । हिंसार्थादिति किम् ? चन्दनेनानुलिप्य जिनं पूजयन्ति । एकाप्यादिति किम् ? दण्डेनाहत्य चौरं गोपालको गाः खेटयति ॥74॥

न्या०स०—हिंसार्थादे-दण्डेनोपघातमिति दण्डशब्दात् हेतौ करणे वा तृतीया, ननु करणोपपदात् हिंसार्थादपि ``करणेभ्यः'' (5-4-64) इति प्रवर्त्तते, तत्र च तस्यैवेत्युक्तमिति तस्यैवेति व्यावृत्तिः प्राप्नोति ? सत्यं,—``करणेभ्यः'' (5-4-64) इति सूत्रस्य तस्यैवेति व्यावृत्तिर्गत्यर्थस्यापि हन्तेश्चरितार्था इति करणोपपदादपि ।

उपपीड-रुध-कर्षस्तत्सप्तम्या ॥ 5. 4. 75. ॥

तया तृतीयया युक्ता सप्तमी-तत्सप्तमी, तदन्तेन योगे उपपूर्वेभ्यः पीड-रुध-कर्षति-भ्यस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानेभ्यो धातोः संबन्धे णम् वा भवति ।

पार्श्वाभ्यामुपपीडं शेते, पार्श्वोपपीडं शेते; पाश्वयोरुपपीडं शेते, पार्श्वोपपीडं शेते; व्रजेनोपरोधं व्रजोपरोधं गाः सादयति, व्रजे उपरोधं व्रजोपरोधं गाः स्थापयति; पाणिनो-पकर्षं पाण्युपकर्षं धानाः पिनष्टि, पाणावुपकर्षं पाण्युपकर्षं धाना गृह्णाति । कर्ष इति शव्निर्देशाद् भौवादिकस्य *'कर्षन्ति शाखां ग्रामम्'* इति द्विकर्मकस्याकर्षणार्थस्य ग्रहणम्, न तु तौदादिकस्य पञ्चभिर्हलैः कृषतीति विलेखनार्थस्य, तेनभूमावुपकृष्य तिलान् वपति, हलेनोपकृष्य वपतीत्यत्र न भवति । अन्ये त्वनयोरर्थभेदमप्रतिपद्यमानास्तौदादिकादपीच्छन्ति ।

उपेति किम् ? पार्श्वेन निपीड्य तिष्ठति । अन्ये तूपपूर्वादेव पीडेरिच्छन्ति, रुध-कर्षाभ्यां तु कामचारेण, तेन-व्रजरोधं गाः स्थापयति, हस्तरोधं दधद्धनुः, व्रजेन रोधम् हस्तेन रोधम् । उपपूर्वादपि व्रजोपरोधं गाः स्थापयति । अन्योपसर्गपूर्वादपि-व्रजानुरोधं गाः स्थापयति, एवं-पाणिकर्षं धाना गृह्णाति, पाणौ कर्षं, पाणिना कर्षमित्याद्यपि भवति ॥75॥

न्या०स०—उपपीड-पीडश्च रुधश्च कर्षश्च पीडरुधकर्षम्, उपः पूर्वो यस्मात्तदुपपूर्वं उपपीडं च तत् पीडरुधकर्षं चेति कर्म्मधारयः तस्मात्, निर्देशस्य सौत्रत्वात् कर्षशब्दाऽकारलोपः। *रुधकर्षाभ्यां त्विति*-उपपूर्वाभ्यामन्योपसर्गपूर्वाभ्यां निरुपसर्गाभ्यां चेत्यर्थः।

प्रमाण-समासत्त्योः ।। 5. 4. 76. ।।

आयाममानं प्रमाणं, समासत्तिः संरम्भपूर्वकः संनिकर्षः, तयोर्गम्यमानयोस्तृतीयान्तेन सप्तम्यन्तेन च योगे धातोस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः सम्बन्धे, सति णम् वा भवति।

द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षं द्व्यङ्गुलोत्कर्षं गण्डिकाश्छिनत्ति, द्व्यङ्गुले उत्कर्षं द्व्यङ्गुलोत्कर्षं गण्डिकाश्छिनत्ति। समासत्तौ-केशेर्ग्राहं केशग्राहं युध्यन्ते, केशेषु ग्राहं केशग्राहं युध्यन्ते, एवं-हस्तग्राहम्, अस्यपनोदं युध्यन्ते, युद्धसंरम्भादत्यन्तं संनिकृष्य युध्यन्त इत्यर्थः। पक्षे-द्व्यङ्गुलेनोत्कृष्य द्व्यङ्गुले उत्कृष्य गण्डिकाश्छिनत्ति, केशैगृहीत्वा केशेषु गृहीत्वा युध्यन्ते ।।76।।

न्या०स०—प्रमाणसमास-द्व्यङ्गुलेनोत्कर्षमिति-द्वयोरङ्गुल्योः समाहारः ``संख्याव्यय'' (7-3-124) इति ङः, द्वे अङ्गुलीप्रमाणमस्येति तु न कर्त्तव्यं, तस्मिन् हि न प्रमाणप्रतीतिः किंतु प्रमाणवतः द्व्यङ्गुलेन दैर्घ्यं परिछिद्य इक्ष्वादेर्गण्डिकाश्छिनत्ति।

पञ्चम्या त्वरायाम् ।। 5. 4. 77. ।।

त्वरा परीप्सा औत्सुक्यमिति यावत्, तस्यां गम्यमानायां पञ्चम्यन्तेन योगे धातोस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद् धातोः सम्बन्धे सति णम् वा भवति।

शय्याया उत्थायं शय्योत्थायं धावति, एवं नाम त्वरते यदावश्यकादिकमपि नापेक्षते। स्तनरन्ध्रादपकर्षं स्तनरन्ध्रापकर्षं पयः पिबति, एवं नाम त्वरते यत् पात्रे दोहमप्यप्रतीक्ष्य मुख एव पयः पिबतीत्यर्थः। पक्षे शय्याया उत्थाय धावति। त्वरायामिति किम् ? आसनादुत्थाय गच्छति ।।77।।

द्वितीयया ।। 5. 4. 78. ।।

द्वितीयान्तेन योगे धातोस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् त्वरायां गम्यमानायां धातोः सम्बन्धे णम् वा भवति।

लोष्टान् ग्राहं लोष्टग्राहं युध्यन्ते, यष्टीर्ग्राहं यष्टिग्राहं युध्यन्ते, दण्डमुद्यामं दण्डो-द्यामं धावति, एवं नाम योद्धुं त्वरन्ते यदायुद्धग्रहणमपि नाद्रियन्ते यत्किंचिदासन्नं तद्

गृह्णन्ति; पक्षे लोष्टान् यष्टीर्गृहीत्वा युध्यन्ते। त्वरायामित्येव-खड्गं गृहीत्वा युध्यन्ते। योगविभाग उत्तरार्थः ॥78॥

स्वाङ्गेनाऽध्रुवेण ॥ 5. 4. 79. ॥

``अविकारोऽद्रवं मूर्तम्'' इत्यादिलक्षणं स्वाङ्गम्, यस्मिन्नङ्गे छिन्ने भिन्ने वा प्राणी न म्रियते तदध्रुवम्, अध्रुवेण स्वाङ्गेन द्वितीयान्तेन योगे धातोस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् धातोः संबन्धे णम् वा भवति।

भ्रूवौविक्षेपं भ्रूविक्षेपं जल्पति, अक्षिणी निकाणमक्षिनिकाणं हसति, केशान् परिधायं केशपरिधायं नृत्यति, प्रतिमायाः पादावनुलेपं पादानुलेपं प्रणमति। पक्षे-भ्रूवौ विक्षिप्य जल्पतीत्यादि। स्वाङ्गेनेति किम्? कफमुदान्मूल्य जल्पति। अध्रुवेणेति किम्? शिर उत्क्षिप्य कथयति ॥79॥

परिक्लेश्येन ॥ 5. 4. 80. ॥

परि-समन्तात् क्लिश्यमानं-पीड्यमानं-परिकेश्यम्, तेन स्वाङ्गेन द्वितीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्धातोः संबन्धे णम् वा भवति। ध्रुवार्थोऽयमाऽम्भः।

उरांसि प्रतिपेषमुरःप्रतिपेषं युध्यन्ते, शिरांसि च्छेदं शिरश्छेदं युध्यन्ते, उरांसि परितः पीडयन्तः शिरांसि छिन्दन्तो युध्यन्त इत्यर्थः। पक्षे-उरांसि प्रतिपिष्य, शिरांसि छित्वा ॥80॥

विश-पत-पद स्कन्दो वीप्सा-ऽऽभीक्ष्ण्ये ॥ 5. 4. 81. ॥

श्रुतत्वाद् विश्यादिक्रियाभिः साकल्येनोपपदार्थानां व्याप्तुमिच्छा-वीप्सा, प्रकृत्यर्थस्य पौनःपुन्येनासेवनम्-आभीक्ष्ण्यम्, यदाहुः-सुप्सु वीप्सा, तिङ्षु अव्ययकृत्सु चाभीक्ष्ण्यमिति। द्वितीयान्तेन योगे विशादिभिस्तुल्यकर्तृकेऽर्थ वर्तमानेभ्यो वीप्सायामाभीक्ष्ण्ये च गम्यमाने धातोः सम्बन्धे सति णम् वा भवति।

गेहं गेहमनुप्रवेशं गेहानुप्रवेशमास्ते, गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशं गेहानुप्रवेशमास्ते; गेहंगेहमनुप्रपातं गेहानुप्रपातमास्ते, गेहमनुप्रपातमनुप्रपातं गेहानुप्रपातमास्ते; गेहं गेहमनुप्रपादं गेहानुप्रपादमास्ते; गेहमनुप्रपादमनुप्रपादं गेहानुप्रपादमास्ते; गेहं गेहमवस्कन्दं गेहावस्कन्दमास्ते, गेहमवस्कन्दमवस्कन्दं गेहावस्कन्दमास्ते। पक्षे-`गेहं गेहमनुप्रविश्यास्ते, गेह मनुप्रविश्याऽनुप्रविश्यास्ते' इत्यादि। वीप्सायामुपपदस्य, आभीक्ष्ण्ये तु धातोर्द्विर्वचनम्। `गेहानुप्रवेशमास्ते' इत्यादौ तु वीप्साभीक्ष्ण्ये शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् समासेनैवोक्ते, इति द्विर्वचनं न भवति। आभीक्ष्ण्ये णम् सिद्ध एव

विकल्पेनोपपदसमासार्थ वचनम्, तेन हि समासाभावः स्यात् । वीप्साभीक्ष्ण्य इति किम् ? गेहमनुप्रविश्यास्ते ।।81।।

न्या०स०–विशपतपद-गेहानुप्रवेशमिति-वाच्यतया यद्यपि ते वीप्साभीक्ष्ण्ये समासस्य न विहिते, तथाप्यऽसावऽभिधानशक्तिस्वाभाव्यात्ते आचष्ट इति न तत् प्रतिपादनाय तत्र द्विर्वचनं प्रवर्त्तते ।

शब्दशक्तिस्वाभाव्यादिति-स्वभावे पर्यनुयोगो न हि । *णम् सिद्ध एवेति*-``रुणम् चाभीक्ष्ण्ये'' (5-4-88) इति अनेन, न वाच्यं ``खित्यनव्य'' (3-2-111) इति मोन्तप्राप्तिः यतस्तस्मिन्समासाभावे विभक्तेरलुपि प्राप्त्यभावात् । *विकल्पेनेति*–``तृतीयोक्तं वा'' (3-1-50) इत्यनेन ।

कालेन तृष्यस्वः क्रियान्तरे ।। 5. 4. 82. ।।

क्रियामन्तरयतीति-क्रियान्तरः क्रियाव्यवधायकः, तस्मिन्नर्थे वर्तमानाभ्यां तृष्यसूभ्यां धातुभ्यां द्वितीयान्तेन कालवाचिना योगे धातोः सम्बन्धे णम् वा भवति ।

द्व्यहं तर्षं द्व्यहतर्षं गावः पिबन्ति, द्व्यहमत्यासं द्व्यहात्यासं गावः पिबन्ति, तर्षेणात्यासेन च गवां पानक्रिया व्यवधीयते, अद्य पीत्वा द्व्यहमतिक्रम्य पिबन्तीत्यर्थः । अन्तर्मुहूर्तमत्यासमन्तमुहूर्तात्यासं सम्यक् पश्यन्ति, सम्यग् दृष्ट्वाऽन्तर्मुहूर्तं मिथ्यात्वमनुभूय पुनः सम्यग्दृष्टयो भवन्तीत्यर्थः । कालेनेति किम् ? योजनं तर्षित्वा गावः पिबन्ति, योजनमत्यस्य गावः पिबन्ति । तृष्यस्व इति किम् ? द्व्यहमुपोष्य भुङ्क्ते । क्रियान्तरे इति किम् ? अहरत्यस्येषून् गतः, इहात्यासेनाहरिषवश्च व्याप्यन्ते न तु गतिक्रिया व्यवधीयते ।।82।।

न्या०स०–कालेन-द्व्योरह्नोः समाहारः द्वे अहनी समाहृते वा ``द्विगोरनह्नोऽट्'' (7-3-99) ``नोपदस्य'' (7-4-61) इत्यन्तलुक् । *अहरत्यस्येति*-अत्राऽत्यसनेन गतेर्व्यवधानं नास्ति, न हि गत्वा पुनरेकमहरत्यस्य गच्छतीत्येवंविधोऽर्थोऽत्र प्रतिपाद्यते किं तर्ह्यहरिषूनत्यस्य गत इति ।

नाम्ना ग्रहा-ऽऽदिशः ।। 5. 4. 83. ।।

नामशब्देन द्वितीयान्तेन योगे तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानाद् ग्रहेरादिशश्च धातोः संबन्धे णम् वा भवति ।

नामानि ग्राहं नामग्राहमाह्वयति, नाम्नी देवदत्तो ग्राहं नामग्राहं देवदत्त आह्वयति; नामान्यादेशं नामादेशं ददाति । पक्षे-नाम गृहीत्वा दत्ते, नामाऽऽदिश्य दत्ते ।।83।।

न्या०स०—नाम्ना ग्रहा-नाम्नी देवदत्तो ग्राहमिति यस्य येनाभिसंबन्धो दूरस्थस्यापि तेन स इति न्यायाद्देवदत्तपदेन व्यवधानेऽपि भवति ।

कृगोऽव्ययेनाऽनिष्टोक्तौ क्त्वा-णमौ ॥ 5. 4. 84. ॥

अव्ययेन योगे करोतेस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानादनिष्टायामुक्तौ गम्यमानायां धातोः सम्बन्धे षत्वाणमौ भवतः ।

ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः, किं तर्हि वृषल ! नीचैः कृत्वा नीचे कृत्य कथयसि, किं तर्हि नीचैर्वृषल ! कारं वृषल ! नीचैः कारं कथयसि, उच्चैर्नाम प्रियमाख्येयम् । ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी, किं तर्हि वृषल ! उच्चैः कृत्वा, उच्चैःकृत्य, कथयसि, किं तर्हि उच्चैर्वृषल ! कारं वृषलोच्चैःकारं कथयसि, नीचैर्नामाप्रियमाख्येयम् । अनिष्टोक्ताविति किम् ? उच्चैः कृत्वाऽऽचष्टेब्राह्मण ! पुत्रस्ते जात इति, नीचैः कृत्वाऽऽचष्टे-ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी जातेति । अव्ययेनेति किम् ? ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः, किं तर्हि वृषल ! मन्दं कृत्वा कथयसि, ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी जातेति किं तर्हि वृषल ! तारं कृत्वा कथयसि । वाऽधिकारेणैव पक्षे क्त्वायाः सिद्धौ समासार्थं तद्विधानम्, अन्यथा हि णम एव पाक्षिकः समासः स्यात्, न तु क्त्वः । क्त्वा चेत्यकृत्वा णम्विधानमुत्तरत्रोभयानुवृत्त्यर्थम् ॥84॥

तिर्यचाऽपवर्गे ॥ 5. 4. 85. ॥

अपवर्गः- क्रियासमाप्तिः समाप्तिपूर्वको वा विरामः, त्यागो वा । तस्मिन् गम्यमाने 'तिर्यच्' इत्यनेनाव्ययेन योगे करोतेस्तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् धातोः सम्बन्धे क्त्वा णमौ प्रत्ययौ भवतः ।

तिर्यक्कृत्वा तिर्यक्कृत्य तिर्यक्कारमास्ते, समाप्य विरम्य वा उत्सृज्य वाऽऽस्ते इत्यर्थः । अपवर्ग इति किम् ? तिर्यक्कृत्वा काष्टं गतः ॥85॥

न्या०स०—तिर्यचापवर्गे-तिर्यक्कृत्येति-समाप्त्यादिद्योतकात्तिर्यक्शब्दात् प्रथमा वाचकाद् द्वितीया, तिर्यक् समाप्ति कृत्वा; द्योतकपक्षे समुदायेनार्थः कथ्यते तिर्यक्कारलक्षणेन ।

स्वाङ्गतश्च्व्यर्थे नाना-विना धार्थेन भुवश्च ॥ 5. 4. 86. ॥

स्वाङ्गमुक्तलक्षणम्, तस्प्रत्ययान्तेन स्वाङ्गेन च्व्यर्थवृत्तिभिर्नाना-विनाभ्यां धार्थ- प्रत्ययान्तैश्च योगे भुवः कृगश्च तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् धातोः सम्बन्धे क्त्वा-णमौ भवतः । वचनभेदाद्

धातु-प्रत्ययथासंख्यं नास्ति ।

मुखतो भूत्वा मुखतोभूय मुखतोभावमास्ते । मुखतः कृत्वा मुखतः कृत्य मुखतःकारमास्ते । पार्श्वतो भूत्वा पार्श्वतोभूय पार्श्वतोभावं शेते । पार्श्वतः कृत्वा पार्श्वतःकृत्य पार्श्वतःकारं शेते । अनाना नाना भूत्वा गतः—नाना भूत्वा नानाभूय नानाभावं गतः । अनाना नाना कृत्वा गतः-नाना कृत्वा नानाकृत्य नानाकारं गतः । एवं-विना भूत्वा विनाभूय विनाभावं गतः । विना कृत्वा विनाकृत्य विनाकारं गतः । धाऽर्था धा-धमञ् एधा-ध्यमञः । द्विधा भूत्वा द्विधाभूय द्विधाभावमास्ते । द्विधा कृत्वा द्विधाकृत्य द्विधाकारं गतः । द्वैधं भूत्वा द्वैधंभूय द्वैधंभावमास्ते । द्वैधं कृत्वा द्वैधंकृत्य द्वैधंकारं गतः । द्वेधा भूत्वा द्वेधाभूय द्वेधाभावमास्ते । द्वेधा कृत्वा द्वेधाकृत्य द्वेधाकारं गतः । ऐकध्यं भूत्वा ऐकध्यंभूय ऐकध्यंभावमास्ते । ऐकध्यं कृत्वा ऐकध्यंकृत्य ऐकध्यकारं गतः ।

धणस्तु प्रकारविचालवदर्थत्वेनाधार्थत्वाद् अव्ययाधिकाराच्च निरासः । अस्यापि ग्रहणमित्यन्ये । अव्ययाधिकारादेव च-'मुखे तस्यति-मुखतः कृत्वा गत' इत्यत्र न भवति । स्वाङ्गेति किम् ? सर्वतो भूत्वाऽऽस्ते । तसिति किम् ? मुखे भूत्वा गतः । च्व्यर्थेति किम् ? नाना कृत्वा भक्ष्याणि भुङ्क्ते, द्विधा कृत्वा काष्ठानि गतः ।।86।।

न्या०स०—स्वाङ्गतश्च्व्यर्थे-नानाभूत्वेति-च्व्यन्तानां ``गतिक्वन्य'' (3-1-42) इति नित्यं स इत्यत्राख्यन्ता एव । *अधार्थत्वादिति*-धार्थो कि प्रकारो विचालो वाऽयं तु तद्वति ।

अव्ययाधिकाराच्चेति-अव्ययत्वाभावश्चास्य ``अधण्तस्वा'' (1-1-32) इत्यत्र वर्जनात् । *मुखतः कृत्वेति*-सेः ``दीर्घङ्याब्'' (1-4-45) लुक् भ्वादित्वात् ``अभ्वादेः'' (1-4-90) इति न दीर्घः, मुखतः करणं पूर्वं मुखे उपक्षीणो यः स कृत्वा गत इत्यर्थः ।

तूष्णीमा ।। 5. 4. 87. ।।

तूष्णींशब्देन योगे भवतेर्धातोः संबन्धे क्त्वा-णमौ भवतः तूष्णीं भूत्वा तूष्णींभूय तूष्णींभावमास्ते ।।87।।

न्या०स०—तूष्णीमा-तूष्णीं भूत्वेति-तूष्णींशब्दो मौने तद्वति च तेनायमर्थो मौनेन सह भूत्वा मौनवान् वा भूत्वास्त इति ।

आनुलोम्येऽन्वचा ।। 5. 4. 88. ।।

आनुलोम्यमनुकूलता परचित्ताराधनम्, 'अन्वच्' इत्यनेनाव्ययेन योगे भवतेस्तु- ल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानादानुलोम्ये गम्यमाने धातोः संबन्धे क्त्वा-णमौ भवतः ।

अन्वग् भूत्वा अन्वग्भूय अन्वग्भावमास्ते, अनुकूलो भूत्वा तिष्ठतीत्यर्थः । आनुलोम्य इति किम् ? अन्वग् भूत्वा विजयते शत्रुः, पश्चाद् भूत्वेत्यर्थः । तिर्यचाऽन्वचेति शब्दानुकरणात्, तिरश्चाऽनूचेति न भवति ।।88।।

न्या०स०—आनुलोम्येऽन्वचा-अव्ययेनेति अन्वचित्यस्य दिक्शब्दत्वाऽभावाद् धाप्र- त्यायाऽभावेऽपि स्वरादिपाठादऽव्ययत्वम् ।

इच्छार्थे कर्मणः सप्तमी ।। 5. 4. 89 ।।

इच्छार्थे धाता उपपदे तुल्यकर्तृकेऽर्थे वर्तमानात् कर्मभूताद् धातोः सम्बन्धे सप्तमी विभक्तिर्भवति । कर्मत्वं तुल्यकर्तृकत्वं च धातोः श्रुतत्वादुपपदापेक्षे ।

भुञ्जीयेतीच्छति, भुञ्जीयेति वाञ्छति, भुञ्जीयेति कामयते । इच्छार्थ इति किम् ? भोजको व्रजति । कर्मण इति किम् ? इच्छन् करोति, अत्र करोतीच्छत्योर्लक्ष्यलक्षणभावो न तु कर्म-क्रियाभावः । तुल्यकर्तृके इति किम् ? इच्छामि भुङ्क्तां भवान् ।।89।।

न्या०स०—इच्छार्थे कर्म्मणः—उपपदे इति—उप समीपे पदमिति कृत्वा इच्छार्थेऽग्रेऽपि स्थिते भवति ।

भोजको व्रजतीति-अत्र कर्मतापि नास्तीति व्यावृत्तेद्र्व्यङ्गविकलत्वमिति न वाच्यं, यतो व्रजति कोऽर्थो बुद्ध्या प्राप्नोति ? किं तत् कर्मतापन्नं भावि भोजनं यतो भोजक इत्यत्र भविष्यदर्थे णकः, यद्वा गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थो वा ततो व्रजतीति कोऽर्थः ? अध्यवस्यति जानाति इत्येक एवार्थः ।

शक-धृष-ज्ञा-रभ-लभ-सहा-ऽर्ह-ग्ला-घटा-ऽस्ति- समर्थार्थे च तुम् ।। 5. 4. 90. ।।

शक्याद्यर्थेषु धातुषु समर्थार्थेषु नामसु च चकरादिच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु कर्मभूताद् धातोस्तुम् प्रत्ययो भवति ।

शक्नोति पारयति वा भोक्तुम्, धृष्णोत्यध्यवस्यति वा भोक्तुम्, जानाति वेत्ति वा भोक्तुम्, आरभते प्रक्रमते वा भोक्तुम्, लभते विन्दते वा भोक्तुम्, सहते क्षमते वा भोक्तुम्,

अर्हति प्राप्नोति वा भोक्तुम्, ग्लायति म्लायति वा भोक्तुम्, घटते युज्यते वा भोक्तुम्, अस्ति विद्यते वा भोक्तुम्, समर्थोऽलं प्रभवति ईष्टे वा भोक्तुम् । समर्थार्थप्रतीतावपि भवति-द्रष्टुं चक्षुः, योद्धुं धनुः । 'शक्त्या भुज्यते, सामर्थ्येन भुज्यते' इत्यादौ त्वनभिधानान्न भवति ।

इच्छार्थेषु-इच्छति भोक्तुम्, भोक्तुं वाञ्छति, भोक्तुम् वष्टि, भोक्तुमभिलषति, समर्थार्थत्वादेव सिद्धे शकग्रहणमसमर्थार्थम् । कर्मण इति च सामर्थ्याच्छकादिष्वर्हपर्यन्तेषु इच्छार्थेषु चोपपदेषु सत्सु सम्बन्धनीयम् । अन्ये तु शकादिषु घटान्तेषु स्वरूपोपदेष्वेवेच्छन्ति, न तदर्थेषु । अतादर्थ्यार्थमक्रियोपपदार्थं चेदं प्रस्तूयत इति ।।90।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

न्या०स०—शकधृषज्ञा-अत्र तुल्यकर्तृक इति यथासंभवं योज्यम् ।

शक्नोतीति-समीपयतीत्यर्थ इति समर्थार्थद्वारा न सिध्यतीति शक्रिग्रहणम् ।

इत्याचार्यश्री सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञ-शब्दानुशासनबृहद्वृत्तौः पञ्चमाध्यायस्य न्यासतः चतुर्थः पादः समाप्तः ।

आचार्यभगवत्-कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिप्रणीतो धातुपाठः ।

भ्वादयः (1)

1 भू सत्तायाम् ।
2 पां पाने ।
3 घ्रां गन्धोपादाने ।
4 ध्मां शब्दा-ऽग्निसंयोगयोः ।
5 ष्ठां गतिनिवृत्तौ ।
6 म्नां अभ्यासे ।
7 दां दाने ।
8 जिं 9 ज्रिं अभिभवे ।
10 क्षिं क्षये ।
11 इं 12 दुं 13 द्रुं 14 शुं ।
15 स्रुं गतौ ।
16 धुं स्थैर्ये च ।
17 सुं प्रसवैश्वर्ययोः ।
18 स्मृं चिन्तायाम् ।
19 गृं 20 घृं सेचने ।
21 औस्वृ शब्दोपतापयोः ।
22 ह्वृं वरणे ।
23 ध्वृं 24 ह्वृं कौटिल्ये ।
25 सृं गतौ ।
26 ऋं प्रापणे च ।
27 तॄ प्लवन-तरणयोः ।
28 ट्धें पाने ।
29 दैव् शोधने ।
30 ध्यैं चिन्तायाम् ।
31 ग्लैं हर्षक्षये ।
32 म्लैं गात्रविनामे ।
33 द्यैं न्यङ्करणे ।
34 द्रैं स्वप्ने ।
35 ध्रैं तृप्तौ ।
36 वैं 37 गैं 38 रैं शब्दे ।
39 ष्ट्यैं 40 स्त्यैं सङ्घाते च ।
41 खैं खदने ।
42 क्षैं 43 जैं 44 सैं क्षये ।
45 स्रौं 46 श्रैं पाके ।
47 पैं 48 ओवैं शोषणे ।
49 ष्णैं वेष्टने ।
50 फक्क नीचैर्गतौ ।
51 तक हसने ।
52 तकु कृच्छ्रजीवने ।
53 शुक गतौ ।
54 बुक्क भाषणे ।
55 ओखृ 56 राखृ 57 लाखृ ।
58 द्राखृ 59 ध्राखृ शोषणालमर्थयोः ।
60 शाखृ 61 श्लाखृ व्याप्तौ ।
62 कक्ख हसने ।
63 उख 64 नख 65 णख 66 वख ।
67 मख 68 रख 69 लख 70 मखु ।
71 रखु 72 लखु 73 रिखु 74 इख
75 इखु ।
76 ईखु 77 वल्ग 78 रगु 79 लगु ।
80 तगु 81 श्रगु 82 श्लगु 83 अगु ।
84 वगु 85 मगु 86 स्वगु 87 इगु 88 उगु
89 रिगु 90 लिगु गतौ ।
91 त्वगु कम्पने च ।
92 युगु 93 जुगु 94 वुगु वर्जने ।

95 गग्घ हसने ।
96 दघु पालने ।
97 शिघु आघ्राणे ।
98 लघु शोषणे ।[1]
99 शुच शोके ।
100 कुच शब्दे तारे ।
101 क्रुञ्च गतौ ।
102 कुञ्च च कौटिल्याल्पीभावयोः ।
103 लुञ्च अपनयने ।
104 अर्च पूजायाम् ।
105 अञ्चू गतौ च ।
106 वञ्चू 107 चञ्चू 108 तञ्चू 109 त्वञ्चू ।
110 मञ्चू 111 मुञ्चू 112 म्रुञ्चू 113 म्रुचू ।
114 म्लुचू 115 ग्लुञ्चू 116 षस्च गतौ ।
117 ग्रुचू 118 ग्लुचू स्तेये ।
119 म्लेछ अव्यक्तायां वाचि ।
120 लछ 121 लाछु लक्षणे ।
122 वाछु इच्छायाम् ।
123 आछु आयामे ।
124 ह्रीछ लज्जायाम् ।
125 हुर्छा कौटिल्ये ।
126 मुर्छा मोह-समुच्छ्राययोः[2] ।
127 स्फुर्छा 128 स्मुर्छा विस्मृतौ ।
129 युंछ[3] प्रमादे ।
130 धृज 131 धृजु 132 ध्वज 133 ध्वजु ।
134 ध्रज 135 ध्रजु 136 वज 137 व्रज ।
138 षस्ज गतौ ।
139 अज क्षेपणे च ।
140 कुजू 141 खुजू स्तेये ।
142 अर्ज 143 सर्ज अर्जने ।
144 कर्ज व्यथने ।
145 खर्ज मार्जने च ।
146 खज मन्थे ।
147 खजु गतिवैकल्ये ।
148 एजृ कम्पने ।
149 ट्वोस्फूर्जा वज्रनिर्घोषे ।
150 क्षीज 151 कूज 152 गुज ।
153 गुजु अव्यक्ते शब्दे ।
154 लज 155 लजु 156 तर्ज भर्त्सने ।
157 लाज 158 लाजु भर्जने च ।
159 जज 160 जजु युद्धे ।
161 तुज हिंसायाम् ।
162 तुजु बलने च ।
163 गर्ज 164 गुजु 165 गृज 166 गृजु ।
167 मुज 168 मुजु 169 मृज ।
170 मज शब्दे । 171 गज मदने च ।
172 त्यजं हानौ । 173 षञ्जं सङ्गे ।
174 कटे वर्षावरणयोः ।
175 शट रुजाविशरणगत्यवसादनेषु ।
176 वट वेष्टने ।
177 किट 178 खिट उत्त्रासे ।
179 शिट 180 षिट अनादरे ।
181 जट 182 झट संघाते ।
183 पिट शब्दे च ।

1. ``अत्र मधुमण्डने इत्येके पठन्ति'' इति हैमधातुपारायणे ।। 2. समुच्छ्र्रयोः प्रा० खं. 1 ।। 3. युच्छ प्रा० खं 1।।

184 भट भृतौ । 185 तट उच्छ्राये ।
186 खट काङ्क्षे ।
187 णट नृत्तौ ।
188 हट दीप्तौ ।
189 षट अवयवे ।
190 लुट विलोटने ।
191 चिट प्रैष्ये ।
192 विट शब्दे ।
193 हेट विबाधायाम् ।
194 अट 195 पट 196 इट 197 किट ।
198 कट 199 कटु 200 कटै गतौ ।
201 कुटु वैकल्ये ।
202 मुट प्रमर्दने ।
203 चुट 204 चुटु अल्पीभावे ।
205 वटु विभाजने ।
206 रुटु 207 लुटु स्तेये ।
208 स्फट 209 स्फुट्ट विशरणे ।
210 लट बाल्ये ।
211 रट 212 रठ च परिभाषणे ।
213 पठ व्यक्तायां वाचि ।
214 वठ स्थौल्ये ।
215 मठ मद-निवासयोश्च ।
216 कठ कृच्छ्रजीवने ।
217 हठ बलात्कारे ।
218 उठ 219 रुठ 220 लुठ उपघाते ।
221 पिठ हिंसा-संक्लेशयो: ।
222 शठ कैतवे च ।
223 शुठ गतिप्रतीघाते ।

224 कुठु 225 लुठु आलस्ये च ।
226 शुठु शोषणे ।
227 अठ 228 रुठु गतौ ।
229 पुडु प्रमर्दने ।
230 मुडु खण्डने च ।
231 मडु भूषायाम् ।
232 गडु वदनैकदेशे ।
233 शौडृ गर्वे ।
234 यौडृ सम्बन्धे ।
235 मेडृ 236 म्रेडृ 237 म्लेडृ 238 लोडृ ।
239 लौडृ उन्मादे ।
240 रोडृ 241 रौडृ 242 तौडृ अनादरे ।
243 क्रीडृ विहारे ।
244 तुडृ 245 तुड्ड[1] 246 तूडृ तोडने ।
247 हुडृ 248 हूडृ 249 हूडृ ।
250 हौडृ गतौ ।
251 खोडृ प्रतीघाते ।
252 विड आक्रोशे ।
253 अड उद्यमे ।
254 लड विलासे ।
255 कडु मदे ।
256 कड्ड कार्कश्ये ।
257 अड्ड अभियोगे ।
258 चुड्ड हावकरणे ।
259 अण 260 रण 261 वण 262 व्रण ।
263 बण 264 भण 265 भ्रण 266 मण ।
267 धण 268 ध्वण 269 ध्रण 270 कण ।
271 क्वण 272 चण शब्दे ।

1. ``संयुक्तडान्तोऽयमित्येके'' इति हैमधातुपारायणे ॥

273 ओणृ अपनयने ।
274 शोणृ वर्ण-गत्योः ।
275 श्रोणृ 276 श्लोणृ संघाते ।
277 पैणृ गति-प्रेरण-श्लेषणेषु ।
278 चितै संज्ञाने ।
279 अत सातत्यगमने ।
280 च्युतृ आसेचने ।
281 चुतृ 282 स्चुतृ 283 [1]स्च्युतृ क्षरणे ।
284 जुतृ भासने ।
285 अतु बन्धने ।
286 कित निवासे ।
287 ऋत घृणा-गति-स्पर्द्धेषु ।
288 कुथु 289 पुथु 290 लुथु 291 मथु ।
292 मन्थ 293 मान्थ हिंसा-संक्लेशयोः ।
294 खादृ भक्षणे ।
295 बद स्थैर्ये ।
296 खद हिंसायां च ।
297 गद व्यक्तायां वाचि ।
298 रद विलेखने ।
299 णद 300 त्रिक्ष्विदा अव्यक्ते शब्दे ।
301 अर्द गति-याचनयोः ।
302 नर्द 303 णर्द 304 गर्द शब्दे ।
305 तर्द हिंसायाम् ।
306 कर्द कुत्सिते शब्दे ।
307 खर्द दशने ।
308 अदु बन्धने ।
309 इदु परमैश्वर्ये ।
310 विदु अवयवे ।
311 णिदु कुत्सायाम् ।
312 टुनदु समृद्धौ ।
313 चदु दीप्त्याह्लादयोः ।
314 त्रदु चेष्टायाम् ।
315 कदु 316 क्रदु ।
317 क्लदु रोदनाह्वानयोः।
318 क्लिदु परिदेवने ।
319 स्कन्दृं गति-शोषणयोः ।
320 षिधू गत्याम् ।
321 षिधौ शास्त्र-माङ्गल्ययोः ।
322 शुन्ध शुद्धौ ।
323 स्तन 324 धन 325 ध्वन 326 चन ।
327 स्वन 328 वन शब्दे ।
329 वन 330 षन भक्तौ ।
331 कनै दीप्ति-कान्ति-गतिषु ।
332 गुपौ रक्षणे ।
333 तपं 334 धूप संतापे ।
335 रप 336 लप 337 जल्प व्यक्ते वचने ।
338 जप मानसे च ।
339 चप सान्त्वने ।
340 शप समवाये ।
341 सृप्लृं गतौ ।
342 चुप मन्दायाम् ।
343 तुप 344 तुम्प 345 त्रुप 346 त्रुम्प ।
347 तुफ 348 तुम्फ 349 त्रुफ ।
350 त्रुम्फ हिंसायाम् ।
351 वर्फ 352 रफ 353 रफु 354 अर्ब ।

1. श्च्युतृ प्रा० खं2 ॥

355 कर्ब 356 खर्ब 357 गर्ब 358 चर्ब ।
359 तर्ब 360 नर्ब 361 पर्ब 362 वर्ब ।
363 शर्ब 364 षर्ब 365 सर्ब 366 रिबु ।
367 रबु गतौ ।
368 कुबु आच्छादने ।
369 लुबु 370 तुबु अर्दने ।
371 चुबु वक्त्रसंयोगे ।
372 सृभू 373 सृम्भू 374 स्त्रिभू ।
375 षिम्भू 376 भर्भ हिंसायाम् ।
377 शुम्भ भाषणे च ।
378 यभं 379 जभ मैथुने ।
380 चमू 381 छमू 382 जमू 383 झमू ।
384 जिमू अदने ।
385 क्रमू पादविक्षेपे ।
386 यमूं उपरमे ।
387 स्यमू शब्दे ।
388 णमं प्रह्वत्वे ।
389 षम 390 ष्टम वैक्लव्ये ।
391 अम शब्द-भक्त्योः ।
392 अम 393 द्रम 394 हम्म 395 मिमृ ।
396 गम्लृं गतौ ।
397 हय 398 हर्य क्लान्तौ च ।
399 मव्य बन्धने ।
400 सूर्क्ष्य 401 ईर्क्ष्य 402 ईर्ष्य ईर्ष्यार्थाः।
403 शुच्यै 404 चुच्यै अभिषवे ।
405 त्सर छद्मगतौ ।
406 क्मर हूर्छने ।
407 अभ्र 408 बभ्र 409 मभ्र गतौ ।
410 चर भक्षणे च ।
411 धोर्ऋ गतेश्चातुर्ये ।
412 खोर्ऋ प्रतीघाते ।
413 दल 414 त्रिफला विशरणे ।
415 मील 416 श्मील 417 स्मील ।
418 क्ष्मील निमेषणे ।
419 पील प्रतिष्टम्भे ।
420 णील वर्णे ।
421 शील समाधौ ।
422 कील बन्धे ।
423 कूल आवरणे ।
424 शूल रुजायाम् ।
425 तूल निष्कर्षे ।
426 पूल संघाते ।
427 मूल प्रतिष्ठायाम् ।
428 फल निष्पत्तौ ।
429 फुल्ल विकसने ।
430 चुल्ल हावकरणे ।
431 चिल्ल शैथिल्ये च ।
432 पेलृ 433 फेलृ 434 शेलृ 435 षेलृ ।
436 सेलृ 437 वेह्ल 438 सल 439 तिल ।
440 तिल्ल 441 पल्ल 442 वेल्ल गतौ ।
443 वेलृ 444 चेलृ 445 केलृ 446 क्वेलृ ।
447 खेलृ 448 स्खल चलने ।
449 खल संचये च ।
450 श्वल 451 श्वल्ल आशुगतौ ।
452 गल 453 चर्व अदने ।
454 पूर्व 455 पर्व 456 मर्व पूरणे ।
457 मर्व 458 धवु 459 शव गतौ ।
460 कर्व 461 खर्व 462 गर्व दर्पे ।

463 ष्टिवू 464 क्षिवू निरसने ।
465 जीव प्राणधारणे ।
466 पीव 467 मीव 468 तीव ।
469 नीव स्थौल्ये ।
470 उर्वै 471 तुर्वै 472 थुर्वै 473 दुर्वै ।
474 धुर्वै 475 जुर्वै 476 अर्व 477 भर्व ।
478 शर्व हिंसायाम् ।
479 मुर्वै 480 मव बन्धने ।
481 गुर्वै उद्यमे ।
482 पिवु 483 मिवु 484 निवु सेचने ।
485 हिवु 486 दिवु 487 जिवु प्राणने ।
488 इवु व्याप्तौ च ।
489 अव रक्षण-गति-कान्ति-तृप्त्यवगमन-प्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थ-याचनक्रियेच्छा-दीप्त्यवाप्त्या-ऽऽलिङ्गन-हिंसा-दहन-भाव-वृद्धिषु ।
490 कश शब्दे ।
491 मिश 492 मश रोषे च ।
493 शश प्लुतिगतौ ।
494 णिश समाधौ ।
495 दृशृं प्रेक्षणे ।
496 दंशं दशने ।
497 घुषृ शब्दे ।
498 चूष पाने ।
499 तूष तुष्टौ ।
500 पूष वृद्धौ ।
501 लुष 502 मूष स्तेये ।
503 षूष प्रसवे ।
504 ऊष रुजायाम् ।
505 ईष उच्छे ।
506 कृषं विलेखने ।
507 कष 508 शिष 509 जष 510 झष ।
511 वष 512 मष 513 मुष 514 रुष ।
515 रिष 516 यूष 517 जूष 518 शष ।
519 चष हिंसायाम् ।
520 वृषू संघाते च ।
521 भष भर्त्सने ।
522 जिषू 523 विषू 524 मिषू 525 निषू ।
526 पृषू 527 वृषू 528 मृषू सहने च ।
529 उषू 530 श्रिषू 531 श्लिषू 532 प्रुषू ।
533 प्लुषू दाहे ।
534 घृषू संहर्षे ।
535 हृषू अलीके ।
536 पुष पुष्टौ ।
537 भूष 538 तसु अलङ्कारे ।
539 तुस 540 ह्रस 541 ह्लस ।
542 रस शब्दे ।
543 लस श्लेषण-क्रीडनयोः ।
544 घस्लृं अदने ।
545 हसे हसने ।
546 पिसृ 547 पेसृ 548 वेसृ गतौ ।
549 शसू हिंसायाम् ।
550 शंसू स्तुतौ च ।
551 मिहं सेचने ।
552 दहं भस्मीकरणे ।
553 चह कल्कने ।
554 रह त्यागे । 555 रहु गतौ ।
556 दह 557 दहु 558 बृह वृद्धौ ।

559 बृहू 560 बृहु शब्दे च ।
561 उहू 562 तुहू 563 दुहू अर्दने ।
564 अर्ह 565 मह पूजायाम् ।
566 उक्ष सेचने ।
567 रक्ष पालने ।
568 मक्ष 569 मुक्ष सङ्घाते ।
570 अक्षौ व्याप्तौ च ।
571 तक्षौ 572 त्वक्षौ तनूकरणे ।
573 णिक्ष चुम्बने ।
574 तृक्ष 575 स्तृक्ष 576 णक्ष गतौ ।
577 वक्ष रोषे ।
578 त्वक्ष त्वचने ।
579 सूर्क्ष अनादरे ।
580 काक्षु 581 वाक्षु ।
582 माक्षु काङ्क्षायाम् ।
583 द्राक्षु 584 ध्राक्षु ।
585 ध्वाक्षु घोरवाशिते[1] च ।

// परस्मैभाषा: //

586 गांङ् गतौ ।
587 ष्मिंङ् ईषद्धसने ।
588 डीङ् विहायसां गतौ ।
589 उंङ् 590 कुंङ् 591 गुंङ् 592 घुंङ् ।
593 ङुंङ् शब्दे ।
594 च्युंङ् 595 ज्युंङ् 596 जुंङ् ।
597 प्रुंङ् 598 प्लुंङ् गतौ ।
599 रुंङ् रेषणे च ।
600 पूङ् पवने ।
601 मूङ् बन्धने ।
602 धृंङ् अविध्वंसने ।
603 मेंङ् प्रतिदाने ।
604 देंङ् 605 त्रैङ् पालने ।
606 श्यैङ् गतौ ।
607 प्यैंङ् वृद्धौ ।
608 वकुङ् कौटिल्ये ।
609 मकुङ् मण्डने ।
610 अकुङ् लक्षणे ।
611 शीकृङ् सेचने ।
612 लोकृङ् दर्शने ।
613 श्लोकृङ् सङ्घाते ।
614 द्रेकृङ् 615 ध्रेकृङ् शब्दोत्साहे ।
616 रेकृङ् 617 शकुङ् शङ्कायाम् ।
618 ककि लौल्ये ।
619 कुकि 620 वृकि आदाने ।
621 चकि तृप्ति-प्रतीघातयो: ।
622 ककुङ् 623 श्वकुङ् 624 त्रकुङ् ।
625 श्रकुङ् 626 श्लकुङ् 627 ढौकृङ् ।
628 त्रौकृङ् 629 ष्वष्कि 630 वस्कि ।
631 मस्कि 632 तिकि 633 टिकि ।
634 टीकृङ् 635 सेकृङ् 636 स्रेकृङ् ।
637 रघुङ् 638 लघुङ् गतौ ।
639 अघुङ् 640 वघुङ् गत्याक्षेपे ।
641 मघुङ् कैतवे च ।
642 राघृङ् 643 लाघृङ् सामर्थ्ये ।
644 द्राघृङ् आयासे च ।
645 श्लाघृङ् कत्थने ।

1. वासिते खं1 ॥

646 लोचृङ् दर्शने ।
647 षचि सेचने ।
648 शचि व्यक्तायां वाचि ।
649 कचि बन्धने ।
650 क्रचुङ् दीप्तौ च ।
651 श्वचि 652 श्वचुङ् गतौ ।
653 वर्चि दीप्तौ ।
654 मचि 655 मुचुङ् कल्कने ।
656 मचुङ् धारणोच्छ्राय-पूजनेषु च ।
657 पचुङ् व्यक्तीकरणे ।
658 ष्टुचि प्रसादे ।
659 एजृङ् 660 भ्रेजृङ् ।
661 भ्राजि दीप्तौ ।
662 इजुङ् गतौ ।
663 ईजि कुत्सने च ।
664 ऋजि गतिस्थानार्जनोर्जनेषु ।
665 ऋजुङ् 666 भृजैङ् भर्जने ।
667 तिजि क्षमा-निशानयोः ।
668 घट्टि चलने ।
669 स्फुटि विकसने ।
670 चेष्टि चेष्टायाम् ।
671 गोष्टि 672 लोष्टि संघाते ।
673 वेष्टि वेष्टने ।
674 अट्टि हिंसा-ऽतिक्रमयोः ।
675 एठि 676 हेठि विबाधायाम् ।
677 मठुङ् 678 कठुङ् शोके ।
679 मुठुङ् पलायने ।
680 वठुङ् एकचर्यायाम् ।
681 अठुङ् 682 पठुङ् गतौ ।
683 हुडुङ् 684 पिडुङ् सङ्घाते ।
685 शडुङ् रुजायां च ।
686 तडुङ् ताडने ।
687 कडुङ् मदे ।
688 खडुङ् मन्थे ।
689 खुडुङ् गतिवैकल्ये ।
690 कुडुङ् दाहे ।
691 वडुङ् 692 मडुङ् वेष्टने ।
693 भडुङ् परिभाषणे ।
694 मुडुङ् मज्जने ।
695 तुडुङ् तोडने ।
696 भुडुङ् वरणे ।
697 चडुङ् कोपे ।
698 द्राडृङ् 699 ध्राडृङ् विशरणे ।
700 शाडृङ् श्लाघायाम् ।
701 वाडृङ् आप्लाव्ये ।
702 हेडृङ् 703 होडृङ् अनादरे ।
704 हिडुङ् गतौ च ।
705 घिणुङ् 706 घुणुङ् ।
707 घृणुङ् ग्रहणे ।
708 घुणि 709 घूर्णि भ्रमणे ।
710 पणि व्यवहार-स्तुत्योः ।
711 यतैङ् प्रयत्ने ।
712 युतृङ् 713 जुतृङ् भासने ।
714 विथृङ् 715 वेथृङ् याचने ।
716 नाथृङ् उपतापैश्वर्याशीःषु च ।
717 श्रथुङ् शैथिल्ये ।
718 ग्रथुङ् कौटिल्ये ।
719 कत्थि श्लाघायाम् ।

720 श्विदुङ् श्वैत्ये ।
721 वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः ।
722 भदुङ् सुख-कल्याणयोः ।
723 मदुङ् स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-गतिषु ।
724 स्पदुङ् किञ्चिच्चलने ।
725 क्लिदुङ् परिदेवने ।
726 मुदि हर्षे ।
727 ददि दाने ।
728 हदिं पुरीषोत्सर्गे ।
729 ष्वदि 730 स्वर्दि
731 स्वादि आस्वादने ।
732 उर्दि मान-क्रीडयोश्च ।
733 कुर्दि 734 गुर्दि ।
735 गुदि क्रीडायाम् ।
736 षूदि क्षरणे ।
737 ह्रादि शब्दे ।
738 ह्लादैङ् सुखे च ।
739 पर्दि कुत्सिते शब्दे ।
740 स्कुदुङ् आप्रवणे ।
741 एधि वृद्धौ ।
742 स्पर्द्धि सङ्घर्षे ।
743 गाधृङ् प्रतिष्ठा-लिप्सा-ग्रन्थेषु ।
744 बाधृङ् रोटने ।
745 दधि धारणे ।
746 बधि बन्धने ।
747 नाधृङ् नाथृङ्वत् ।
748 पनि स्तुतौ ।
749 मानि पूजायाम् ।
750 तिपृङ् 751 ष्टिपृङ् ।
752 ष्टेपृङ् क्षरणे ।
753 तेपृङ् कम्पने च ।
754 टुवेपृङ् 755 केपृङ् 756 गेपृङ् ।
757 कपुङ् चलने ।
758 ग्लेपृङ् दैन्ये च ।
759 मेपृङ् 760 रेपृङ् 761 लेपृङ् गतौ ।
762 त्रपौषि लज्जायाम् ।
763 गुपि गोपन-कुत्सनयोः ।
764 अबुङ् 765 रबुङ् शब्दे ।
766 लबुङ् अवस्रंसने च ।
767 कबृङ् वर्णे ।
768 क्लीबृङ् अधाष्टर्ये ।
769 क्षीबृङ् मदे ।
770 शीभृङ् 771 वीभृङ् ।
772 शल्भि कत्थने ।
773 वल्भि भोजने ।
774 गल्भि धार्ष्ट्ये ।
775 रेभृङ् 776 अभुङ् 777 रभुङ् ।
778 लभुङ् शब्दे ।
779 ष्टभुङ् 780 स्कभुङ् ।
781 ष्टुभुङ् स्तम्भे ।
782 जभुङ् 783 जभैङ् ।
784 जृभुङ् गात्रविनामे ।
785 रभिं राभस्ये ।
786 डुलभिंष् प्राप्तौ ।
787 भामि क्रोधे ।
788 क्षमौषि सहने ।
789 कमूङ् कान्तौ ।
790 अयि 791 वयि 792 पयि ।

793 मयि 794 नयि 795 चयि ।
796 रयि गतौ । 797 तयि ।
798 णयि रक्षणे च ।
799 दयि दान-गति-हिंसा-दहनेषु च ।
800 ऊयैङ् तन्तुसन्ताने ।
801 पूयैङ् दुर्गन्ध-विशरणयोः ।
802 क्नूयैङ् शब्दोन्दनयोः ।
803 क्ष्मायैङ् विधूनने ।
804 स्फायैङ् 805 ओप्यायैङ् वृद्धौ ।
806 तायृङ् सन्तान-पालनयोः ।
807 वलि 808 वल्लि संवरणे ।
809 शलि चलने च ।
810 मलि 811 मल्लि धारणे ।
812 भलि ।
813 भल्लि परिभाषण-हिंसा-दानेषु ।
814 कलि शब्द-संख्यानयोः ।
815 कल्लि अशब्दे ।
816 तेवृङ् 817 देवृङ् देवने ।
818 षेवृङ् 819 सेवृङ् 820 केवृङ् ।
821 खेवृङ् 822 गेवृङ् 823 ग्लेवृङ् ।
824 पेवृङ् 825 प्लेवृङ् 826 मेवृङ् ।
827 म्लेवृङ् सेवने । 828 रेवृङ् ।
829 पवि गतौ ।
830 काशृङ् दीप्तौ ।
831 क्लेशि बाधने[1] ।
832 भाषि च व्यक्तायां वाचि ।
833 ईष गति-हिंसा-दर्शनेषु ।
834 गेषृङ् अन्विच्छायाम् ।
835 येषृङ् प्रयत्ने ।
836 जेषृङ् 837 णेषृङ् 838 एषृङ् ।
839 हेषृङ् गतौ ।
840 रेषृङ् 841 हेषृङ् अव्यक्ते शब्दे ।
842 पर्षि स्नेहने ।
843 घुषुङ् कान्तीकरणे ।
844 स्रंसूङ् प्रमादे ।
845 कासृङ् शब्दकुत्सायाम् ।
846 भासि 847 टुभ्रासि ।
848 टुभ्लासृङ् दीप्तौ ।
849 रासृङ् 850 णासृङ् शब्दे ।
851 णसि कौटिल्ये ।
852 भ्यसि भये ।
853 आङः शसुङ् इच्छायाम् ।
854 ग्रसूङ् 855 ग्लसूङ् अदने ।
856 घसुङ् करणे ।
857 ईहि चेष्टायाम् ।
858 अहुङ् 859 प्लिहि गतौ ।
860 गर्हि 861 गल्हि कुत्सने ।
862 वर्हि 863 वल्हि प्राधान्ये ।
864 बर्हि ।
865 बल्हि परिभाषण-हिंसाच्छादनेषु ।
866 वेहृङ् 867 जेहृङ् ।
868 वाहृङ् प्रयत्ने ।
869 द्राहृङ् निक्षेपे ।
870 ऊहि तर्के ।
871 गाहौङ् विलोडने ।
872 ग्लहौङ् ग्रहणे ।

1. विवाधने खंसं2 ।।

873 बहुङ् 874 महुङ् वृद्धौ ।
875 दक्षि शैघ्र्ये च ।
876 धुक्षि ।
877 धिक्षि सन्दीपन-क्लेशन-जीवनेषु ।
878 वृक्षि वरणे ।
879 शिक्षि विद्योपादाने ।
880 भिक्षि याच्ञायाम् ।
881 दीक्षि मौण्ड्येज्योपनयन-नियम-व्रतादेशेषु ।
882 ईक्षि दर्शने ।

// आत्मनेभाषाः //

883 श्रिग् सेवायाम् ।
884 णींग् प्रापणे ।
885 हृंग् हरणे ।
886 भृंग् भरणे ।
887 धृंग् धारणे ।
888 डुकृंग् करणे ।
889 हिक्की अव्यक्ते शब्दे ।
890 अश्चूग् गतौ च ।
891 डुयाचृग् याच्ञायाम् ।
892 डुपचींष् पाके ।
893 राजृग् 894 टुभ्राजि दीप्तौ ।
895 भजीं सेवायाम् ।
896 रञ्जीं रागे ।
897 रेटृग् परिभाषण-याचनयोः ।
898 वेणृग् गति-ज्ञान-चिन्ता-निशामन-वादित्रग्रहणेषु ।
899 चतेग् याचने ।
900 प्रोथृग् पर्याप्तौ ।
901 मिथृग् मेधा-हिंसयोः ।
902 मेथृग् सङ्गमे च ।
903 चदेग् याचने ।
904 ऊबुन्दृग् निशामने ।
905 णिदृग् ।
906 णेदृग् कुत्सासन्निकर्षयोः ।
907 मिदृग् 908 मेदृग् मेधा-हिंसयोः ।
909 मेधृग् सङ्गमे च ।
910 शृधूग् 911 मृधूग् उन्दे ।
912 बुधृग् बोधने ।
913 खनूग् अवदारणे ।
914 दानी अवखण्डने ।
915 शानी तेजने ।
916 शपीं आक्रोशे ।
917 चायृग् पूजा-निशामनयोः ।
918 व्ययी गतौ ।
919 अली भूषण-पर्याप्ति-वारणेषु ।
920 धावूग् गति-शुद्ध्योः ।
921 चीवृग् झषीवत् ।
922 दाशृग् दाने ।
923 झषी आदान-संवरणयोः ।
924 भेषृग् भये ।
925 भ्रेषृग् चलने च ।
926 पषी बाधन-स्पर्शनयोः ।
927 लषी कान्तौ ।
928 चषी भक्षणे ।
929 छषी हिंसायाम् ।
930 त्विषीं दीप्तौ ।

931 अषी 932 असी गत्यादानयोश्च ।
933 दासृग् दाने ।
934 माहृग् माने ।
935 गुहौग् संवरणे ।
936 भ्लक्षी भक्षणे ।

।। उभयतोभाषाः ।।

937 द्युति दीप्तौ ।
938 रुचि अभिप्रीत्यां च ।
939 घुटि परिवर्त्तने ।
940 रुटि 941 लुटि 942 लुठि प्रतीघाते ।
943 श्विताङ् वर्णे ।
944 ञिमिदाङ् स्नेहने ।
945 ञिक्ष्विदाङ्
946 ञिष्विदाङ् मोचने च ।
947 शुभि दीप्तौ ।
948 क्षुभि संचलने ।
949 णभि 950 तुभि हिंसायाम् ।
951 स्रम्भूङ् विश्वासे ।
952 भ्रंशूङ् 953 स्रंसूङ् अवस्रंसने ।
954 ध्वंसूङ् गतौ च ।
955 वृतूङ् वर्तने ।
956 स्यन्दौङ् स्रवणे ।
957 वृधूङ् वृद्धौ ।
958 श्रृधूङ् शब्दकुत्सायाम् ।
959 कृपौङ् सामर्थ्ये ।

।। वृत्[1] द्युतादयः ।। आत्मनेपदिनः ।।

960 ज्वल दीप्तौ ।
961 कुच् सम्पर्चन-कौटिल्य-प्रतिष्टम्भ-विलेखनेषु ।
962 पत्लृ 963 पथे गतौ ।
964 क्वथे निष्पाके ।
965 मथे विलोडने ।
966 षद्लृं विशरण-गत्यवसादनेषु ।
967 शद्लृं शातने ।
968 बुध अवगमने ।
969 टुवमू उद्गिरणे ।
970 भ्रमू चलने ।
971 क्षर संचलने ।
972 चल कम्पने ।
973 जल घात्ये ।
974 टल 975 ट्वल वैक्लव्ये ।
976 ष्टल स्थाने ।
977 हल विलेखने ।
978 णल गन्धे ।
979 बल प्राणनधान्यावरोधयोः ।
980 पुल महत्वे ।
981 कुल बन्धु-संस्त्यानयोः ।
982 पल 983 फल 984 शल गतौ ।
985 हुल हिंसा-संवरणयोश्च ।
986 क्रुशं आह्वान-रोदनयोः ।
987 कस गतौ ।
988 रुहं जन्मनि ।

।। परस्मैभाषाः ।।

1. ``वृत् द्युतादिः 23, वृतादि 5 अन्तर्गणसहितो वर्तितः समाप्त इत्यर्थः । वृधेः क्विपि वृत्, वर्धितौ पूर्णावित्येके'' इति हैमप्रकाशे पृ० 573, `कृपः श्वस्तन्याम् ।3।3।46।' इति सूत्रस्य व्याख्यायाम् ।

989 रमिं क्रीडायाम् ।
990 षहि मर्षणे ।

॥ आत्मनेभाषौ ॥

॥ वृत्[1] ज्वलादिः ॥

991 यजीं देवपूजा-सङ्गतिकरण-दानेषु ।
992 वेंग् तन्तुसन्ताने ।
993 व्येंग् संवरणे ।
994 ह्वेंग् स्पर्धा-शब्दयोः ।
995 टुवपीं बीजसन्ताने ।
996 वहीं प्रापणे ।

॥ उभयतोभाषाः ॥

997 ट्वोश्वि गति-वृद्धयोः ।
998 वद व्यक्तायां वाचि ।
999 वसं निवासे ।

॥ परस्मैभाषाः ॥

॥ वृत्[2] यजादिः ॥

1000 घटिष् चेष्टायाम् ।
1001 क्षजुङ् गति-दानयोः ।
1002 व्यथिष् भय-चलनयोः ।
1003 प्रथिष् प्रख्याने ।
1004 म्रदिष् मर्दने ।
1005 स्खदिष् खदने ।
1006 कदुङ् 1007 क्रदुङ् ।
1008 क्लदुङ् वैक्लव्ये ।
1009 क्रपि कृपायाम् ।
1010 ञित्वरिष् सम्भ्रमे ।
1011 प्रसिष् विस्तारे ।
1012 दक्षि हिंसा-गत्योः ।

॥ आत्मनेभाषाः ॥

1013 श्रां पाके ।
1014 मृं आध्याने ।
1015 दॄ भये ।
1016 नॄ नये ।
1017 ष्टक 1018 स्तक प्रतीघाते ।
1019 चक तृप्तौ च ।
1020 अक कुटिलायां गतौ ।
1021 कखे हसने ।
1022 अग अकवत् ।
1023 रगे शङ्कायाम् ।
1024 लगे सङ्गे ।
1025 ह्रगे 1026 ह्लगे 1027 षगे ।
1028 सगे 1029 ष्टगे ।
1030 स्थगे संवरणे ।
1031 वट 1032 भट परिभाषणे ।
1033 णट नतौ । 1034 गड सेचने ।
1035 हेड वेष्टने ।
1036 लड जिह्वोन्मन्थने ।
1037 फण 1038 कण 1039 रण गतौ ।
1040 चण हिंसा-दानयोश्च ।
1041 शण 1042 श्रण दाने ।
1043 स्नथ 1044 क्नथ 1045 क्रथ ।

1. ``वृत् ज्वलादिः, ज्वलादयो वृत्ता समाप्ता इत्यर्थः'' इति हैमधातुपारायणे, पृ० 145 ॥
2. ``वृत् यजादिः । वर्तिताः समापिता यजादय इत्यर्थः'' इति हैमधातुपारायणे पृ० 151 ॥

1046 क्लथ हिंसार्थाः ।
1047 छद ऊर्जने ।
1048 मदै हर्ष-ग्लपनयोः ।
1049 ष्टन 1050 स्तन 1051 ध्वन शब्दे ।
1052 स्वन अवतंसने ।
1053 चन हिंसायाम् ।
1054 ज्वर रोगे ।
1055 चल कम्पने ।
1056 ह्वल 1057 ह्मल चलने ।
1058 ज्वल दीप्तौ च ।

॥ परस्मैभाषाः ॥
इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रानुस्मृता
भ्वादयो निरनुबन्धा धातवः समाप्ताः॥

अथ अदादयः (2)

1 (1059) अदं 2(1060) प्सांक् भक्षणे ।
3 (1061) भांक् दीप्तौ ।
4 (1062) यांक् प्रापणे ।
5 (1063) वांक् गति-गन्धनयोः ।
6 (1064) ष्णांक् शौचे ।
7 (1065) श्रांक् पाके ।
8 (1066) द्रांक् कुत्सितगतौ ।
9 (1067) पांक् रक्षणे ।
10 (1068) लांक् आदाने ।
11 (1069) रांक् दाने ।
12 (1070) दांव्क् लवने ।
13 (1071) ख्यांक् प्रथने ।
14 (1072) प्रांक् पूरणे ।
15 (1073) मांक् माने ।
16 (1074) इंक् स्मरणे ।
17 (1075) इंण्क् गतौ ।
18 (1076) वींक् प्रजन-कान्त्यसन[1]खादने च ।
19 (1077) द्युंक् अभिगमे ।
20 (1078) षुंक् प्रसवैश्वर्ययोः ।
21 (1079) तुंक् वृत्ति-हिंसा-पूरणेषु ।
22 (1080) युक् मिश्रणे ।
23 (1081) णुक् स्तुतौ ।
24 (1082) क्ष्णुक् तेजने ।
25 (1083) स्नुक् प्रस्नवने ।
26 (1084) टुक्षु 27 (1085) रु ।
28 (1086) कुंक् शब्दे ।
29 (1087) रुदृक् अश्रुविमोचने ।
30 (1088) ञिष्वपंक् शये ।
31 (1089) अन, 32 (1090) श्वसक् प्राणने ।
33 (1091) जक्षक् भक्ष-हसनयोः ।
34 (1092) द्ररिद्राक् दुर्गतौ ।
35 (1093) जागृक् निद्राक्षये ।
36 (1094) चकासृक् दीप्तौ ।
37 (1095) शासूक् अनुशिष्टौ ।
38 (1096) वचंक् भाषणे ।
39 (1097) मृजौक् शुद्धौ ।
40 (1098) सस्तुक् स्वप्ने ।
41 (1099) विदक् ज्ञाने ।
42 (1100) हनंक् हिंसा-गत्योः ।
43 (1101) वशक् कान्तौ ।
44 (1102) असक् भुवि ।

1. ``शन'' खं1 ॥

45 (1103) षसक् स्वप्ने यङ्लुप् च ।

॥ परस्मैभाषाः ॥

46 (1104) इङ्क् अध्ययने ।
47 (1105) शीङ्क् स्वप्ने ।
48 (1106) ह्नुंङ्क् अपनयने ।
49 (1107) षूङौक् प्राणिगर्भविमोचने ।
50 (1108) पृचैङ् 51 (1109) पृजुङ् ।
52 (1110) पिजुकि संपर्चने ।
53 (1111) वृजैकि वर्जने ।
54 (1112) णिजुकि शुद्धौ ।
55 (1113) शिजुकि अव्यक्ते शब्दे ।
56 (1114) ईडिक् स्तुतौ ।
57 (1115) ईरिक् गति-कम्पनयोः ।
58 (1116) ईशिक् ऐश्वर्ये ।
59 (1117) वसिक् आच्छादने ।
60 (1118) आङः शासूकि इच्छायाम् ।
61 (1119) आसिक् उपवेशने ।
62 (1120) कसुकि गति-शातनयोः ।
63 (1121) णिसुकि चुम्बने ।
64 (1122) चक्षिक् व्यक्तायां वाचि ।

॥ आत्मनेभाषाः ॥

65 (1123) ऊर्णुग्क् आच्छादने ।
66 (1124) ष्टुंग्क् स्तुतौ ।
67 (1125) ब्रूंग्क् व्यक्तायां वाचि ।
68 (1126) द्विषींक् अप्रीतौ ।
69 (1127) दुहींक् क्षरणे ।
70 (1128) दिहिंक् लेपे ।
71 (1129) लिहींक् आस्वादने ।

॥ उभयतोभाषाः ॥

72 (1130) हुंक् दाना-ऽदनयोः ।
73 (1131) ओहांक् त्यागे ।
74 (1132) ञिभींक् भये ।
75 (1133) ह्रींक् लज्जायाम् ।
76 (1134) पृंक् पालन-पूरणयोः ।
77 (1135) ऋंक् गतौ ।

॥ परस्मैभाषाः ॥

78 (1136) ओहांङ्क् गतौ ।
79 (1137) मांङ्क् मान-शब्दयोः ।

॥ आत्मनेभाषाः ॥

80 (1138) डुदांग्क् दाने ।
81 (1139) डुधांग्क् धारणे च ।
82 (1140) टुडुभृंग्क् पोषणे च ।
83 (1141) णिजृंकी शौचे च ।
84 (1142) विजृंकी पृथग्भावे ।
85 (1143) विष्लृंकी व्याप्तौ ।

॥ उभयतोभाषाः ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रास्मृता अदादयः किंतो धातवः समाप्ताः ॥

अथ दिवादयः (3)

1 (1144) दिवूच् क्रीडा-जयेच्छा-पणि-द्युति-स्तुति-गतिषु ।
2 (1145) जॄष्, 3 (1146) झॄष्च् जरसि ।

4 (1147) शोंच् तक्षणे ।
5 (1148) दों 6 (1149) छोंच् छेदने ।
7 (1150) षोंच् अन्तकर्मणि ।
8 (1151) व्रीडच् लज्जायाम् ।
9 (1152) नृतैच् नर्तने ।
10 (1153) कुथच् पूतिभावे ।
11 (1154) पुथच् हिंसायाम् ।
12 (1155) गुधच् परिवेष्टने ।
13 (1156) राधंच् वृद्धौ ।
14 (1157) व्यधंच् ताडने ।
15 (1158) क्षिपंच् प्रेरणे ।
16 (1159) पुष्पच् विकसने ।
17 (1160) तिम, 18 (1161) तीम ।
19 (1162) ष्टिम, 20 (1163) ष्टीमच् आर्द्रभावे ।
21 (1164) षिवूच् उतौ ।
22 (1165) श्रिवूच् गति-शोषणयोः ।
23 (1166) ष्ठिवू ।
24 (1167) क्षिवूच् निरसने ।
25 (1168) इषच् गतौ ।
26 (1169) ष्णसूच् निरसने ।
27 (1170) क्नसूच् ह्वृति-दीप्त्योः ।
28 (1171) त्रसैच् भये ।
29 (1172) प्युसच् दाहे ।
30 (1173) षह, 31 (1174) षुहच् शक्तौ ।
32 (1175) पुषंच् पुष्टौ ।
33 (1176) उचच् समवाये ।
34 (1177) लुटच् विलोटने ।
35 (1178) ष्विदांच् गात्रप्रक्षरणे ।
36 (1179) क्लिदौच् आर्द्रभावे ।
37 (1180) ञिमिदाच् स्नेहने ।
38 (1181) ञिक्ष्विदाच् मोचने च ।
39 (1182) क्षुधंच् बुभुक्षायाम् ।
40 (1183) शुधंच् शौचे ।
41 (1184) क्रुधंच् कोपे ।
42 (1185) षिधूंच् संराद्धौ ।
43 (1186) ऋधूच् वृद्धौ ।
44 (1187) गृधूच् अभिकाङ्क्षायाम् ।
45 (1188) रधौच् हिंसा-संराद्ध्योः ।
46 (1189) तृपौच् प्रीतौ ।
47 (1190) दृपौच् हर्ष-मोहनयोः ।
48 (1191) कुपच् क्रोधे ।
49 (1192) गुपच् व्याकुलत्वे ।
50 (1193) युप, 51 (1194) रुप ।
52 (1195) लुपच् विमोहने ।
53 (1196) डिपच् क्षेपे ।
54 (1197) ष्टूपच् समुच्छ्राये ।
55 (1198) लुभच् गार्द्ध्ये ।
56 (1199) क्षुभच् संचलने ।
57 (1200) णभ ।
58 (1201) तुभच् हिंसायाम् ।
59 (1202) नशौच् अदर्शने ।
60 (1203) कुशच् श्लेषणे ।
61 (1204) भृशू ।
62 (1205) भ्रंशूच् अधः पतने ।
63 (1206) वृशच् वरणे ।
64 (1207) कृशच् तनुत्वे ।
65 (1208) शुषंच् शोषणे ।

66 (1209) दुषंच् वैकृत्ये ।
67 (1210) श्लिषंच् आलिङ्गने ।
68 (1211) प्लुषूच् दाहे ।
69 (1212) ञितृषच् पिपासायाम् ।
70 (1213) तुषं, 71 (1214) हृषच् तुष्टौ ।
72 (1215) रुषच् रोषे ।
73 (1216) ष्युष्, 74 (1217) प्युस् ।
75 (1218) पुसच् विभागे ।
76 (1219) विसच् प्रेरणे ।
77 (1220) कुसच् श्लेषे ।
78 (1221) असूच् क्षेपणे ।
79 (1222) यसूच् प्रयत्ने ।
80 (1223) जसूच् मोक्षणे ।
81 (1224) तसू, 82 (1225) दसूच् उपक्षये ।
83 (1226) वसूच् स्तम्भे ।
84 (1227) वुसच् स्तम्भे ।
85 (1228) मुसच् खण्डने ।
86 (1229) मसैच् परिणामे ।
87 (1230) शमू, 88 (1231) दमूच् उपशमे ।
89 (1232) तमूच् काङ्क्षायाम् ।
90 (1233) श्रमूच् खेद-तपसोः ।
91 (1234) भ्रमूच् अनवस्थाने ।
92 (1235) क्षमौच् सहने ।
93 (1236) मदैच् हर्षे ।
94 (1237) क्लमूच् ग्लानौ ।
95 (1238) मुहौच् वैचित्त्ये ।
96 (1239) द्रुहौच् जिघांसायाम् ।
97 (1240) ष्णुहौच् उद्गिरणे ।
98 (1241) ष्णिहौच् प्रीतौ ।

// वृत् पुषादिः 67 //

// परस्मैभाषा : //

99 (1242) षूङौच् प्राणिप्रसवे ।
100 (1243) दूङ्च् परितापे ।
101 (1244) दीङ्च् क्षये ।
102 (1245) धींग्च् अनादरे ।
103 (1246) मींङ्च् हिंसायाम् ।
104 (1247) रींङ्च् स्त्रवणे ।
105 (1248) लींङ्च् श्लेषणे ।
106 (1249) डीङ्च् गतौ ।
107 (1250) व्रींङ्च् वरणे ।

// वृत् स्वादिः 9 //

108 (1251) पींङ्च् पाने ।
109 (1252) ईंङ्च् गतौ ।
110 (1253) प्रींङ्च् प्रीतौ ।
111 (1254) युजिंच् समाधौ ।
112 (1255) सृजिंच् विसर्गे ।
113 (1256) वृतूचि वरणे ।
114 (1257) पदिंच् गतौ ।
115 (1258) विदिंच् सत्तायाम् ।
116 (1259) खिदिंच् दैन्ये ।
117 (1260) युधिंच् सम्प्रहारे ।
118 (1261) अनो रुधिंच् कामे ।
119 (1262) बुधिं 120 (1263) मनिंच् ज्ञाने ।
121 (1264) अनिच् प्राणने ।
122 (1265) जनैचि प्रादुर्भावे ।
123 (1266) दीपैचि दीप्तौ ।

124 (1267) तपिंच् ऐश्वर्ये वा ।
125 (1268) पूरैचि आप्यायने ।
126 (1269) घूरैङ् ।
127 (1270) जूरैचि जरायाम् ।
128 (1271) धूरैङ् ।
129 (1272) गुरैचि गतौ ।
130 (1273) शूरैचि स्तम्भे ।
131 (1274) तूरैचि त्वरायाम् ।
घूरादयो हिंसायां च ।
132 (1275) चूरैचि दाहे ।
133 (1276) क्लिशिच् उपतापे ।
134 (1277) लिशिंच् अल्पत्वे ।
135 (1278) काशिच् दीप्तौ ।
136 (1279) वाशिच् शब्दे ।

॥ आत्मनेभाषाः ॥

137 (1280) शकींच् मर्षणे ।
138 (1281) शुचूगैच् पूतिभावे ।
139 (1282) रञींच् रागे ।
140 (1283) शपींच् आक्रोशे ।
141 (1284) मृषीच् तितिक्षायाम् ।
142 (1285) णहींच् बन्धने ।

॥ उभयतोभाषाः ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रानुस्मृता-दिवादयश्चितो धातवः समाप्ताः ॥

अथ स्वादयः (4)

1 (1286) षुंग्ट् अभिषवे ।
2 (1287) षिंग्ट् बन्धने ।
3 (1288) शिंग्ट् निशाने ।
4 (1289) डुमिंग्ट् प्रक्षेपणे ।
5 (1290) चिंग्ट् चयने ।
6 (1291) धूग्ट् कम्पने ।
7 (1292) स्तृंग्ट् आच्छादने ।
8 (1293) कृंग्ट् हिंसायाम् ।
9 (1294) वृग्ट् वरणे ।

॥ उभयतोभाषाः ॥

10 (1295) हिंट् गति-वृद्ध्योः ।
11 (1296) श्रुंट् श्रवणे ।
12 (1297) टुदुंट् उपतापे ।
13 (1298) पृंट् प्रीतौ ।
14 (1299) स्मृंट् पालने च ।
15 (1300) शक्लृंट् शक्तौ ।
16 (1301) तिक, 17 (1302) तिग ।
18 (1303) षघट् हिंसायाम् ।
19 (1304) राधं ।
20 (1305) साधंट् संसिद्धौ ।
21 (1306) ऋधूट् वृद्धौ ।
22 (1307) आप्लृंट् व्याप्तौ ।
23 (1308) तृपट् प्रीणने ।
24 (1309) दम्भूट् दम्भे ।
25 (1310) कृवुट् हिंसा-करणयोः ।
26 (1311) धिवुट् गतौ ।
27 (1312) ञिधृषाट् प्रागल्भ्ये ।

॥ परस्मैभाषाः ॥

28 (1313) ष्टिघिट् आस्कन्दने ।

29 (1314) अशौटि व्याप्तौ ।

॥ आत्मनेभाषा: ॥
इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रानुस्मृता–:
स्वादयष्टितो धातव: समाप्ता: ॥

अथ तुदादय: (5)

1 (1315) तुदींत् व्यथने ।
2 (1316) भ्रस्जींत् पाके ।
3 (1317) क्षिपींत् प्रेरणे ।
4 (1318) दिशींत् अतिसर्जने ।
5 (1319) कृषींत् विलेखने ।
6 (1320) मुच्लृंती मोक्षणे ।
7 (1321) षिचींत् क्षरणे ।
8 (1322) विद्लृंती लाभे ।
9 (1323) लुप्लृंती छेदने ।
10 (1324) लिपींत् उपदेहे ।

॥ विभाषिता: ॥

11 (1325) कृतैत् छेदने ।
12 (1326) खिदंत् परिघाते ।
13 (1327) पिशत् अवयवे ।

॥ वृत् मुचादि: (8) ॥

14 (1328) रिं, 15 (1329) पिंत् गतौ ।
16 (1330) धिंत् धारणे ।
17 (1331) क्षिंत् निवास-गत्यो: ।
18 (1332) षूत् प्रेरणे ।
19 (1333) मृंत् प्राणत्यागे ।
20 (1334) कॄत् विक्षेपे ।
21 (1335) गॄत् निगरणे ।
22 (1336) लिखत् अक्षरविन्यासे ।
23 (1337) जर्च ।
24 (1338) झर्चत् परिभाषणे ।
25 (1339) त्वचत् संवरणे ।
26 (1340) रुचत् स्तुतौ ।
27 (1341) ओव्रस्चौत् छेदने ।
28 (1342) ऋछत् इन्द्रियप्रलयमूर्त्तिभावयो:।
29 (1343) विछत् गतौ ।
30 (1344) उछैत् विवासे ।
31 (1345) मिछत् उत्क्लेशे ।
32 (1346) उछुत् उञ्छे ।
33 (1347) प्रछंत् ज्ञीप्सायाम् ।
34 (1348) उब्जत् आर्जवे ।
35 (1349) सृजंत् विसर्गे ।
36 (1350) रुजोंत् भङ्गे ।
37 (1351) भुजोंत् कौटिल्ये ।
38 (1352) टुमस्जोंत् शुद्धौ ।
39 (1353) जर्ज ।
40 (1354) झर्झत् परिभाषणे ।
41 (1355) उद्झत् उत्सर्गे ।
42 (1356) जुडत् गतौ ।
43 (1357) पृड, 44 (1358)मृडत् सुखने ।
45 (1359) कडत् मदे ।
46 (1360) पृणत् प्रीणने ।
47 (1361) तुणत् कौटिल्ये ।
48 (1362) मृणत् हिंसायाम् ।
49 (1363) द्रुणत् गति-कौटिल्ययोश्च ।
50 (1364) पुणत् शुभे ।

51 (1365) मुणत् प्रतिज्ञाने ।
52 (1366) कुणत् शब्दोपकरणयोः ।
53 (1367) घुण ।
54 (1368) घूर्णत् भ्रमणे ।
55 (1369) चृतैत् हिंसा-ग्रन्थयोः ।
56 (1370) णुदंत् प्रेरणे ।
57 (1371) षद्लृंत् अवसादने ।
58 (1372) विधत् विधाने ।
59 (1373) जुन, 60 (1374) शुनत् गतौ ।
61 (1375) छुंपत् स्पर्शे ।
62 (1376) रिफत् कथन-युद्ध-हिंसादानेषु ।
63 (1377) तृफ, 64 (1378) तृम्फत् तृप्तौ ।
65 (1379) ऋफ ।
66 (1380) ऋम्फत् हिंसायाम् ।
67 (1381) दृफ ।
68 (1382) दृम्फत् उत्क्लेशे ।
69 (1383) गुफ ।
70 (1384) गुम्फत् ग्रन्थने ।
71 (1385) उभ, 72 (1386) उम्भत् पूरणे ।
73 (1387) शुभ ।
74 (1388) शुम्भत् शोभार्थे ।
75 (1389) दृभैत् ग्रन्थे ।
76 (1390) लुभत् विमोहने ।
77 (1391) कुरत् शब्दे ।
78 (1392) क्षुरत् विखनने ।
79 (1393) खुरत् छेदने च ।
80 (1394) घुरत् भीमार्थशब्दयोः ।
81 (1395) पुरत् अग्रगमने ।
82 (1396) मुरत् संवेष्टने ।
83 (1397) सुरत् ऐश्वर्य-दीप्त्योः ।
84 (1398) स्फर ।
85 (1399) स्फलत् स्फुरणे ।
86 (1400) किलत् श्वैत्य-क्रीडनयोः ।
87 (1401) इलत् गति-स्वप्न-क्षेपणेषु ।
88 (1402) हिलत् हावकरणे ।
89 (1403) शिल ।
90 (1404) सिलत् उञ्छे ।
91 (1405) तिलत् स्नेहने ।
92 (1406) चलत् विलसने ।
93 (1407) चिलत् वसने ।
94 (1408) विलत् वरणे ।
95 (1409) बिलत् भेदने ।
96 (1410) णिलत् गहने ।
97 (1411) मिलत् श्लेषणे ।
98 (1412) स्पृशंत् संस्पर्शे ।
99 (1413) रुशं ।
100 (1414) रिशंत् हिंसायाम् ।
101 (1415) विसंत् प्रवेशने ।
102 (1416) मृशंत् आमर्शने ।
103 (1417) लिशं, 104 (1418) ऋषैत् गतौ ।
105 (1419) इषत् इच्छायाम् ।
106 (1420) मिषत् स्पर्द्धायाम् ।
107 (1421) वृहौत् उद्यमे ।
108 (1422) तृहौ, 109 (1423) तृंहौ ।
110 (1424) स्तृहौ ।
111 (1425) स्तृंहौत् हिंसायाम् ।
112 (1426) कुटत् कौटिल्ये ।
113 (1427) गुंत् पुरीषोत्सर्गे ।

114 (1428) ध्रुंत् गति-स्थैर्ययो: ।
115 (1429) णूत् स्तवने ।
116 (1430) धूत् विधूनने ।
117 (1431) कुचत् संकोचने ।
118 (1432) व्यचत् व्याजीकरणे ।
119 (1433) गुजत् शब्दे ।
120 (1434) घुटत् प्रतीघाते ।
121 (1435) चुट, 122 (1436) छुट ।
123 (1437) त्रुटत् छेदने ।
124 (1438) तुटत् कलहकर्मणि ।
125 (1439) मुटत् आक्षेप-प्रमर्दनयो: ।
126 (1440) स्फुटत् विकसने ।
127 (1441) पुट ।
128 (1442) लुठत् संश्लेषणे ।
129 (1443) कृडत् घसने ।
130 (1444) कुडत् बाल्ये च ।
131 (1445) गुडत् रक्षायाम् ।
132 (1446) जुडत् बन्धे ।
133 (1447) तुडत् तोडने ।
134 (1448) लुड 135 (1449) थुड ।
136 (1450) स्थुडत् संवरणे ।
137 (1451) वुडत् उत्सर्गे च ।
138 (1452) व्रुड ।
139 (1453) भ्रुडत् संघाते ।
140 (1454) दुड, 141 (1455) हुड ।
142 (1456) त्रुडत् निमज्जने ।
143 (1457) चुणत् छेदने ।
144 (1458) डिपत् क्षेपे ।
145 (1459) छुरत् छेदने ।
146 (1460) स्फुरत् स्फुरणे ।
147 (1461) स्फुलत् संचये च ।

// परस्मैभाषा: //

148 (1462) कुंङ्, 149 (1463) कूङ्त् शब्दे ।
150 (1464) गुरैति उद्यमे ।

// वृंत्[1] कुटादि: //

151 (1465) पृंङ्त् व्यायामे ।
152 (1466) दृंङ्त् आदरे ।
153 (1467) धृंङ्त् स्थाने ।
154 (1468) ओविजैति भय-चलनयो: ।
155 (1469) ओलजैङ् ।
156 (1470) ओलस्जैति व्रीडे ।
157 (1471) ष्वञ्जिंत् सङ्गे ।
158 (1472) जुषैति प्रीति-सेवनयो: ।

// आत्मनेभाषा: //

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रानुस्मृतास्तुदादयस्तितो धातव: //

अथ रुधादय: (6)

1 (1473) रुधृंपी आवरणे ।
2 (1474) रिचृंपी विरेचने ।
3 (1475) विचृंपी पृथग्भावे ।
4 (1476) युजृंपी योगे ।
5 (1477) भिदृंपी विदारणे ।
6 (1478) छिदृंपी द्वैधीकरणे ।

1. ``डान्तोऽयमित्यन्ये'' इति हैमधातुपारायणे पृ० 273।।

7 (1479) क्षुदृंपी संपेषे ।
8 (1480) ऊछृदृंपी दीप्ति-देवनयोः ।
9 (1481) ऊतृदृंपी हिंसा-ऽनादरयोः ।

॥ उभयतोभाषाः ॥

10 (1482) पृचैप् संपर्के ।
11 (1483) वृचैप् वरणे ।
12 (1484) तञ्चू ।
13 (1485) तञ्चौप् संकोचने ।
14 (1486) भञ्जोंप् आमर्दने ।
15 (1487) भुजंप् पालना-ऽभ्यवहारयोः ।
16 (1488) अञ्जौप् व्यक्ति-म्रक्षणगतिषु ।
17 (1489) ओविजैप् भय-चलनयोः ।
18 (1490) कृतैप् वेष्टने ।
19 (1491) उन्दैप् क्लेदने ।
20 (1492) शिष्लृंप् विशेषणे ।
21 (1493) पिष्लृंप् संचूर्णने ।
22 (1494) हिसु ।
23 (1495) तृहप् हिंसायाम् ।

॥ परस्मैभाषाः ॥

24 (1496) खिदिंप् दैन्ये ।
25 (1497) विदिंप् विचारणे ।
26 (1498) ञिइन्धैपि दीप्तौ ।

॥ आत्मनेभाषाः ॥

रुधादयः पितो धातवः ॥

अथ तनादयः (7)

1 (1499) तनूयी विस्तारे ।
2 (1500) षणूयी दाने ।
3 (1501) क्षणूग् ।
4 (1502) क्षिणूयी हिंसायाम् ।
5 (1503) ऋणूयी गतौ ।
6 (1504) तृणूयी अदने ।
7 (1505) घृणूयी दीप्तौ ।

॥ उभयतोभाषाः ॥

8 (1506) वनूयि याचने ।
9 (1507) मनूयि बोधने ।

॥ आत्मनेभाषाः ॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रानुस्मृतास्तनादयो यितो धातवः ॥

अथ तनादयः (8)

1 (1508) डुक्रींग्श् द्रव्यविनिमये ।
2 (1509) षिंग्श् बन्धने ।
3 (1510) प्रींग्श् तृप्ति-कान्त्योः ।
4 (1511) श्रींग्श् पाके ।
5 (1512) मींग्श् हिंसायाम् ।
6 (1513) युंग्श् बन्धने ।
7 (1514) स्कुंग्श् आप्रवणे ।
8 (1515) क्नूग्श् शब्दे ।
9 (1516) द्रूग्श् हिंसायाम् ।
10 (1517) ग्रहीश् उपादाने ।
11 (1518) पूग्श् पवने ।

1. ``कुटादिः तुदाद्यन्तर्गणः वर्तितः संपूर्ण इत्यर्थः ।'' इति हैमधातुपारायणे पृ० 276॥

12 (1519) लूग्श् छेदने ।
13 (1520) धूग्श् कम्पने ।
14 (1521) स्तृग्श् आच्छादने ।
15 (1522) कृग्श् हिंसायाम् ।
16 (1523) वृग्श् वरणे ।

// उभयतोभाषाः //

17 (1524) ज्यांश् हानौ ।
18 (1525) रींश् गति-रेषणयोः ।
19 (1526) लींश् श्लेषणे ।
20 (1527) ब्लींश् वरणे ।
21 (1528) ल्वींश् गतौ ।
22 (1529) कॄ, 23 (1530) मॄ ।
24 (1531) शॄश् हिंसायाम् ।
25 (1532) पॄश् पालन-पूरणयोः ।
26 (1533) बॄश् भरणे ।
27 (1534) भॄश् भर्जने च ।
28 (1535) दॄश् विदारणे ।
29 (1536) जॄश् वयोहानौ ।
30 (1537) नॄश् नये ।
31 (1538) गॄश् शब्दे ।
32 (1539) ॠश् गतौ ।

// वृत्[1] प्वादिः 22 // // ल्वादिः 21 //

33 (1540) ज्ञांश् अवबोधने ।
34 (1541) क्षिष्श् हिंसायाम् ।
35 (1542) व्रींश् वरणे ।
36 (1543) भ्रींश् भरणे ।
37 (1544) हेठश् भूतप्रादुर्भावे ।
38 (1545) मृडश् सुखने ।
39 (1546) श्रन्थश् मोचन-प्रतिहर्षयोः ।
40 (1547) मन्थश् विलोडने ।
41 (1548) ग्रन्थश् संदर्भे ।
42 (1549) कुन्थश् संक्लेशे ।
43 (1550) मृदश् क्षोदे ।
44 (1551) गुधश् रोषे ।
45 (1552) बन्धंश् बन्धने ।
46 (1553) क्षुभश् संचलने ।
47 (1554) णभ् ।
48 (1555) तुभश् हिंसायाम् ।
49 (1556) खवश् हेठश्वत् ।
50 (1557) क्लिशौश् विबाधने ।
51 (1558) अशश् भोजने ।
52 (1559) इषश् आभीक्ष्ण्ये ।
53 (1560) विषश् विप्रयोगे ।
54 (1561) प्रुष् ।
55 (1562) प्लुषश् स्नेह-सेचन-पूरणेषु ।
56 (1563) मुषश् स्तेये ।
57 (1564) पुषश् पुष्टौ ।
58 (1565) कुषश् निष्कर्षे ।
59 (1566) ध्रसूश् उञ्छे ।

// परस्मैभाषाः //

60 (1567) वृङ्श् सम्भक्तौ ।

// आत्मनेभाषाः //

1. ``प्वादिर्ल्वादिश्च वृत्, वर्तितः संपूर्ण इत्यर्थः ।'' इति हैमधातुपारायणे पृ० 300॥

॥ इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रानुस्मृताः क्र्यादयः शितो धातवः ॥

अथ चुरादयः (9)

1 (1568) चुरण् स्तेये ।
2 (1569) पृण् पूरणे ।
3 (1570) घृण् स्रवणे ।
4 (1571) श्वल्क ।
5 (1572) वल्कण् भाषणे ।
6 (1573) नक्क ।
7 (1574) धक्कण् नाशने ।
8 (1575) चक्क ।
9 (1576) चुक्कण् व्यथने ।
10 (1577) टकुण् बन्धने ।
11 (1578) अर्कण् स्तवने ।
12 (1579) पिच्चण् कुट्टने ।
13 (1580) पचुण् विस्तारे ।
14 (1581) म्लेच्छण् म्लेच्छने ।
15 (1582) ऊर्जण् बल-प्राणनयोः ।
16 (1583) तुज ।
17 (1584) पिजुण् हिंसा-बल-दान-निकेतनेषु।
18 (1585) क्षजुण् कृच्छ्रजीवने ।
19 (1586) पूजण् पूजायाम् ।
20 (1587) गज ।
21 (1588) मार्जण् शब्दे ।
22 (1589) तिजण् निशाने ।
23 (1590) वज ।
24 (1591) व्रजण् मार्गणसंस्कार-गत्योः ।
25 (1592) रुजण् हिंसायाम् ।
26 (1593) नटण् अवस्यन्दने ।
27 (1594) तुट ।
28 (1595) चुट ।
29 (1596) चुटु ।
30 (1597) छुटण् छेदने ।
31 (1598) कुट्टण् कुत्सने च ।
32 (1599) पुट्ट ।
33 (1600) चुट्ट ।
34 (1601) षुट्टण् अल्पीभावे ।
35 (1602) पुट ।
36 (1603) मुटण् संचूर्णने ।
37 (1604) अट्ट ।
38 (1605) स्मिटण् अनादरे ।
39 (1606) लुण्टण् स्तेये च ।
40 (1607) स्निटण् स्नेहने ।
41 (1608) घट्टण् चलने ।
42 (1609) खट्टण् संवरणे ।
43 (1610) षट्ट ।
44 (1611) स्फिट्टण् हिंसायाम् ।
45 (1612) स्फुटण् परिहासे ।
46 (1613) कीटण् वर्णने ।
47 (1614) वटुण् विभाजने ।
48 (1615) रुटण् रोषे ।
49 (1616) शठ, 50 (1617) श्वठ ।
51 (1618) श्वठुण् संस्कार-गत्योः ।
52 (1619) शुठण् आलस्ये ।
53 (1620) शुठुण् शोषणे ।
54 (1621) गुडुण् वेष्टन् ।
55 (1622) लडण् उपसेवायाम् ।

56 (1623) स्फुडुण् परिहासे ।
57 (1624) ओलडुण् उत्क्षेपे ।
58 (1625) पीडण् गहने ।
59 (1626) तडण् आघाते ।
60 (1627) खड, 61 (1628) खडुण् भेदे ।
62 (1629) कडुण् खण्डने च ।
63 (1630) कुडुण् रक्षणे ।
64 (1631) गुडुण् वेष्टने च ।
65 (1632) चुडुण् छेदने ।
66 (1633) मडुण् भूषायाम् ।
67 (1634) भडुण् कल्याणे ।
68 (1635) पिडुण् संघाते ।
69 (1636) ईडण् स्तुतौ ।
70 (1637) चडुण् कोपे ।
71 (1638) जुड 72 (1639) चूर्ण ।
73 (1640) वर्णण् प्रेरणे ।
74 (1641) चूण ।
75 (1642) तूणण् संकोचने ।
76 (1643) श्रणण् दाने ।
77 (1644) पूणण् संघाते ।
78 (1645) चितुण् स्मृत्याम् ।
79 (1646) पुस्त ।
80 (1647) बुस्तण् आदरा-ऽनादरयोः ।
81 (1648) मुस्तण् संघाते ।
82 (1649) कृतण् संशब्दने ।
83 (1650) स्वर्त, 84 (1651) पथुण् गतौ ।
85 (1652) श्रथण् प्रतिहर्षे ।
86 (1653) पृथण् प्रक्षेपणे ।
87 (1654) प्रथण् प्रख्याने ।
88 (1655) छदण् संवरणे ।
89 (1656) चुदण् संचोदने ।
90 (1657) मिदुण् स्नेहने ।
91 (1658) गुर्दण् निकेतने ।
92 (1659) छर्दण् वमने ।
93 (1660) बुधुण् हिंसायाम् ।
94 (1661) वर्धण् छेदन-पूरणयोः ।
95 (1662) गर्धण् अभिकाङ्क्षायाम् ।
96 (1663) बन्ध ।
97 (1664) बधण् संयमने ।
98 (1665) छपुण् गतौ ।
99 (1666) क्षपुण् क्षान्तौ ।
100 (1667) ष्टूपण् समुच्छ्राये ।
101 (1668) डिपण् क्षेपे ।
102 (1669) ह्लपण् व्यक्तायां वाचि ।
103 (1670) डपु ।
104 (1671) डिपुण् संघाते ।
105 (1672) शूर्पण् माने ।
106 (1673) शुल्बण् सर्जने च ।
107 (1674) डबु ।
108 (1675) डिबुण् क्षेपे ।
109 (1676) सम्बण् सम्बन्धे ।
110 (1677) कुबुण् आच्छादने ।
111 (1678) लुबु ।
112 (1679) तुबुण् अर्दने ।
113 (1680) पुर्बण् निकेतने ।
114 (1681) यमण् परिवेषणे ।
115 (1682) व्ययण् क्षये ।

116 (1683) यन्त्रुण् संकोचने[1] ।
117 (1684) कुद्रुण् अनृतभाषणे ।
118 (1685) श्वभ्रण् गतौ ।
119 (1686) तिलण् स्नेहने ।
120 (1687) जलण् अपवारणे ।
121 (1688) क्षलण् शौचे ।
122 (1689) पुलण् समुच्छ्राये ।
123 (1690) बिलण् भेदे ।
124 (1691) तलण् प्रतिष्ठायाम् ।
125 (1692) तुलण् उन्माने ।
126 (1693) दुलण् उत्क्षेपे ।
127 (1694) बुलण् निमज्जने ।
128 (1695) मूलण् रोहणे ।
129 (1696) कल, 130 (1697) किल ।
131 (1698) पिलण् क्षेपे ।
132 (1699) पलण् रक्षणे ।
133 (1700) इलण् प्रेरणे ।
134 (1701) चलण् भृतौ ।
135 (1702) सान्त्वण् सामप्रयोगे ।
136 (1703) धूशण् कान्तीकरणे ।
137 (1704) श्लिषण् श्लेषणे ।
138 (1705) लूषण् हिंसायाम् ।
139 (1706) रुषण् रोषे ।
140 (1707) प्युषण् उत्सर्गे ।
141 (1708) पसुण् नाशने ।
142 (1709) जसुण् रक्षणे ।
143 (1710) पुंसण् अभिमर्दने ।
144 (1711) ब्रूस, 145 (1712) पिस ।
146 (1713) जस ।
147 (1714) बर्हण् हिंसायाम् ।
148 (1715) ष्लिहण् स्नेहने ।
149 (1716) म्रक्षण् म्लेच्छने ।
150 (1717) भक्षण् अदने ।
151 (1718) पक्षण् परिग्रहे ।

इतोऽर्थविशेषे आ लक्षिणः ।

152 (1719) लक्षीण् दर्शनाङ्कनयोः ।
153 (1720) ज्ञाण् मारणादिनियोजनेषु ।
154 (1721) च्युण् सहने ।
155 (1722) भूण् अवकल्कने ।
156 (1723) बुक्कण् भषणे ।
157 (1724) रक, 158 (1725) लक ।
159 (1726) रग ।
160 (1727) लगण् आस्वादने ।
161 (1728) लिगुण् चित्रीकरणे ।
162 (1729) चर्चण् अध्ययने ।
163 (1730) अश्वण् विशेषणे ।
164 (1731) मुचण् प्रमोचने ।
165 (1732) अर्जण् प्रतियत्ने ।
166 (1733) भजण् विश्राणने ।
167 (1734) चट
168 (1735) स्फुटण् भेदे ।
169 (1736) घटण् संघाते, हन्त्यर्थाश्च ।
170 (1737) कणण् निमीलने ।
171 (1738) यतण् निकारोपस्कारयोः,
निरश्च प्रतिदाने ।

1. संघाते खं1 ।।

172 (1739) शब्दण् उपसर्गाद् भाषाविष्कारयोः ।
173 (1740) षूदण् आस्रवणे ।
174 (1741) आङः क्रन्दण् सातत्ये ।
175 (1742) ष्वदण् आस्वादने, आ स्वदः सकर्मकात् ।
176 (1743) मुदण् संसर्गे ।
177 (1744) शृधण् प्रसहने ।
178 (1745) कृपण् अवकल्पने ।
179 (1746) जभुण् नाशने ।
180 (1747) अमण् रोगे ।
181 (1748) चरण् असंशये ।
182 (1749) पूरण् आप्यायने ।
183 (1750) दलण् विदारणे ।
184 (1751) दिवण् अर्दने ।
185 (1752) पश ।
186 (1753) पषण् बन्धने ।
187 (1754) पुषण् धारणे ।
188 (1755) घुषॄण् विशब्दने, आङः क्रन्द्रे ।
189 (1756) भूष ।
190 (1757) तसुण् अलंकारे ।
191 (1758) जसण् ताडने ।
192 (1759) त्रसण् वारणे ।
193 (1760) वसण् स्नेह-छेदा-ऽवहरणेषु ।
194 (1761) ध्रसण् उत्क्षेपे ।
195 (1762) ग्रसण् ग्रहणे ।
196 (1763) लसण् शिल्पयोगे ।
197 (1764) अर्हण् पूजायाम् ।
198 (1765) मोक्षण् असने ।
199 (1766) लोकृ, 200 (1767) तर्क ।
201 (1768) रघु, 202 (1769) लघु ।
203 (1770) लोचृ, 204 (1771) विछ ।
205 (1772) अजु, 206 (1773) तुजु ।
207 (1774) पिजु, 208 (1775) लजु ।
209 (1776) लुजु, 210 (1777) भजु ।
211 (1778) पट, 212 (1779) पुट ।
213 (1780) लुट, 214 (1781) घट ।
215 (1782) घटु, 216 (1783) वृत ।
217 (1784) पुथ, 218 (1785) नद ।
219 (1786) वृध, 220 (1787) गुप ।
221 (1788) धूप, 222 (1789) कुप ।
223 (1790) चीव, 224 (1791) दशु ।
225 (1792) कुशु, 226 (1793) त्रसु ।
227 (1794) पिसु, 228 (1795) कुसु ।
229 (1796) दसु, 230 (1797) वर्ह ।
231 (1798) वृहु, 232 (1799) वल्ह ।
233 (1800) अहु, 234 (1801) वहु ।
235 (1802) महुण् भासार्थाः ।

॥ परस्मैभाषाः ॥

236 (1803) युणि जुगुप्सायाम् ।
237 (1804) गृणि विज्ञाने ।
238 (1805) वञ्चिण् प्रलम्भने ।
239 (1806) कुटिण् प्रतापने ।
240 (1807) मदिण् तृप्तियोगे ।
241 (1808) विदिण् चेतना-ऽऽख्यान निवासेषु ।

242 (1809) मनिण् स्तम्भे ।
243 (1810) बलि ।
244 (1811) भलिण् आभण्डने ।
245 (1812) दिविण् परिकूजने ।
246 (1813) वृषिण् शक्तिबन्धे ।
247 (1814) कुत्सिण् अवक्षेपे ।
248 (1815) लक्षिण् आलोचने ।
249 (1816) हिष्कि ।
250 (1817) किष्किण् हिंसायाम् ।
251 (1818) निष्किण् परिमाणे ।
252 (1819) तर्जिण् संतर्जने ।
253 (1820) कूटिण् अप्रमादे ।
254 (1821) त्रुटिण् छेदने ।
255 (1822) शटिण् श्लाघायाम् ।
256 (1823) कूणिण् संकोचने ।
257 (1824) तूणिण् पूरणे ।
258 (1825) भ्रूणिण् आशायाम् ।
259 (1826) चितिण् संवेदने ।
260 (1827) वस्ति ।
261 (1828) गन्धिण् अर्दने ।
262 (1829) डपि, 263 (1830) डिपि ।
264 (1831) डम्पि, 265 (1832) डिम्पि ।
266 (1833) डम्भि ।
267 (1834) डिम्भिण् संघाते ।
268 (1835) स्यमिण् वितर्के ।
269 (1836) शमिण् आलोचने ।
270 (1837) कुस्मिण् कुस्मयने ।
271 (1838) गूरिण् उद्यमे ।
272 (1839) तन्त्रिण् कुटुम्बधारणे ।
273 (1840) मन्त्रिण् गुप्तभाषणे ।
274 (1841) ललिण् ईप्सायाम् ।
275 (1842) स्पशिण् ग्रहण-श्लेषणयोः ।
276 (1843) दंशिण् दशने ।
277 (1844) दंसिण् दर्शने च ।
278 (1845) भर्त्सिण् संतर्जने ।
279 (1846) यक्षिण् पूजायाम् ।

॥ आत्मनेभाषाः ॥

इतोऽदन्ताः ॥

280 (1847) अङ्कण् लक्षणे ।
281 (1848) ब्लेष्कण् दर्शने ।
282 (1849) सुख ।
283 (1850) दुःखण् तत्क्रियायाम् ।
284 (1851) अङ्गण् पद-लक्षणयोः ।
285 (1852) अघण् पापकरणे ।
286 (1853) रचण् प्रतियत्ने ।
287 (1854) सूचण् पैशून्ये ।
288 (1855) भाजण् पृथक्कर्मणि ।
289 (1856) सभाजण् प्रीति-सेवनयोः ।
290 (1857) लज ।
291 (1858) लजुण् प्रकाशने ।
292 (1859) कूटण् दाहे ।
293 (1860) पट, 294 (1861) वटण् ग्रन्थे ।
295 (1862) खेटण् भक्षणे ।
296 (1863) खोटण् क्षेपे ।
297 (1864) पुटण् संसर्गे ।
298 (1865) वटुण् विभाजने ।
299 (1866) शठ ।

300 (1867) श्वठण् सम्यग्भाषणे ।
301 (1868) दण्डण् दण्डनिपातने ।
302 (1869) व्रणण् गात्रविचूर्णने ।
303 (1870) वर्णण् वर्णक्रिया-विस्तार-गुणवचनेषु ।
304 (1871) पर्णण् हरितभावे ।
305 (1872) कर्णण् भेदे ।
306 (1873) तूणण् संकोचने ।
307 (1874) गणण् सङ्ख्याने ।
308 (1875) कुण, 309 (1876) गुण ।
310 (1877) केतण् आमन्त्रणे ।
311 (1878) पतण् गतौ वा ।
312 (1879) वातण् गति-सुखसेवनयोः ।
313 (1880) कथण् वाक्यप्रबन्धे ।
314 (1881) श्रथण् दौर्बल्ये ।
315 (1882) छेदण् द्वैधीकरणे ।
316 (1883) गदण् गर्जे ।
317 (1884) अन्धण् दृष्ट्युपसंहारे ।
318 (1885) स्तनण् गर्जे ।
319 (1886) ध्वनण् शब्दे ।
320 (1887) स्तेनण् चौर्ये ।
321 (1888) ऊनण् परिहाणे ।
322 (1889) कृपण् दौर्बल्ये ।
323 (1890) रूपण् रूपक्रियायाम् ।
324 (1891) क्षप, 325 (1892) लाभण् प्रेरणे ।
326 (1893) भामण् क्रोधे ।
327 (1894) गोमण् उपलेपने ।
328 (1895) सामण् सान्त्वने ।
329 (1896) श्रामण् आमन्त्रणे ।
330 (1897) स्तोमण् श्लाघायाम् ।
331 (1898) व्ययण् वित्तसमुत्सर्गे ।
332 (1899) सूत्रण् विमोचने ।
333 (1900) मूत्रण् प्रस्रवणे ।
334 (1901) पार ।
335 (1902) तीरण् कर्मसमाप्तौ ।
336 (1903) कत्र ।
337 (1904) गात्रण् शैथिल्ये ।
338 (1905) चित्रण् चित्रक्रियाकदाचिद्दृष्ट्योः ।
339 (1906) छिद्रण् भेदे ।
340 (1907) मिश्रण् संपर्चने ।
341 (1908) वरण् ईप्सायाम् ।
342 (1909) स्वरण् आक्षेपे ।
343 (1910) शारण् दौर्बल्ये ।
344 (1911) कुमारण् क्रीडायाम् ।
345 (1912) कलण् संख्यान-गत्योः ।
346 (1913) शीलण् उपधारणे ।
347 (1914) वेल ।
348 (1915) कालण् उपदेशे ।
349 (1916) पल्यूलण् लवन-पवनयोः ।
350 (1917) अंशण् समाघाते ।
351 (1918) पषण् अनुपसर्गः ।
352 (1919) गवेषण् मार्गणे ।
353 (1920) मृषण् क्षान्तौ ।
354 (1921) रसण् आस्वादन स्नेहनयोः ।
355 (1922) वासण् उपसेवायाम् ।
356 (1923) निवासण् आच्छादने ।
357 (1924) चहण् कल्कने ।

358 (1925) महण् पूजायाम् ।
359 (1926) रहण् त्यागे ।
360 (1927) रहुण् गतौ ।
361 (1928) स्पृहण् ईप्सायाम् ।
362 (1929) रूक्षण् पारुष्ये ।

// परस्मैभाषाः //

363 (1930) मृगणि अन्वेषणे ।
364 (1931) अर्थणि उपयाचने ।
365 (1932) पदणि गतौ ।
366 (1933) संग्रामणि युद्धे ।
367 (1934) शूर ।
368 (1935) वीरणि विक्रान्तौ ।
369 (1936) सत्रणि सन्दानक्रियायाम् ।
370 (1937) स्थूलणि परिवृंहणे ।
371 (1938) गर्वणि माने ।
372 (1939) गृहणि ग्रहणे ।
373 (1940) कुहणि विस्मापने ।

// आत्मनेभाषाः //

374 (1941) युजण् संपर्चने ।
375 (1942) लीण् द्रवीकरणे ।
376 (1943) मीण् मतौ ।
377 (1944) प्रीगण् तर्पणे ।
378 (1945) धूगण् कम्पने ।
379 (1946) वृगण् आवरणे ।
380 (1947) जॄण् वयोहानौ ।
381 (1948) चीक ।
382 (1949) शीकण् आमर्षणे ।
383 (1950) मार्गण् अन्वेषणे ।
384 (1951) पृचण् संपर्चने ।
385 (1952) रिचण् वियोजने च ।
386 (1953) वचण् भाषणे ।
387 (1954) अर्चिण् पूजायाम् ।
388 (1955) वृजैण् वर्जने ।
389 (1956) मृजौण् शौचा-ऽलङ्कारयोः ।
390 (1957) कठुण् शोके ।
391 (1958) श्रन्थ ।
392 (1959) ग्रन्थण् सन्दर्भे ।
393 (1960) क्रथ ।
394 (1961) अर्दिण् हिंसायाम् ।
395 (1962) श्रथण् बन्धने च ।
396 (1963) वदिण् भाषणे[1] ।
397 (1964) छदण् अपवारणे ।
398 (1965) आङः सदण् गतौ ।
399 (1966) छृदण् संदीपने ।
400 (1967) शुन्धिण् शुद्धौ ।
401 (1968) तनूण् श्रद्धाघाते,
उपसर्गाद् दैर्घ्ये ।
402 (1969) मानण् पूजायाम् ।
403 (1970) तपिण् दाहे ।
404 (1971) तृपण् पृणने ।
405 (1972) आप्लृण् लम्भने ।
406 (1973) दृभैण् भये ।
407 (1974) ईरण् क्षेपे ।
408 (1975) मृषिण् तितिक्षायाम् ।

1. ``संदेशने इत्यन्ये'' इति हैमधातुपारायणे पृ० 354 ॥

409 (1976) शिषण् असर्वोपयोगे, विपूर्वो अतिशये ।
410 (1977) जुषण् परितर्कणे ।
411 (1978) धृषण् प्रसहने ।
412 (1979) हिसुण् हिंसायाम् ।
413 (1980) गर्हण् विनिन्दने ।
414 (1981) षहण् मर्षणे ।

// परस्मैभाषाः //

बहुलमेतन्निदर्शनम् //

// इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रानुस्मृताश्चुरादयो णितो धातवः स[1]माप्ताः //

श्री हेमचन्द्रसूरिप्रणीते धातुपाठेऽपठिता धातवः

(क्ल[2]विप्रभृतयो लौकिका धातवः)

1 (1982) क्लवि विच्छायीभवने ।
2 (1983) क्षीङ्च् क्षये ।
3 (1984) मृगच् अन्वेषणे ।

(स्तम्भूप्रभृतयः सौत्रा धातवः)

4 (1985) स्तम्भू, 5 (1986) स्तुम्भू ।
6 (1986) स्कम्भू ।
7 (1988) स्कुम्भू रोधनार्थाः ।
8 (1989) कगे ।
क्रियासामान्यार्थोऽयमित्येके ।
अनेकार्थोऽयमित्यन्ये । (सौत्रः) ।
9 (1990) जुं गतौ । (सौत्रः) ।
10 (1991) कण्डूग् गात्रविघर्षणे ।
11 (1992) महीङ् वृद्धौ पूजायाश्च ।
12 (1993) हृणीङ् रोष-लज्जयोः ।
13 (1994) वेङ् धौर्त्ये पूर्वभावे स्वप्ने च ।
14 (1995) लाङ् वेङ्वत् ।
15 (1996) मन्तु रोष-वैमनस्ययोः ।
16 (1997) वल्गु माधुर्य-पूजयोः ।
17 (1998) असु मानसोपतापे ।
(अत्र असू असूग् इत्येके ।
अन्ये तु असूङ् दोषाविष्कृतौ रोगे चेत्याहुः)
18 (1999) वेट् ।
19 (2000) लाट् वेङ्वत् ।
(लाट् जीवने इत्येके । वेट् लाट् इत्यन्ये ।)
20 (2001) लिट् अल्पार्थे कुत्सायाश्च ।
21 (2002) लोट् दीप्तौ ।
(लेट् लोट् धौर्त्ये पूर्वभावे स्वप्ने चेत्येके ।
लेला दीप्ताविति केचित् ।)
22 (2003) उरस् ऐश्वर्ये ।
23 (2004) उषस् प्रभातीभावे ।
24 (2005) इरस् । ईर्ष्यायाम्
(इरज् इरग् इत्यपि केचित्)
25 (2006) तिरस् अन्तर्द्धौ ।
26 (2007) इयस्, 27 (2008) इमस् ।
28 (2009) पयस् ।
29 (2010) अस् प्रसृतौ ।
30 (2011) सम्भूयस् प्रभूतभावे ।

1. संवत् 1292 ज्येष्ठ सुदि 1 लिखितम् खं2 ।। 2. इत आरभ्य 69 (2050) चुलुम्प विनाशे । इतिपर्यन्ता धातवः पं. श्री दक्षविजयगणिसम्पादितलघुवृत्तेः प्रथमपरिशिष्टादत्रोद्धृताः ।।

31 (2012) दुवस् परिताप-परिचरणयोः ।
32 (2013) दुरज् ।
33 (2014) भिषज् चिकित्सायाम् ।
34 (2015) भिष्णुक् उपसेवायाम् ।
(भिष्णज् उपसेवायामित्येके)
35 (2016) रेखा श्लाघा-सादनयोः ।
36 (2017) लेखा विलास-स्खलनयोः ।
(अदन्तोऽयमित्यपरे ।)
37 (2018) एला, 38 (2019) वेला ।
39 (2020) केला ।
40 (2021) खेला विलासे । (इला इत्यन्ये। खल इत्येके ।)
41 (2022) गोधा ।
42 (2023) मेधा आशुग्रहणे ।
43 (2024) मगध परिवेष्टने ।
(नीचदास्ये इत्यन्ये ।)
44 (2025) इरध ।
45 (2026) इषुध शरधारणे ।
46 (2027) कुषुभ क्षेपे ।
(श्री हैमशब्दानुशासने कुषुम्भ इति, क्रियारत्नसमुच्चये च कुरुरु क्षेपे इति पाठः)
47 (2028) सुख ।
48 (2029) दुःख तत्क्रियायाम् ।
49 (2030) अगद निरोगत्वे ।
50 (2031) गद्गद वाक्स्खलने ।
51 (2032) तरण, 52 (2033) वरण गतौ ।
53 (2034) उरण ।
54 (2035) तुरण त्वरायाम् ।
55 (2036) पुरण गतौ ।
56 (2037) भुरण धारण-पोषण-युद्धेषु ।
57 (2038) चुरण मति-चौर्ययोः ।

(हैमशब्दानुशासने-वुरण इति)

58 (2039) भरण प्रसिद्धार्थः ।
59 (2040) तपुस ।
60 (2041) तम्पस् दुःखार्थः । (तन्तस पम्पस इत्यन्यत्र)
61 (2042) अरर आराकर्मणि ।
62 (2043) सपर पूजायाम् ।
63 (2044) समर युद्धे ।

॥ इति कण्ड्वादयः ॥

64 (2045) अन्दोलण् ।
65 (2046) प्रेङ्खोलण् अन्दोलने ।
66 (2047) वीजण् वीजने ।

(एते त्रयोऽप्यदन्ताः) ।

67 (2048) रिखिर्लिखेः समानार्थः ।
68 (2049) लुल कम्पने ।
69 (2050) चुलुम्प विनाशे ।

(मुनिराजश्री **मुनिचन्द्र** विजय सम्पादित **धातुपारायणस्य** परिशिष्टेषु संगृहीताः कण्ड्वादिधातवः ॥)

1. कण्डूग् गात्रविनामे, कण्डूयति । 2. महीङ् वृद्ध्यर्चयोः, महीयते । 3. हृणीङ् रोषे, हृणीयते । 4. मन्तु रोषे वैमनस्ये च, मन्तूयति । 5. असु मानसोपतापे, असूयति । 6. वल्गु माधुर्यपूजयोः वल्गूयति । 7-8-9-10. वेङ् लाङ् वेट् लाट् धौर्त्ये अस्वप्ने पूर्वभावे च, वेयते, लायते, वेट्यति, लाट्यति । 11. लिट् अल्पार्थकुत्सयोः लिट्यति । 12. लोट् दीप्तौ, लोट्यति । 13-14. इरज इरस ईर्ष्यायाम्, इरज्यति इरस्यति । 15. भिष्णज् उपसेवायाम्, भिष्णज्यति । 16. भिषज् चिकित्सायाम्, भिषज्यति । 17. उरस ऐश्वर्ये, उरस्यति । 18. नन्द समृद्धौ, नन्द्यति । 19. कुषुभ क्षेपे, कुषुभ्यति । 20. संभूयस प्रभूतार्थे, संभूयस्यति । 21-22. इयस इसस ईर्ष्यायाम्, इयस्यति, इसस्यति । 23. पुष्प सन्तोषे, पुष्पति । 24. उषस प्रभातार्थे, उषस्यति । 25. रेषा चित्रे, रेषायति । 26. पयस् प्रसवे, पयस्यति । 27. वेला समयार्थे, वेलायति । 28. चरण गतौ, चरण्यति । 29. अगद औषधे, अग-द्यति । 30-31. तिरस तरण प्रसिद्धौ, तिरस्यति, तरण्यति । 32. टुवस परिताप-परिचरणयोः, टुवस्यति । 33. कुसुभ क्षेपे, कुसुभ्यति । 34-35-36. एला केला खेला विलासार्थे, एलायति केलायति खेलायति । 37. मेधा आशुग्रहणे, मेधायति । 38. मगध परिवेष्टने, मगध्यति । 39. समर युद्धे, समर्यति । 40. सुख सुखीभवने, सुख्यति । 41. दुःख दुखीभ वने, दुःख्यति । 42-43. भुरण पुरण गतौ, भुरण्यति पुरण्यति । 44. भरण धारण-पोषण-युद्धेषु, भरण्यति । 45. चुरण चौर्यचेतनयोः, चुरण्यति । 46. इषध शरधारणे, इषध्यति । 47-48.तन्तस पम्पस दुःखार्थौ, तन्तस्यति, पम्पस्यति । 49. गद्गद वाक्यस्खलने, गद्गद्यते । 50. तुरण त्वरायाम्, तुरण्यति । 51. सपर पूजायाम्, सपर्यति ॥

सौत्रा धातवः ॥

1. स्तम्भू स्तम्भे । स्तभ्नाति, स्तभ्नोति । (``स्तम्भू०'' 3/4/78 सूत्रे दर्शितः) ॥

2. तन्द्रा आलस्ये । तन्द्राति । (``शीङ्श्रद्धा०'' 5/2/37 सूत्रे दर्शितः) ॥

3. कि ज्ञाने । कयति (``जनिपणि०'' उ०[1] 140 सूत्रे दर्शितः) ॥

4. पति पतने । पतयति । (``शीङ्श्रद्धा०'' 5/2/37 सूत्रे दर्शितः) ॥

5. गृही ग्रहणे । गृहयति । (``शीङ्श्रद्धा०'' 5/2/37 सूत्रे दर्शितः) ॥

6. चिरिट् हिंसायाम् । चिरिणोति । (``चिरेरीटो भ् च'' उ० 149 सूत्रे दर्शितः) ॥

---

1. उ० = उणादि ॥

7. जुं वेगे । जवति (``जनिपणि०'' उ० 140 सूत्रे दर्शित:) ।।

8. क्रुङ् गतौ । क्रवते ।।

9. भूङ् प्राप्तौ । भावयते, भवते । (``भूङ: प्राप्तौ णिङ्'' 3/4/11 सूत्रे दर्शित:) ।।

10. तर्क विचारे । तर्कति ।

11. कक्क 12. कर्क हासे । कर्कति । (``कर्केरारु:'' उ० 813 सूत्रे दर्शित:) ।।

13. सिक सेवने । सेकति ।। (``पृषिरञ्जि-सिकि०'' उ० 208 सूत्रे दर्शित:) ।।

14. मर्क संप्रच्छने । मर्कति । (``दिव्यविषू०'' उ० 142 सूत्रे दर्शित:) ।।

15. चङ्कि भ्रमणे । चङ्कते । (``वाश्यसि०'' उ० 423 सूत्रे दर्शित:) ।।

16. मकि गतौ । मकते । (``ककिमकि०'' उ० 245 सूत्रे दर्शित:) ।।

17. रिखि लिखेस्तुल्यार्थे रेखति ।।

18. कगे मिथ: संप्रहारे । कगति । (``कगे-वनू०'' 4/2/25 सूत्रे दर्शित:) ।।

19. अर्घ मूल्ये । अर्घति ।।

20. मर्चण् शब्दे । मर्चयति । (``भीण्-शलि०'' उ० 21 सूत्रे दर्शित:) ।।

21. मञ्ज सौन्दर्ये च । चकारात् शब्दे, मञ्जति । (``ऋच्छिचटि०'' उ० 397 सूत्रे दर्शित:) ।।

22. पञ्ज रोधे । पञ्जति । (``ऋच्छिचटि०'' उ० 397 सूत्रे दर्शित:) ।।

23. कञ्ज शब्दे । कञ्जति । (``अग्यङि०'' उ० 405 सूत्रे दर्शित:) ।।

24. रण्ट प्राणहरणे । रण्टति । (``कोरुरुण्टि-रण्टिभ्य:'' उ० 28 सूत्रे दर्शित:) ।।

25. घटु शब्दे । घण्टति ।।

26. मट ह्रासे । मटति । (``कॄपॄकटि०'' उ० 589 सूत्रे दर्शित:) ।।

27. कुठ छेदने । कोठति । (``तुषिकुठिभ्यां कित्'' उ० 407 सूत्रे दर्शित:) ।।

28. क्रुड शब्दे । क्रोडति ।

29. उड संघाते । ओडति । (``उडेरुपक्'' उ० 311 सूत्रे दर्शित:) ।।

30. वड आग्रहणे । वडति (``कॄशॄ०'' उ० 329 सूत्रे दर्शित:) ।।

31. णडण् भ्रंशे । नडति । (``नडेर्णित्'' उ० 712 सूत्रे दर्शित:) ।।

32. किणत् शब्दगत्यो: । किणति । (``पिघृषी०'' उ० 511 सूत्रे दर्शित:) ।।

33. कुत गुम्फप्रीत्यो: । कोतति । (``भुजि-कुति०'' उ० 305 सूत्रे दर्शित:) ।।

34. पुत गतौ । पोतति । (``कुतिपुति०'' उ० 76 सूत्रे दर्शित:) ।.

35. लत आदाने । लतति । (``कुतिपुति०'' उ० 76 सूत्रे दर्शित:) ।।

36. सात सुखे । सातति । (``साहिसाति०'' 5/1/59 सूत्रे दर्शित:) ।।

37. कथ वाक्यप्रबन्धे ।

38. उद आघाते । ओदति । (``कुटिकुलि०'' उ० 123 सूत्रे दर्शित:) ।।

39. क्षद हिंसासंवरणयो: । क्षदति । (``हुया-मा०'' उ० 451 सूत्रे दर्शित:) ।।

40. सुन्द हिंसासौन्दर्ययोः । क्षदति । (``ऋच्छिचटि०'' उ० 397 सूत्रे दर्शितः) ॥

41. कदि वैक्लव्यछेदनयोः । कदते । (``कदेर्णिद् वा'' उ० 322 सूत्रे दर्शितः) ॥

42. मिधृग् मेधाहिंसासंगमेषु । मेधति, मेधते ॥

43. धनक् धान्ये । दधन्ति । (``भृमृ०'' उ० 716 सूत्रे दर्शितः) ॥

44. रिप कुत्सायाम् । रेपति ॥

45. कप कम्पने । कम्पति । (``कटिपटि०'' उ० 493 सूत्रे दर्शितः) ॥

46. क्षुप ह्रासे । क्षोपति ॥

47. टुप संरम्भे । टोपति ॥

48. बिम्ब दीप्तौ । बिम्बति ॥

49. रिभि 50. स्तुम्भू 51. स्कम्भू स्तम्भे । विरेभते, स्तुभ्नाति, स्तुभ्नोति, विष्कभ्नाति, विस्कभ्नोति ॥

52. स्कुम्भू विसारणे च । विष्कभ्नाति, विस्कभ्नोति । (``स्तम्भू०'' 3/4/78 सूत्रे दर्शितः) ॥

53. दभ वञ्चने । दभति ॥

54. डिम हिंसायाम् । डेमति । (``डिमेः कित्'' उ० 356 सूत्रे दर्शितः) ॥

55. धम शब्दे । धमति । (``सदिवृति०'' उ० 680 सूत्रे दर्शितः) ॥

56. पीय पाने । पीयति । (``खलिफलि०'' उ० 560 सूत्रे दर्शितः) ॥

57. उर गतौ । ओरति । (``उरेरशक्'' उ० 531 सूत्रे दर्शितः) ॥

58. तुर त्वरणे । तोरति ॥

59. तन्द्रि सादमोहयोः । तन्द्रते । (``तॄस्तॄ०'' उ० 711 सूत्रे दर्शितः) ॥

60. चुल परिवेष्टने ॥

61. उल दाहे (``उलेः०'' उ० 828 सूत्रे दर्शितः) ॥

62. लुल कम्पने । लुल्यते । (``कुलिलुलि०'' उ० 372 सूत्रे दर्शितः) ॥

63. सल्ल गतौ । (``दॄकॄ०'' उ० 27 सूत्रे दर्शितः) ॥

64. हल्ल घूर्णने ॥

65. भिलण् भेदे । भेलयति । (``विलिभिलि०'' उ० 340 सूत्रे दर्शितः) ॥

66. धन्व 67. तव गतौ । धन्वति । तवति । (``उक्षितक्षि०'' उ० 900 सूत्रे ``तवेर्वा'' उ० 550 सूत्रे च दर्शितौ) ॥

68. पशी, 69. स्पशी बाधनग्रथनयोश्च । ``स्मृदृ०'' 4/1/65 सूत्रे दर्शितः) ॥

70. ऋशत् भतिस्तुत्योः । ऋशति । (``ऋशिजनि०'' उ० 361 सूत्रे दर्शितः) ॥

71. भिष भये । भेषति । (``भेषेः०'' उ० 131 सूत्रे दर्शितः) ॥

72. युषी सेवने । योषति । (``युष्यसि०'' उ० 899 सूत्रे दर्शितः) ॥

73. लुस हिंसायाम् । लोसति । (``ऋषिवृषि०'' उ० 331 सूत्रे दर्शितः) ॥

74. पसी गतिबन्धननिवासेषु । पसते । (``मृशीपसी०'' उ० 360 सूत्रे दर्शितः) ॥

75. भसक् भर्त्सनदीप्त्योः । बभस्ति । (``हुयामा०'' उ० 451 सूत्रे दर्शितः) ॥

76. लुहं हिंसामोहयो: । लोहति ।।

77. रिहं हिंसाकत्थनादौ ।।

78. चुक्ष शौचे । चुक्षति ।।

79. चिक्षि विद्योपादाने । चिक्षते ।।

लौकिक-वाक्यकरणीय-आगमिका धातवः ।

लौकिका धातवः ।।

1. क्लवि वैक्लव्ये ।।

2. वीजण् व्यजने । (राजहंसैरवीज्यत इति प्रयोगानुसारेण) ।।

3. हीलण् निन्दायाम् ।।

4. आन्दोलण् 5. हिन्दोलण् ।

6. प्रङ्खोलण् दोलने । (चलितं कंपितं धूतं वेल्लितान्दोलितेऽपि इति अभिधानचि० 6/117 प्रयोगानुसारेण) ।।

7. रुषण् रूक्षणव्याप्त्योः । (करीव सोन्तर्गिरि रेणुरुषितः इति प्रयोगानुसारेण) ।।

वाक्यकरणीयाः धातवः ।।

1. चुलुम्प छेदने । चुलुम्पति ।।

2. कुच उद्भेदने । कुचति ।। (कुश्चिकायां तु कूचिका)

3. धटण् बन्धने । निर्धाटयति ।।

4. अवधीरण् अवज्ञायाम् । (``तन्न धर्ममवधीरय धीर)

5. उद्धुषत् 6. उल्लकसत् उच्छ्वसने । उद्धुषति, उच्छ्वसति । (रोमोद्गम उद्धुषणमुल्लकसनमित्यपि *अभिधानचि.* 2/220) ।।

आगमिका धातवः ।।

1. दट्ट आच्छादने ।

2. विकुर्व विक्रियायाम् ।

3. कुर्व करणे ।

4. उषण् निवासे ।

5. युहं उद्धरणे ।

नोट

नोट

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आ. श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 259 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-1)	210/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-2)	220/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-3)	125/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-4)	135/-
5.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	400/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-
8.	विवेकी बनो	90/-
9.	प्रवचन-वर्षा	60/-
10.	आओ श्रावक बनें !	25/-
11.	व्यसन-मुक्ति	100/-
12.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-
13.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-
14.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-
15.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-
16.	समाधि मृत्यु	80/-
17.	Pearls of Preaching	60/-
18.	New Message for a New Day	600/-
19.	Panch Pratikraman Sootra	100/-
20.	अमृत रस का प्याला	300/-
21.	ध्यान साधना	40/-
22.	जीव विचार विवेचन	100/-
23.	नवतत्त्व विवेचन	110/-
24.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-
25.	लघु संग्रहणी	140/-
26.	तीन भाष्य	150/-
27.	पहला कर्मग्रन्थ	160/-
28.	दूसरा कर्मग्रन्थ	55/-
29.	तीसरा कर्मग्रन्थ	90/-
30.	चौथा कर्मग्रन्थ	140/-
31.	पाँचवाँ कर्मग्रन्थ	160/-
32.	छठा-कर्मग्रन्थ	210/-
33.	गणधर-संवाद	80/-
34.	आओ ! उपधान पौषध करें !	130/-
35.	विविध देववंदन	100/-
36.	भव आलोचना	10/-
37.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
38.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
39.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
40.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
41.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
42.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
43.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
44.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
45.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
46.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
47.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
48.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
49.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
50.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
51.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
52.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
53.	मन के जीते जीत है	80/-
54.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
55.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
56.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
57.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
58.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
59.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
60.	वैराग्य-शतक	140/-
61.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
62.	धर्म-बीज	140/-
63.	45 आगम परिचय	200/-
64.	नित्य देववंदन	निशुल्क
65.	श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी	170/-
66.	अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर	160/-
67.	कोयंबत्तुर-प्रवचन	150/-
68.	दक्षिण भारत प्रवचन	160/-
69.	महावीर-प्रभु की अंतिम देशना	220/-
70.	योग की आठ दृष्टियाँ	430/-
71.	साचा माणस बनीए ! (गुजराती)	300/-
72.	शुभ-संदेश	250/-
73.	भक्ति से मुक्ति	200/-
74.	सहनशील बनों (22 परीषह)	180/-
75.	नवपद आराधना विधि	नवपद आराधना
76.	शत्रुंजय की भाव यात्रा	230/-
77.	नवकार-प्रवचन	180/-
78.	10 श्रमण-धर्म	250/-
79.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (प्रथमो भाग:)	1170/-
80.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (द्वितीयो भाग:)	1040/-
81.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (तृतीयो भाग:)	900/-
82.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (चतुर्थो भाग:)	1270/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन,
Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे,
डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,कालबादेवी, मुंबई-400 002.
M. 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S
M. 9820530299